

- मनीषा कुस्तश्रेष्ठ • प्रत्यक्षा सिन्हा • जयश्री राय • त्रिपददर्शन
- जयंती रंगनाथन • दिव्य प्रकाश दुबे • कमल कुमार • अंकिता जैन
- विपिन चौधरी • गीतम राजश्रुति • अनुराक्ति • नरेन्द्र सेनी
- सोनी सिंह • त्रिपेका ओम • इरा टाक • रजनी मोरवाल • डॉ. रुपा सिंह
- अनु सिंह चौधरी • दुष्यन्त

कामुकता का उत्सव

प्रणय, वासना और आनन्द की कहानियाँ

सम्पादक

जयंती रंगनाथन



कामुकता का उत्सव

प्रणय, वासना और आनन्द की कहानियाँ

कामुकता का उत्सव प्रणय, वासना और आनन्द की कहानियाँ

सम्पादक
जयंती रंगनाथन



वाणी प्रकाशन



वाणी प्रकाशन

4695, 21 -ए, दरियागंज, नयी दिल्ली 110 002

फ़ोन : +91 11 23273167 फ़ैक्स : +91 11 23275710

शाखाएँ

अशोक राजपथ, पटना 800 004, बिहार

कॉफ़ी हाउस कैम्पस, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद 211 001, उत्तर प्रदेश

महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा 442 001, महाराष्ट्र

सुल्तानिया रोड, मोतिया पार्क, भोपाल 462 001, मध्य प्रदेश

www.vaniprakashan.com

marketing@vaniprakashan.in

sales@vaniprakashan.in

KAMUKTA KA UTSAV

Edited by Jayanti Rangnathan

ISBN : 978-93-89915-95-2

Collection of Story

© लेखिकाधीन

प्रथम संस्करण 2020

इस पुस्तक के किसी भी अंश को किसी भी माध्यम में प्रयोग करने के लिए प्रकाशक से लिखित अनुमति लेना अनिवार्य है।

वाणी प्रकाशन का लोगो मक़बूल फ़िदा हुसेन की कूची से

भूमिका

आज पच्चीस साल पुराना एक वाक्या याद आ रहा है। मुम्बई से अपने कुछ दोस्तों के साथ एक टीवी सीरियल की शूटिंग के लिए खजुराहो गयी थी। बहुत सुना था, देख पहली बार रही थी।

मन्दिर की दीवारों पर उकेरी गयी कला को देख कभी आश्चर्यचकित होते तो कभी दाँतों तले उँगली दबाते समय अचानक मेरा ध्यान गया था उस दढ़ियल फिरंगी पर। वहाँ खड़ा वह खुद भी मन्दिर का ही एक अंश लग रहा था।

लम्बी दाढ़ी, पीली पड़ चुकी सफ़ेद क़मीज़, खाक़ी बरमुडा, नंगे पैर, आँखों में भारी चश्मा लगाये वो फिरंगी बड़ी तन्मयता से पत्थरों पर सजी प्रणयगाथा को कागज़ पर उकेर रहा था। जो बात मुझे दीवार पर समझ नहीं आ रही थी, उसके चित्रों को देख आ गयी। ओह...जैसे मिनट भर में उसने मैथ का कोई मुश्किल सवाल हल कर मेरे सामने रख दिया।

दोपहर ढल चुकी थी। उसके स्केच निश्चित ही प्रभावी थे। पत्थर की शिला पर सजी कन्या उसके पेंसिल के स्ट्रोक से जैसे सजीव हो उठी थी। उन्नत वक्ष वाली उस कन्या के चेहरे पर अद्भुत हँसी थी। उसके वक्ष पर जिस पुरुष का हाथ था, वह दूसरी तरफ़ एक कन्या पर झुककर उसके अंगों को चूम रहा था। उदात्त प्रणय के लेनदेन की इस क्रीड़ा में जैसे समूचा समाज आनन्दमग्न हो रहा था।

जैसे ही हम उस मन्दिर के सामने से हटे, देर तक मेरे दिमाग़ में दो बातें कौंधती रहीं। कन्या के चेहरे पर वो दिव्य हँसी और फिरंगी की आँखों में वो सतरंगी चमक।

मुम्बई लौटने के बाद अपनी कुछ महिला मित्रों को यह घटना बताते हुए, यह बताने की कोशिश की कि हम किसी वक़्त पर कितने सम्पन्न हुआ करते थे, धन से, मन से और तन से भी।

खजुराहो के नाम से सब फुसफुसाहटों में बात करने लगते हैं। ऐसा क्या देख लिया, नया क्या खोज लिया, तरह-तरह की बातें भी सामने आयीं। पर जिससे भी मैंने कहा कि सेक्स से सम्बन्धित तमाम सोच को हम हमेशा एक गहरी काली अलमारी में बन्द रखते हैं, वहाँ सूरज की तेज़ रोशनी में सबके सामने वो लड़की सेक्स से शरमा नहीं रही थी, आनन्द में थी...वो इस सूत्र को पकड़ नहीं पाया। लब्बोलुबाब यही कि हमारे यहाँ प्रणय, सेक्स

और कामोत्तेजना की बातें खुलकर नहीं की जातीं। खासकर उस समय अपने परिवार और दोस्तों के जमघट में सेक्स पर बात करना सहज नहीं था।

उसी दौरान मेरा साबका एक ऐसे वर्ग से हुआ, जिसने मेरे सोचने की धारा को काफ़ी हद तक बदल दिया। मैं धर्मयुग छोड़कर सोनी टीवी में काम करने लगी। वहाँ पहली बार मैंने अपने साथ काम करने वालों को सेक्स पर खुलकर और आनन्द लेकर बोलते हुए सुना। हमारे साथ काम करने वाली रश्मि ऑफ़िस देर से आयी, बॉस ने सवाल किया, तो सपाट आवाज़ में कहा, 'आइ वॉज फीलिंग हॉर्नी इन द मॉर्निंग...'

साथ का एक पुरुष कलीग लगभग रोज़ ही सिंगल नॉट रेडी टु मिंगल बालिकाओं को सेक्स के फ़ायदे गिनाने से नहीं चूकता। अपनी यौवनता का खुलकर प्रदर्शन करती युवतियाँ मेरे लिए एक चुनौती की तरह थीं। वे वीकएंड पर अपने साथी (स्त्री-पुरुष दोनों) के साथ ब्लू फ़िल्म मज़े लेकर देखतीं। उस पर बहस भी करतीं और अपने पार्टनर से अपनी फेवरेट पोज़ीशन के बारे में भी खुलकर बातें करतीं। ये दुनिया मेरे लिए नयी थी। मेरी सोच को विस्तार मिल गया।

काली, बन्द अलमारी को सूरज का उजाला और प्रकृति की छाँह मिल गयी। जब आप किसी विषय को एक सामान्य विषय की तरह पढ़ते हैं, देखते हैं, सोचते हैं तो आपका नज़रिया ही बदल जाता है।

स्टेशन पर दस रुपये की बिकने वाली मस्तराम की पुस्तक आज धड़ल्ले से अमेज़ॉन पर भी बिक रही है। सेक्सी भाभी, जलती जवानी, जवाँ होती पड़ोसिन आज भी तकिये के नीचे या फ़ोन के किसी एप में क़ैद हैं। लेकिन यह भी सच है कि काम साहित्य को पढ़ने और सुनने वालों में पिछले पाँच सालों में 43 प्रतिशत का इज़ाफ़ा हुआ है।

क्या हमें इस विषय पर खुलकर बात करने, पढ़ने, सुनने की ज़रूरत है? पिछले कुछ सालों से कुछ बातें मथ रही हैं, इसके बाद आप खुद तय करें कि काम और सेक्स सम्बन्धों को हमें कहाँ तक ले जाना चाहिए?

पैशन, रोमांस, सेक्सुअल सम्बन्ध जब से आदम और हव्वा इस दुनिया में आये हैं, तभी से हैं। समाज का एक वर्ग मानता आया है कि सेक्स वंशवृद्धि और प्रकृति की निरन्तरता को बरकरार रखने के लिए नितान्त निजी क्षणों में की जाने वाली क्रीड़ा है। क्रीड़ा से अधिक शायद काम।

लेकिन इस वर्ग की तुलना में एक ज़्यादा बड़ा वर्ग पैशन और सेक्स को शारीरिक आनन्द से जोड़ता आया है। इस आनन्द को अनुभूत करने के लिए काम साहित्य यानी इस विषय पर कहानी, कविता लिखी जानी लगीं। हज़ारों साल पहले रत्यात्मक कविता लिखी गयी थी, 'इस्ताम्बुल 2461', मेसोपोटामिया में राजा शू सिन ने अपनी दुल्हन को प्रेम और वासना में लिपटी कविता लिखी थी। इस कविता को पहली रत्यात्मक कविता माना जाता है।

जिस समय दुनिया के बाकी देश युद्ध, भुखमरी और असहिष्णुता के घेरे से निकल ही नहीं पा रहे थे, हम हिन्दुस्तानी उदात्त प्रेम और वासना के चरम पर थे।

बात हज़ार साल से भी ज़्यादा पुरानी है। मध्य भारत से लेकर दक्षिण भारत तक के कलाकार प्रेम, वासना, कामना और संसर्ग को पत्थरों पर उकेर रहे थे, मन्दिर की दीवारें सज रही थीं प्रणय और समागम की सजीव मूर्तियों से। ओसियन (राजस्थान), खजुराहो (मध्यप्रदेश), एलोरा (महाराष्ट्र), भौरमदेव (छत्तीसगढ़), विरुपक्षा मन्दिर, हंपी (कर्नाटक), हलेबीडु (कर्नाटक) में आज भी न जाने कितनी गाथाएँ छिन्न-भिन्न हुई पड़ी हैं। उस वक़्त के कला और कौतुकप्रिय राजाओं ने समाज के साथ-साथ अपने कलाकारों को भी यह आज़ादी दी कि वे स्त्री-पुरुष के कामकला का सहजता से वर्णन करें। एक ही प्रांगण में हिन्दू, जैन और बुद्ध धर्म के अनुयायी अपने इष्ट देवों का आह्वान करते थे। समाज की इस व्यवस्था से किसी को भ्रम नहीं था। न ही किसी क्रिस्म का बैर।

साल तो हज़ारों बीत गये, पर सोच हमारी उससे भी कुछ हज़ार साल पीछे चली गयी। यह कल्पना करना मुश्किल है कि ऐसे उन्नत समाज ने कब पीछे की ओर मुड़कर चलना शुरू किया होगा?

आज जब पश्चिम हमारी तरफ़ ताकता है कि क्या इन कामुक शिलाओं और मूर्तिकला के जनक हम ही थे? तो हम खुद पर अचरज भी करते हैं और शर्म भी।

बन्द समाज और कुन्द दिमागों ने सेक्स को गन्दी बात तो बना दिया, पर क्या हम ऐसा मानते हैं? सेक्स को आनन्द कहने से चिढ़ने वाले इस समाज को यौन हिंसा से बेशक परहेज़ नहीं है। इसके लिए वे किसी भी हद तक कुकर्म कर सकते हैं।

यहाँ हम आनन्द की बात कर रहे हैं, इसलिए इसी विषय पर टिके रहते हैं। इस आनन्द पर बात करना, पढ़ना, सुनना और करना अगर ग़लत है, तो प्रकृति के चरित्र पर ही कुछ सवालिया निशान खड़े हो जायेंगे, जिसने पुरुष और स्त्री को सृष्टि की संरचना के लिए बनाया। प्रकृति अपना हर काम आनन्द से करती है। हर मौसम, हर दिन और हर रात में एक प्रवाह है, आनन्द है। प्रकृति का हर जीव नयी संरचना मुग्ध होकर करता है।

मुग्धता कभी ग़लत नहीं हो सकती। इसे इस तरह से समझना ज़रूरी है कि जिस क्रीड़ा से स्त्री और पुरुष निकट आते हैं, दो से एक बनते हैं और आनन्द से विभोर होते हैं, उसमें सही-ग़लत क्या हो सकता है?

इश्क़ और वासना के बीच की दूरी सूत भर है। दोनों ही प्रकृति दत्त है। इन्सान की ज़रूरत भी।

जब तक हम इस विषय पर खुलकर बोलेंगे नहीं, मनपसन्द लिखेंगे नहीं, पढ़ेंगे नहीं, तो अलमारी के बन्द कोनों और बिस्तर में तकिये के नीचे की तलहटी में अँधेरा बढ़ता ही जायेगा।

हिन्दी के चिरपरिचित लेखक-लेखिकाओं से काम साहित्य लिखवाने के पीछे यही सोच थी। यह काम पहले भी हुआ है। पर जिसने भी लिखा है, उसे बेशर्मी से कठघरे में खड़ा कर दिया गया। इस संग्रह के दौरान सबसे बात करते हुए मैंने दो बातें शिद्दत से महसूस कीं, सेक्स पर समाज का एक वर्ग खुलकर बात करने को तैयार है। सेक्स को सेक्स न कहकर स्त्री-पुरुष का प्रणय सम्बन्ध या अन्तरंगता कह लें। पर शब्द मुखर होने लगे हैं। दूसरा, सबकी यही राय है कि जब तक स्तरीय लेखन सामने नहीं आयेगा, इस विषय को पढ़ने वाला वर्ग पटरियों पर से पुस्तकें उठाता रहेगा।

यह भी सच है कि कामुक या रत्यात्मक साहित्य कहना या लिखना आसान नहीं है। पैशन को महसूस करना आसान है, लिखना नहीं। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना कि कलम बहके नहीं, मुश्किल है। पर संग्रह में शामिल सभी रचनाकार इसमें अव्वल साबित हुए।

‘कामुकता का उत्सव’ की परिकल्पना में शुरू से वाणी प्रकाशन की निर्देशक अदिति माहेश्वरी-गोयल मेरे साथ रहीं। हम दोनों लम्बे समय से महसूस कर रहे थे कि हिन्दी के पाठकों के समक्ष ऐसी एक किताब परोसी जानी चाहिए, जो रोशनी की ट्रे में सुलगता हुआ अहसास हो। उत्तेजित करने वाली हो, पर अश्लील नहीं। रंगीनियाँ, पैशन और उत्तेजना से भरपूर हो, पर वल्गार नहीं।

इन कहानियों को पढ़ते समय अपनी सोच को नयी हवा दें। बीच के हज़ार साल जो हमसे छीन लिए गये हैं, उन्हें पाटने में हमें फिर से हज़ार साल नहीं लगाने चाहिए।

-जयंती रंगनाथन

अनुक्रम

एडोनिस का रक्त और लिली के फूल

—मनीषा कुलश्रेष्ठ

अतर

—प्रत्यक्षा सिन्हा

एक रात

—जयश्री रॉय

चाची

—प्रियदर्शन

रोजा पू

—जयंती रंगनाथन

मन की उलझन

—दिव्य प्रकाश दुबे

सखी-सहेली

—कमल कुमार

माया

—अंकिता जैन

साँप

—विपिन चौधरी

अनगिनत परिधियों वाला वृत्त

—गौतम राजऋषि

हंटिंग ज़ोन

—अणुशक्ति

छत, सेक्स और साबुन

—नरेन्द्र सैनी

खेल

—सोनी सिंह

विष्णु ही शिव हैं

—प्रियंका ओम

गोवा का पुराना चर्च, रिज़र्व सीट और एक अकेला दिल

—इरा टाक

नटिनी

—रजनी मोरवाल

आय विल कॉल यू!

—डॉ. रूपा सिंह

प्यार का रंग पानी

—अनु सिंह चौधरी

नवरात्र पूजा

—दुष्यन्त

एडोनिस का रक्त और लिली के फूल

-मनीषा कुलश्रेष्ठ

मेरे दर्द की स्मृतियाँ बनी रहेंगी और तुम्हारी मृत्यु का दृश्य मेरी आँखों में गड़ता रहेगा। मेरे एडोनिस, मेरा यह मातम हर वर्ष हरा हो जायेगा, जब-जब तुम्हारा रक्त फूलों में बदल जायेगा। मुझे अधूरे वरदान की तरह मिली इस सान्त्वना से कोई ईर्ष्या कैसे कर सकता है?...

-वीनस (ग्रीक माइथोलॉजी की पुस्तक 'बुल फिच'स माइथोलॉजी)

“मैं अपने भीतर एक जहाज़ केश होते देख रहा था। बिना तारों की इस रात में जैसे चाँद अकेला छूट गया था। मैं टूटकर रोना चाहता था, मुझे लग रहा है कि तुम मुझे भूल गयी हो, मेरे यूनिट वाले और यह देश मुझे भूल गया है। मैं कैसे तुम्हें बताऊँ कि इस गर्म रात में जंग में घायल 70-80 लोग मेरे आसपास कराह रहे हैं। मैं नहीं जानता कितनों की यह आखिरी रात है। घायल हर कोई है, देह पर ही नहीं, मन पर भी घाव हैं। तुम मुझे फ़ोन क्यों नहीं कर रही हो? कोई पत्र भी नहीं!”

वह वार्ड में अधलेटा अपने कम्पनी कमांडर को वापस वहाँ बुला लेने और अस्पताल के कमांडेंट को रिलीज़ कर वापस युद्ध में शामिल होने देने के लिए खत लिख चुका था, अब आखिरी सीले हुए नीले अन्तर्देशीय पत्र पर प्रेमिका को पत्र लिख रहा था। जंग की औपचारिक शुरुआत से ज़रा पहले, दुश्मन की तरफ़ से हुई बॉमशेलिंग में उसके कन्धे में धातु का एक तीखा टुकड़ा धँस गया था। वह घाव टिटनेस में बदल गया, एक दिन वह बंकर में बेहोश मिला...तेज़ बुखार में।

जिस दिन वह सैन्य अकादमी से पासआउट हुआ, उसी दिन लड़ाई कागज़ों और वार्ताओं की ज़द से निकल गयी थी। उसे अफ़सोस था कि जंग में शामिल होने से केवल सत्रह दिन पहले उसे वहाँ से हटा दिया गया। लड़ाई शुरू हो चुकी थी, सुदूर पश्चिम से चले कॉनवॉय (क्राफ़िले) भी पहुँचने लगे थे। परसों सुबह से जो बुरी ख़बरें आना शुरू हो गयी थीं, वो लगातार जारी रहीं। खिड़की के पार स्ट्रेचर्स पर चीखें भींचते सैनिक रात को भी लगातार लाये जा रहे थे। हर एम्बुलेंस कई-कई जिस्म लाती, अधमरे या रास्ते में मर चुके, कुछ ब्रेनडेड...बस कहने-भर को ज़िन्दा...लाशें लाने वाला ट्रक अलग-थलग खड़ा था,

जहाज़ की प्रतीक्षा में। टिंचर बेंजीन की महक में खून और घावों के सड़ने की गन्ध जा मिली थी। अस्पताल छोटा था, स्टाफ़ सीमित। वो लोग तीन दिन से बिना सोये काम में लगे थे, क्योंकि महज़ चार घण्टे की दूरी पर युद्ध जारी था।

उसके सीने में बेचैनी घर कर गयी। सीना मलते हुए उसने अपनी बन्द मुट्टी पलंग की रॉड पर दे मारी और हताशा में अपने बायें कन्धे को हलका चलाकर देखा फिर चीख दबा ली। घाव को कुरेद कर गहरा कर दिया था। संक्रमित और मृत ऊतक गहरे तक निकाल फेंके थे इसीलिए घाव भरने में वक्रत लग रहा था। एक मोटी पट्टी पूरी पीठ जकड़े थी। उसे कमांडेंट और अपने कमांडर के जवाबों की उत्सुकता थी। कुछ वह खुद को स्वस्थ दर्शाना चाह रहा था, कुछ वह मन से चाहता था कि अस्पताल के काम में कुछ मदद कर सके।

वह बाहर नये आये स्ट्रेचर्स के पास चला आया। उन्हें अस्पताल के कुछ कर्मचारी घेरे थे। कुछ देर वह खिड़की के पार आकाश को ताकता रहा, कौन कहेगा इस नीले शान्त विस्तार को देखकर कि क्षितिज के उस पार युद्ध जारी है! वहाँ टेबल पर पड़ी केस-हिस्ट्री पर नोट डालती हुई एक नर्स खड़ी थी, उसने गरदन झुकाकर उसके सीने पर लगा नेमटैब पढ़ा, तो यही 'मेजर अम्बिका जेम्स' थी। पोस्ट ऑपरेटिव वार्ड की इंचार्ज। 'अम्बिका' उसने मन-ही-मन दोहराया, यह नाम एक सुन्दर, दुबली और साँवली मगर स्निग्ध त्वचा वाली लड़की का ही हो सकता था। वह उसे देख रहा है, यह अम्बिका जानती थी, उसने व्यस्तता में से भी पलक उठाकर उसका देखना देख लिया। उसके देखने से उसकी हिम्मत बढ़ी, वह उठकर उसके पास चला गया और उससे पूछने लगा कि क्या वह कुछ काम बाँट सकता है?

उसने सौजन्यता भरी खीज से कहा, "बस आप अपने बेड पर आराम करें।" बाद का वाक्य उसने फुसफुसाकर कहा था, मगर उसने सुन लिया, "गनीमत है कि तुम अफ़सर हो और तुम्हारे पास बेड है।"

तभी एक बुरी तरह घायल, लगभग खून के कुण्ड में डूबे युवा सिपाही को स्ट्रेचर पर लाया गया, उसके दस्तखत लेने के लिए तैयार केस-हिस्ट्री के कागज़ लिए वह जल्दी-जल्दी ओ.टी. में चली गयी। वह उसे भीतर तक जाते देखता रहा। फिर भीतर आकर टीपॉय (तिपाई) पर रखा एक अख़बार उठा लिया, नये पासआउट रंगरूट सिपाहियों के ट्रेन में लदे, आपस में हँसते-बतियाते, अनजान और अशान्त दिशाओं को ले जाये जाते फ़ोटो छपे थे...

अब उसका सब्र जवाब दे रहा था। उसने अपना पोस्ट ऑपरेटिव लबादा उतार दिया, बगल के बैग में रखा केमोफ़्लेज प्रिंट का, खून सना कॉम्बेट यूनिफ़ॉर्म पहनने लगा। अम्बिका भीतर लौट आयी-

"ये तुम क्या कर रहे हो?"

“कमांडेंट से मिलने जा रहा हूँ।”

“नहीं जा सकते...”

“वे क्यों नहीं समझते कि मैं घर नहीं वापस अपनी यूनिट के पास जाना चाहता हूँ।”

“कमांडेंट यहाँ नहीं हैं, वे बेस हॉस्पिटल में हैं, तुम भी तो नहीं समझ रहे हो, हम तुम्हें बिना डिस्चार्ज ऑर्डर के नहीं छोड़ सकते।”

“मैं कुछ नहीं समझना चाहता।” वह चीख पड़ा, हताशा में उसने फिर अपना हाथ पलंग की रॉड पर दे मारा।

अम्बिका ने घबराकर कॉरीडोर में रखा फ़ोन मिलाया। एक मेजर उसकी कॉल के तुरन्त बाद आ गया, यह एजुटेंट था। युवा लेफ़्टिनेंट ने उसे बावजूद घायल कन्धे के एक दमदार सैल्यूट दिया खड़े होकर। फिर बोला-

“सर, ऐसे समय में मैं बिना बात महज़ एक-डेढ़ इंच का घाव लिए एक पूरा कमरा और बिस्तर घेरे पड़ा रहूँ... जबकि बुरी तरह घायल सैनिकों के लिए जगह की कमी है। मुझे रिलीव करें सर, मैं डिप्लॉयमेंट पर हूँ। मेरी यूनिट फ्रंट पर है, दे ऑल्सो नीड मी।...”

अम्बिका तब तक एक सीनियर डॉक्टर को ले आयी। वह टेम्परेरी ड्यूटी पर आया नया लेफ़्टिनेंट कर्नल रैंक का डॉक्टर, निस्पृह-सा उसके मेडिकल के कागज़ देखता रहा।”

एजुटेंट ने अधीर होकर पूछा, “क्या कहते हैं सर?”

“ये कागज़ तो कहते हैं, इन्फ़ेक्शन इनकी हड्डियों तक फैल चुका था। टेस्ट होना चाहिए।”

“सर अब तो ठीक है, बस ज़रा-सा वुंड है। बेस अस्पताल से रिपोर्ट आने तक दो सप्ताह लग जायेंगे।” अम्बिका उसकी तरफ़ से बोली।

“फिर, सर बेड्स भी बहुत कम हैं।”

“वी विल डिसाइड।”

“जमे खून, पकते घावों और दवाओं की महक मेरी बर्दाश्त के बाहर है, सर। आपने नहीं छोड़ा तो मैं अस्पताल से भाग जाऊँगा।”

“तुम ग़लत करोगे, यूँ अस्पताल से भाग जाना, डेज़र्टर होने जैसा ही है।” एजुटेंट ने घोर निर्लिप्तता से कहा।

“ये आप जानें।”

“एक यूनिट जल्दी ही मूव करेगी। अगर आप जाना चाहते हैं?”

“जल्दी यानी...?”

“तीन दिन के भीतर।

“वाह! क्या मैं इस यूनिट के साथ जा सकता हूँ, तब तक बचा-खुचा ज़ख्म भी भर जायेगा। क्या आप कमांडेंट से बात करेंगे?”

“देखते हैं, करते हैं।”

बाहर आते ही एजुटेंट अम्बिका से बोला, “अम्बिका, इसके पेपर बनवा दो।”

“सर!”

“कमांडेंट का ही सन्देश था कि स्वस्थ हो रहे, कुछ कम ज़ख्मी सैनिकों को वापस ऊपर भेजा जाये। वक्त की ज़रूरत है, जब तक कि नये टूप्स नहीं आ जाते। परसों सुबह यहाँ से भी बहुत से लोग जा रहे हैं। तब तक...मेस में है कोई कमरा?”

“आपको पता ही है, इस छोटे से बेस यूनिट के मेस में बस कितने कमरे हैं, वहाँ सीनियर्स भी दो-दो साथ रह रहे हैं।”

“एक-दो दिन की बात है। कुछ करो, वरना यह इमोशनल फूल पता नहीं क्या कर बैठे।”

“मैं एक टेम्पेरी क्वार्टर में रहती हूँ, वहाँ एक एक्स्ट्रा लॉबी है, क्या वहाँ रह सकोगे? मगर वहाँ कुछ भी सुविधा नहीं है। डाइनिंग टेबल पर सोना होगा।” वह अन्दर आकर उससे बोली।

“तुम्हें दिक्कत न हो तो! यहाँ से निकलकर तो मैं तम्बू में रह लूँगा, या तुम्हारे गैराज या किचन में भी। क्योंकि यहाँ से तो मैं उस ट्रेंच में ज़्यादा सुखी था, जहाँ मैं सोलह घण्टे दर्द में भी ख़्वाब देख पाता था उस प्यारी सूरत के कि लौटते ही उससे शादी करूँगा। या फिर उन लड़कियों की गिनती दुबारा करता जिनके साथ...सो चुका था। अरे! घूर क्या रही हो? हिस्ट्री की क्लास में जिनके साथ सोया था, लेक्चर के वक्त।”

अम्बिका हँस दी। वह उसे देखता रह गया, वह अब तक एक गम्भीर प्रोफ़ेशनल लग रही थी, उसकी हँसी ने उसे सुन्दर लड़की बना दिया था।

“ये एक्स्ट्रा जोश प्यारा है लेफ़्टिनेंट! मगर काम का नहीं है। इसे काम का बनाओ।” अम्बिका ने वही कन्धा थपथपा दिया जिसमें ज़ख्म था, उसने दर्द दबा लिया।

अगले दिन दोपहर उसने अस्पताल छोड़ दिया, वह अम्बिका के घर आ गया था। घर क्या था, एक अस्थायी व्यवस्था थी। पुरानी मेस की बोसीदा इमारत का एक हिस्सा। घुसते ही एक छोटा बरामदा था जिसके एक छोर पर स्लैब था, दूसरे छोर पर बीच में खाने की मेज़ रखी थी, मेज़ पर अण्डे के छिलके और आटा बिखरा था, दरवाज़े की जाली से पीछे दिखते अहाते में गुज़रते मौसम के कुछ फूल उगे थे-सफ़ेद-नीले पिटुनिया। एक तिपाई पर सूखा एक्वेरियम रखा था।

सामान अर्दली ने कोने में रख दिया। वह बरामदे से लगे एकमात्र कमरे में आ गया। कमरा बेतरतीब था, जिसमें बहुत प्रभावी तौर पर एक स्त्री की निजता बसी थी, बिस्तर पर अम्बिका की उतरी हुई नाइटी थी, सीला-सा तौलिया और उसमें लिपटी उसकी ब्रा। वहीं एक कंघा था जिसमें बाल फँसे थे। फ़र्श पर औंधी स्लिपर...वह संकोच से भर गया कि वह सुबह जल्दी में भागी होगी और उसे खयाल तक न होगा कि कोई उसकी निजता में दखल देने भी आ सकता है। उसकी ज़िद से अम्बिका को...दवाओं के असर के चलते वह ज़्यादा

सोच न सका। अम्बिका का सामान उसने खिसकाकर एक तरफ़ कर दिया फिर बिस्तर पर जा लेटा।

दोपहर कब ढली उसे पता न चला, वह नींद में था जब किसी ने खटखटाया। उसने दरवाज़ा खोला एक अजनबी सामने था। वह वर्दी में ज़रूर नहीं था, मगर फ़ौजी ही था।

“कहाँ है वह? और आ...प जनाब?” अजनबी ज़्यादा चौंका।

“वो अस्पताल में हैं,” कहकर लेफ़्टिनेंट ने हाथ बढ़ा दिया।

“लेफ़्टिनेंट वी. अनुज नायर।”

“मेजर तुषार सक्सेना।”

वह साधिकार सीधे बेडरूम में गया और अम्बिका की वार्डरोब खोलकर उसने ताज़ा धुला तौलिया निकाला और बिस्तर और उस पर पड़े सामान पर उचटती नज़र डालकर बाथरूम में चला गया। एक बेरौनक सलेटी शाम थी। पंखे के ब्लेड से टकराकर गर्म हवा कमरे में घूम रही थी। हरी झालर वाले लैम्पशेड से हलकी रोशनी झर रही थी। वह बरामदे में बैठा हुआ एक पुराने रंग उड़े रुबिक क्यूब से खेल रहा था। छह बजते ही मेजर ने पीना शुरू कर दिया। रम का पहला पैग खत्म होने तक वो दोनों चुप के बुलबुलों में बन्द थे। दूसरी बार गिलास भरे गये तो खामोशी टूटी। अनुज ने अपने वहाँ होने की वजह बतायी, मगर मेजर इस विषय पर चुप रहा।

तभी अम्बिका भी अस्पताल से आ गयी उसके हाथ में कुछ ताज़े वायलेट लिलीज़ थे, जो उसने रास्ते में पड़ने वाले जंगल से तोड़े थे।

“तुम! कब आये?” वह सायास मुस्करायी। उसने वायलेट लिलीज़ चुपचाप टेबल पर रख दिये।

“सो, फाइनली आई हैव गॉट द कॉल...” मेजर ने कहा।

“...”

“सोचा तुमसे मिल लूँ फिर...”

“अनुज से मिले? अनुज, ये मेजर सक्सेना। मेरे...”

“हम पिछले यूनिट में एक ही जगह पर साथ पोस्टेड थे। ये स्यूडो वॉर (छद्म युद्ध) नहीं शुरू होती तो हम मंगेतर होते।”

अम्बिका सर हिलाते हुए मुस्कराने लगी। बायीं तरफ़ होंठ ज़्यादा फैले थे। फिर वह अनुज की उपस्थिति की वजह को लेकर कुछ कहती उससे पहले ही वह ‘मुझे पता है’ कहकर उठ गया और अम्बिका के वार्डरोब में से सिगरेट निकालने चला गया। लिलीज़ का गुच्छा मुरझाता रहा टेबल पर।

“अब?” वह कुछ पूछता मेजर को लेकर तब तक वह बाहर आ गया।

“अब क्या, मैंने फ़ैक्स कर तो दिया है, रिलीज़ ऑर्डर तुम्हारा सीनियर ऑफ़िशियल को। परसों दोपहर तुम मूव कर रहे हो। खुदा न खास्ता, वो फ़ैक्स न मिला और तुम पहले

ही कहीं...तो तुम भगोड़े कहलाये जाओगे...तुम्हारा ये जज़्बा बेकार जायेगा न..."

"हह...जज़्बा तो है न। लोग युद्ध से भागने के लिए ऐसा करते हैं। मैंने तो युद्ध में भाग लेने के लिए ऐसा किया। इफ़ यू वांट लाइफ़ ऑफ़ एक्शन, गो फॉर वॉर एंड फॉल इन लव। यूथ इज़ ऑलवेज़ फिट फॉर वॉर एंड फिट फॉर वीनस टू।" वह अम्बिका को देखते हुए, मेजर को सुनाते हुए बोला।

शराब के बिन मापे दूसरे पैग ने उसे और बातूनी बना दिया था। अब मेजर और अम्बिका दोनों उसे सुन रहे थे, अम्बिका महसूस कर रही थी कि वह बहुत से ऐसे शब्द बोल रहा था जो वह पीछे छोड़ आयी थी, लहजा भी वही। मेजर ने अम्बिका के चेहरे पर चोर रास्ते से आयी एक चमक अनायास देख ली, उसने मेजर को अपनी तरफ़ तकते देखा, सिगरेट के बट की तरह उस चमकीली लौ को उसने ऐश ट्रे में मसल दिया और स्लैब की तरफ़ चली गयी। ख़ूबसूरत चेहरे से उसकी प्रेमिका को फ़र्क़ नहीं पड़ता यह वह जानता था, वह जो नहीं जानता था वह यह था कि उसकी प्रेमिका बाक़ी लड़कियों से बहुत अलग है।

"व्हाट वी आर फाइटिंग फॉर? आ'यम ब्लाइंड टू सी, दे टैल मी देयर इज़ एन एनिमी।"

कहते हुए मेजर ने सामने टँगी अपनी जैतूनी हरी वर्दी को उदासीनता से देखा। उस पर टँके मैडल भी, जो उसे कभी यू. एन. मिशन पर जाने के लिए, कभी रेगिस्तान में रहने के लिए, कभी उत्तर-पूर्वी राज्यों के तथा कभी कश्मीर के आतंकवाद से लड़ने के लिए मिले थे...लेफ़्टिनेंट भी देख रहा था, मगर उसके मन में जोश था, उन मैडल्स और कलर्स के लिए ललक थी, वह सोच रहा था कि उसके पास भी जल्दी ही एक होगा।

"तुम्हारा जोश क़ाबिलेतारीफ़ है, मैंन। मगर एक युवक जब युद्ध से लौटता है, तो यूनिट में बहुत कुछ बदल चुका होता है, शहीदों की तस्वीरों में बढ़ोतरी और फिर सीने पर मैडल लगाने का मतलब नहीं रह जाता, मेस में मिलने वाले दोस्त ही नहीं रहते तो...।" उसकी आवाज़ में अनुभव था।

अम्बिका की देह किसी लम्बी नींद से जागी, वह क्लोज़ेट में से क्रॉकरी निकाल रही थी। उसने हैरानी से एक बार उस लेफ़्टिनेंट को देखा जो युद्ध में शामिल होने के लिए अजीब रोमानी क्रिस्म की भावुकता से ग्रस्त था। वह देख रही थी कि वह कन्धे को बार-बार छू रहा था। वह दर्द और नशे के असर के बीच दर्द को देह की सहज प्रक्रिया मान लेने के भीतरी संघर्ष में लगा था। मगर पहले से काफ़ी ख़ुश था। दूसरी तरफ़ मेजर युद्ध की भयावहताओं से वाक़िफ़, युद्ध से विकर्षित, विचलित।

"अरे, तुम्हारी कमीज़...खून निकल रहा है।" मेजर का ध्यान उसकी कमीज़ पर गया।

"कहा था न मैंने, अपने घाव को तो भर जाने देते। एक दिन और वार्ड में रुक जाते।"

“जमे खून, पकते घावों और दवाओं की महक मेरी बर्दाश्त के बाहर थी। मैं कराहों को सुन-सुनकर पागल हो जाता...” युवक की आँखों में नमी थी, विवशता थी। मेजर का मन उसके लिए कुछ नर्म हो आया।

“अम्बी, फर्स्ट एड बॉक्स ले आओ।” मेजर बोला।

“रास्ते में भर जायेगा। ज़्यादा बड़ा नहीं है, पट्टी ढीली हो गयी है इसलिए यह कन्धा हिलने पर ज़रा ब्लीड कर जाता है।”

कमीज़ बाँह तक खून से सन चुकी थी। उसने बहुत कोमलता से ड्रेसिंग कर दी। वह दर्द से सिहरा तो अम्बिका ने उसकी हथेली थाम ली। उसने गौर किया लेफ़्टिनेंट खूबसूरत है, एडोनिश की तरह-पुरुष सौन्दर्य का ग्रीक प्रतीक। छरहरा, लम्बा, गोरा, ठहरी हुई गहरी काली आँखों वाला, कोमल भावों वाला। अम्बिका रात को ही तो पढ़ रही थी शेक्सपियर की कविताएँ। वीनस (एफ़्रोदिती का रोमन पर्याय) और एडोनिश। आसक्त वीनस और बेखबर एडोनिश।

“पसीने से नम

नर्म मुलायम जिजीविषा भरी

उसकी हथेली ली थाम

स्वयं वीनस ही कामावेग से थरथराती रही

पसीना है कि सुगन्धित बाम”

रात को खाने में उसने बढ़िया चिकन बनाया और वे तीनों खाने के साथ भी शराब पीते रहे...

“तो अब भी समय है, इस बेकार की और थोपी हुई जंग से बचा लो खुद को। मत जाओ फ्रंट पर, वे बेस अस्पताल भेज देंगे तुम्हें।” डिनर रोल कुतरते हुए वह उसे गहरी नज़र से देखती रही। फिर होंठों की कोर से हलका-सा मुस्करायी।

“एक सैनिक के पास खोने को दो ही तो चीज़े होती हैं, प्रेम और जान। ‘वन इन द वार, लॉस्ट इन द लव।’ यह कहावत यूँ ही तो नहीं बनी।”

“लम्बे चले दूसरे विश्वयुद्ध के फ़ौजी हों या इराक में अमरीकी सैनिक, यह सब पर फिट होता है। उनकी मंगेतर सगाई तोड़ लेती हैं, प्रेमिकाएँ दूसरे लड़के ढूँढ़ लेती हैं। अगर यह भी लम्बा खिंचा तो...इसे धोखा नहीं कहना चाहिए, हारते घोड़े पर रेस में कौन दाँव लगाता है?” कहते हुए अम्बिका की तरफ़ देखकर मेजर बेवजह मुस्कराने लगा।

“छोड़ो भी...बेकार की लिजलिजी बातें।” अम्बिका बोली।

तभी बेडरूम में फ़ोन बजा। यह लेफ़्टिनेंट के लिए था। यहाँ से स्वस्थ हो चुके कुछ सैनिकों की टुकड़ी के फ्रंट पर लौटने की तैयारी हो चुकी थी। सुबह जो जहाज़ आयेगा, मृतकों को लेकर। उसी से उसे पौ फटने से पहले ही निकलना होगा। हालात बिगड़ रहे थे।

मेजर को भी परसों की जगह कल ही जाना होगा, दोनों के लामबन्दी वाले बैग साथ ही बँधे रखे थे।

बरामदे में बैठे मेजर के नशे में गाने की आवाज़ सुन रहा था वह, सेकेंड वर्ल्डवॉर पर बनी हॉलीवुड की किसी फ़िल्म का गीत था।

*“लेट्स किस, नॉट फ़ाइट
ट्राइ टू डू व्हाट्स राइट
टुनाइट मेक लव, नॉट वार
व्हाट द हैल वी आर लिविंग फॉर?”*

समय, उस घर की दीवारों में फँसी गौरैया की तरह हॉफने लगा। महज़ चार घण्टों की दूरी पर युद्ध जारी था। इन्सान कितना दुर्बल और नश्वर है। मेजर बहुत देर से चुप था। अम्बिका उसके कन्धे से सर टिकाये कुर्सी पर अधलेटी थी। उसके हाथ मेजर के बालों को छू रहे थे। शराब की अधिकता ने उन्हें एक ऐसी आत्मविस्मृति में बाँध दिया था कि वो दोनों प्रेम और बिछोह के बीच के किसी मार्मिक बिन्दु पर थे। आँसू, पीड़ा और अन्तिम सम्बोधनों के लिए अब अवकाश नहीं बचा था या वे हो-होकर बीत चुके थे या घनत्व में भारी होने के कारण मन के तल पर जा बैठे थे।

“मैं इनके बीच क्या कर रहा हूँ? मुझे नहीं पता मेरा होना इन्हें सहज कर रहा है या असहज?” लेफ़्टिनेंट बाहर लॉबी में सोने जाने के लिए उठा मगर वह रात के पूर्वनियोजित षडयन्त्र या अपूर्वनियोजित अन्तिम उत्सव में शामिल हो चुका था। अचानक ब्लैकआउट हो गया था, कोई लड़ाकू जहाज़ लम्बी दूरी की मारक मिसाइल छोड़ता हुआ गुज़रा।

“जूते उतार दो और जहाँ हो वहीं लेट जाओ।” मेजर चिल्ला कर बोला।

“कुछ बदलने को दूँ? जीस में कैसे सोओगे?” अम्बिका ने पूछा।

“मुझे आदत है।”

“इसे तो आदतों की आदत है।” अम्बिका की नशीली, कामुक हँसी अँधेरे में चिलकी। बहुत देर तक उनकी फुसफुसाहटें बरामदे में घोंसला बनाती रहीं, जब देर तक बिजली वापस नहीं आयी तो वे दोनों लिपटे हुए भीतर आ गये, वह बाहर जाने को उठा मगर मेजर ने कहा, “जहाँ हो वही बने रहो, हमें तो ज़रा-सी जगह चाहिए।”

वह तीनों एक बिस्तर में थे। खिड़की के बाहर पत्ते ही हवा से झगड़ रहे थे, हवा तो पत्ते बुहार रही थी चुपचाप। झींगुरों की आवाज़ टीन की छत की परतें खुरच रही थी।

कुछ देर बाद ही लेफ़्टिनेंट को लगा कि वह जैसे एक ऑब्लीक के पार रेशमी चादर के ब्रेकेट में बन्द ज़रूर था, मगर उस पार कोई समीकरण था जिसे कि हल होना था। हलकी फुसफुसाहटें उसके नींद के कोटर में घुसकर फड़फड़ाने लगी थीं। अँधेरे के कसाव मांसल थे। पूरा पलंग मानो समुद्र पर तैर रहा था। अँधेरे में वे तीनों ही महसूस कर पा रहे थे कि

जल्दी ही कुछ ऐसा घटने को है जो उस कमरे में मौजूद हर अणु को प्रभावित करने वाला था। कोई समीकरण आकार ले रहा था, जो प्रेम से कहीं ज़्यादा शक्तिसम्पन्न था। सपनों, मौन रुझानों की जादुई रस्मों से कहीं ताक़तवर। आज अँधेरा मैटेलिक चमक लिए था। बुझी हुई चाँदनी बारूद के धुएँ से भर गयी थी और रात सलेटी-ताम्बई चूर्ण बनकर खिड़की से झरने लगी। सुनहरी आभा वाली ये अम्बिका है कि वीनस? मेजर अपोलो है तो वह इन दोनों के बीच तीसरा कौन था?

'एडोनिस्' अम्बिका के नशे में विकृत होंठ हिले। अम्बिका की बाँहें कोई तिलिस्माती वल्लरी थीं, जो कमरे में, बिस्तर पर, हर जगह फैली थीं। उसकी बगलों में कोई नम जंगल महक रहा था। युवा लेफ़्टिनेंट उसका चेहरा देखने की हिम्मत नहीं कर सका, बीच रात के सलेटी उजलेपन में उसे बस उसके सुनहरे वक्ष पर अवस्थित जामुनी-भूरे एरोला दिख रहे थे, धुन्ध से ढँकी उसकी कमर पर मेजर का हाथ रखा था, रात पर एक विपुल मांसल परत तारी हो गयी। वह निर्णायक पल की हलचल में दोनों किनारों के बीच सतह पर एक चमकीले शंख की तरह तैर रहा था कि अम्बिका ने मेजर की तरफ़ से उसकी तरफ़ करवट बदल ली, चॉकलेट और वाइन की महक वाले अपने होंठ उसकी तरफ़ बढ़ा दिये, उसने भी उसकी नरम और सौम्य इच्छा के वशीभूत गर्दन झुकाकर अपना मुँह खोल दिया, वीनस मुस्करायी, अपोलो ने पलकों की जुम्बिश से इशारा किया, मासूम एडोनिस् को ऐसी शान्त चमकीली घड़ी में मौत का ख़्वाब भी रूमानी लगने लगा। उसका ज़ख़्म खिल रहा था और रक्त फूलों में बदल रहा था।

विंडोपैन पर गिरती बारिश की बूँदों की सम्मोहक ताल उन्हें किसी अनजान द्वीप पर लिए जा रही थी, जहाँ निषिद्ध शब्द ही नहीं था। बल्कि शब्द थे कहाँ, महज़ ध्वनियाँ थीं। पत्तियों से, हवा से, प्रपात से, अजगरों से, सिंहों और हाथियों से उधार ली हुई। नैतिक या अनैतिक, अपने पूरे अर्थ में यह जो भी था, तीनों की आत्मा का हिस्सा बन गया था। कुछ था जो बीत गया था, कुछ बीतने को था। एक पारदर्शी बुलबुला फूटने को था। इससे पेशतर कि वह टूटे और इस रात का सच, ग्लानि में बदल जाये और यह चमकीला क्लाइडोस्कोप स्मृति के हाथों टूटकर बिखर जाये। लेफ़्टिनेंट ने अम्बिका की उँगलियों को अपनी उँगलियों में कसा और होंठों से सटाकर शुक्रिया जैसा कुछ फुसफुसाया।

सुख की एक चीख़ किसी बाज की चीख़-सी उभरी और जंगल में कहीं गुम होकर फीकी हो गयी।

लेफ़्टिनेंट ने आँखें बन्द कर लीं। मेजर को लगा कि वह गहरी शान्त नींद में था। वह उसके चेहरे को देखता रहा, उसने पलकें खोल दीं, सुनहरे गोलकों में उदात्त आलोक था और होंठों पर आश्चस्ति की मुस्कान थी। मेजर इस बार मुस्करा न सका। मुचड़ी चादर की तरह रात स्लथ और गर्म थी, कमरे की हवा में थक गये जिस्मों, बुझी सिगरेटों की गन्ध थी।

युवा लेफ़्टिनेंट मन में सुख और देह में एक शान्ति लिए जाने कब सो गया... हेलीकॉप्टर के शोर से उसकी नींद खुली, नींद खुलने पर अँधेरे को सहने की स्थिति में आँखों के अभ्यस्त होने का उसने इन्तज़ार किया। अब वह कमरे का फ़र्नीचर देख पा रहा था। नींद में चेतना दाख़िल हो गयी थी। फिर कोई घायल जिस्म या कोई शहीद लाश तिरंगे में लिपटी। उसने पुतलियाँ घुमायीं, एक सुनहरी नंगी पीठ पर उसका हाथ था, एक सफ़ेद रुपहले शंख-सा, जिसे लहरों ने सुनहरी रेत पर छोड़ दिया था। उसने अतिरिक्त सावधानी से अपना हाथ हटा लिया। मेजर का गोरा-विशाल जिस्म किसी आइसबर्ग की तरह रात के सलेटी समुद्र में लेटा था, अम्बिका उस पर भटक आयी मरमेड की तरह क्लान्त उलटी पड़ी थी। पेट के नीचे दबे उसके फ़िसनुमा हाथ हलके-हलके थरथरा रहे थे। जहाँ गर्दन सीने से अलग होती है, वहाँ एक रोशन उभार था। चेहरा काले घुँघराले बालों से ढँक गया था। उसने देखा उसके खुले, गोरे दायें कन्धे पर अम्बिका का एक बाल लगा था। लम्बा, काला, लहरदार बाल। उसने उसे उँगली के पोरों से पकड़कर ऐश ट्रे में कोमलता से रख दिया और बिस्तर से उठ गया, जींस की फ़्लाइ बन्द कर के उसने कमीज़ उठाना चाही, मगर वह अम्बिका के टखनों में लिपटी थी। उसने उसे वहीं रहने दिया। कमीज़ पहनने से पहले उसने ढीली हो आयी पट्टी कसनी चाही, जो कि एक दर्दनाक कवायद है, उसने घायल बायाँ कन्धा उचकाया, दर्द हुआ मगर बहुत फ़ीका और नामालूम। 'टच थैरेपी'! वह अम्बिका की तरफ़ देखने लगा, उसे नहीं पता था कि अम्बिका की आँखें उसकी खुली बाँह के नीचे से उसे ही देख रही थीं।

वह आहिस्ता से बिस्तर से उठा और टैरेस पर चला आया, उसने अँधेरे में अपनी निगाह एक जाल की तरह फेंक दी कि कोई जुगनू रोशनी का पकड़ सके। दूर क्षितिज पर उत्तर में सुर्ख और चमकीली बिजली की रेखा चमकी। मिलिट्री अस्पताल के अहाते, सड़कें, वाहन, खम्भे, पानी की टंकी...सब पर टॉर्च की-सी रोशनी डालकर मिट गयी। इसी क्षण में चमक उठे थे खिड़की के बाहर, एक इतिहास जी चुके पुराने हेडक्वार्टर की झुकी छत और उसकी बाउंड्री वॉल पर दगी गोलियों के निशान और बीती सदी की दीवारों में बन्द अनजाने शहीद नाम, भूले हुए शहीद चेहरे, मायने खो चुके युद्ध और इतिहास।

बाहर रात के किसी निशाचर पक्षी ने बेचैनी से पंख फड़फड़ाये। भीतर भी 'कुछ' तो था जो जवाब में पर मारता रहा, पिंजरे की तीलियों पर। ठीक तीन मिनट बाद इस बिजली के कड़कने की ध्वनि ने धरती तक की अपनी यात्रा तय की और भीषण गड़गड़ाहट से चौंककर वह जागकर उठ बैठी...मेजर की शिथिल मगर गुनगुनी हथेलियाँ थामकर निःशब्द बैठी रही, लेफ़्टिनेंट को उसकी आकृति के कम्पन से लगा कि वह रो रही है। मगर वह चादर ओढ़े ठण्ड से काँप रही थी। वह उसके पास आ गया।

"तुम जाग क्यों गये?"

"बस, बरसात देख रहा था।"

“खिड़की बन्द कर दो। कहीं तुम्हें डर तो नहीं लग रहा...”

“बिजली से?”

“वॉर से।”

“तुम्हें?”

“मैं डरती नहीं, मैं ट्रेड हूँ इस सबके लिए, कैजुअल्टीज़ मेरे लिए कोई नयी बात नहीं। मगर दर्द तो मुझे भी होता है न, जब देश के लिए शहीद हुए सिपाहियों के आइडेंटिटी टैग उनके ठण्डे जिस्मों से उतारती हूँ।”

“मेजर से बहुत प्यार करती हो!” उसने बात बदलने को पूछा, उसने उत्तर में कन्धे उचकाये, जिसका ठीक-ठीक अर्थ वह नहीं पकड़ पाया।

वह फुसफुसायी-“यू नो लव इज़ माय सोलफूड एंड आय'म बैगर,”

“क्या एक साथ दो पुरुषों से कोई स्त्री प्रेम कर सकती है?”

“...”, उसने फिर कन्धे उचकाये, जिसका अर्थ फिर से वह नहीं पकड़ सका। फिर वह ठण्डे-बर्फ़िले स्वर में, रुक-रुककर बोली- “कल रात जो था प्रेम नहीं था। सेकेंड वर्ल्ड वॉर में फ्रांसीसी सैनिक इसे ‘मैनेज ए त्रायोस’ कहते थे। यह पुरुष-मनोलोक की अजीब-सी फंतासी है। अपनी प्रेमिका को किसी और के साथ देखना। बट इट्स डिज़ायर्ड बाय एवरी मेन, लिट्ट बय वेरी प्यू। क्योंकि हर कोई तो इस फंतासी से निकलकर, सच का सामना नहीं कर सकता न!

“...”

लेफ़्टिनेंट अवाक्-सा खड़ा हो गया और हैरानी से अम्बिका को देखता रहा। फिर वह अपना बैग उठाकर बालकनी में आ गया और उसमें बेतरतीब रखा सामान सहेजने लगा। बाहर हवा ठण्डी और ताज़ा थी। उसने बैग में से सिगरेट निकालकर सुलगा ली और बीती रात की पहली के टुकड़े जोड़ने लगा। अन्दर कुछ देर तो सन्नाटा बना रहा फिर आहटें होने लगीं, भीतर वो अलगाव से पहले की तयशुदा उदास बातें कर रहे थे, जिनसे वह अब उकता रहा था। ग्लानि को मन से खुरचने के लिए अब वह बस युद्ध की और यूनिट को ट्रेक करने की बात सोचने लगा।

“कुछ अन्दाज़ा है क्या कि कब तक लौटोगे?”

वह नाटकीयता के साथ थोड़े ऊँचे स्वर में बोला-“क्या पता? दो दिन बाद ही या महीनों बाद या पता नहीं मैं लौटूँ कि यह!”

उसकी तेज़ आवाज़ पर लेफ़्टिनेंट चौंका, उसने भीतर देखा, वह युद्ध में पहने जाने वाला आइडेंटिटी डिस्क हाथ में लेकर झुला रहा था, उसके चेहरे के आगे।

“कल से मैं महसूस कर रही हूँ। या तो तुम मौत से डर रहे हो या मौत से ऑबसेस्ड हो। यह एक युद्ध है, और तुम सैनिक, तुम्हारा काम है लामबन्दी। सिम्पल। इतना क्या उलझा रहे हो चीजों को। मरना तो सबको ही है। रोज़ कितने सैनिक, अपने अंग खोकर, बुरी तरह घायल होकर, मगर फिर भी मुस्कराते हुए, यहाँ अस्पताल में आते हैं। फिर सीमा पर लौटकर लड़ने जाने का विश्वास लेकर। एक उदाहरण तो देख ही रहे हो। कहने को तो कल यहाँ इस बेस कैम्प पर भी...बम फट सकता है।” वह खीजी हुई थी।

अब अम्बिका की टाँगें स्लिपर टटोल रही थीं, फिर वह बिस्तर से खड़ी हो गयी, हाथ को एक घुमाव देकर बालों को ढीले जूड़े में बाँध दिया और विवस्त्र ही रसोई में चली गयी। वह उसे देखता ही रह गया, सच में भोर के धुँधले प्रकाश में समुद्री झाग से जन्मी एफ्रोदिती (वीनस) लग रही थी। यह छवि उसके मन पर टँक गयी। वह उसे जीवन-भर देखता रहता मगर उसने पहले इलेक्ट्रिक कैटल में पानी डालकर स्विच ऑन किया फिर खूँटी पर टँगा हाउसकोट पहन लिया और बाथरूम में घुस गयी। जल्दी ही मेजर दो प्याले चाय लेकर बालकनी में उसके पास आ गया।

“नाश्ते में क्या खाना पसन्द करोगे?” शान्त-सौम्य अन्दाज़ में उससे पूछा।

“बस दो उबले अण्डे।” उसने उदासीनता से कहा, बिना उसका चेहरा देखे।

“थोड़ा सिरियल, ओट्स या पोहा भी ले लो। अम्बी बना रही है,”

“...”

“क्या कहते हो? इस लड़ाई के लिए? खिंचेगी...अनसुलझी बन्द हो जायेगी या एक मुक़म्मल जंग में बदल जायेगी?”

“हमारे नेताओं के फूहड़ हाथों से न फिसली तो एक सबक के साथ बन्द हो जायेगी।” वह सोचकर बोला।

“तुम चू...भोले हो...नये भी।” वह समझ गया कि मेजर उसे फ़ौज की बहुत प्रचलित गाली देते-देते रह गया है।

कुछ देर चुप रहकर मेजर फिर बोला-“बहुत विकट समय है, आने वाले दिनों में तुम्हें बहुत कुछ देखना है। अपने हमप्याला और हमनिवालाओं के शव, जंग के रास्ते पड़ने वाले क़ब्रगाह बनते जाते गाँव के गाँव...लूट और मासूम औरतों का खुले में बलात्कार करते दुश्मन ही नहीं हमारे अपने सिपाही भी। शान्ति सेना के समय मैं तुम्हारी उम्र का था, बहुत जोश था। जान को गुलाब का फूल समझ कर दिलफेंक आशिक़ की तरह अकड़कर चलता था। मगर फिर मैंने जब क़रीब से देखा तो जाना कि कोई भी युद्ध लम्बा चलता है तो विशुद्ध निराशा में पत्थर हो जाता है सैनिक। आत्मघातक क्रिस्म की अवज्ञा और अनैतिकता आ जाती है उसमें। तुम खुद देखना। अभी बहुत जोशीला और रोमानी लग रहा है न, सब कुछ!”

“अनैतिकता!”

“हाँ, नैतिकता, संयम, अहिंसा ऐसे बर्बर माहौल में अपने मायने खो देते हैं। कलाएँ, संगीत और साहित्य भी, अमन के दिनों के शगल हैं। इन विध्वंसक पलों में बस मूल प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। हत्या और बलात्कार तक का असल अर्थ बदल जाता है, मरने जाने से पहले अपने बीज बिखेर जाना, ज़्यादा से ज़्यादा...दूर से दूर। दूसरे के मूल और बीज नष्ट करते जाना।”

वह रात की बात सोचने लगा। फिर सर हिलाता हुआ नहाने चला गया। लौटा तो, मेजर रसोई में नाश्ता बनाती अम्बिका के पास खड़ा था।

उसने बाहर से अम्बिका के सुबकने की आवाज़ सुनी तो वह अपने जूते पहनने भीतर गया। नाश्ता लग चुका था। नाश्ते के बाद मेजर ने उसे गले लगाकर कहा-“फिर मिलते हैं, ज़िन्दगी रही तो। बर्ट्रेड रसल ने कहा है, ‘वॉर डज़ नॉट डिटरमाइन हू इज़ राइट। ओनली हू इज़ लेफ़्ट।’”

उसकी गाड़ी आयी तब तक अम्बिका की आँखें सुर्ख हो चुकी थीं। वह बाहर नहीं आयी बालकनी में खड़ी रही। विदा में उसने भावुकता में, ज़ोर-ज़ोर से हाथ हिलाया तो लेफ़्टिनेंट को लगा कि कुछ भी हो वह अम्बिका से दुबारा मिलना चाहेगा।

उस रात जी गयी फंतासी के पल उसे युद्ध के हिंसक पलों में भी कोमल करते रहे। विध्वंस के समय तक उसके मुँह में चॉकलेट और वाइन के फ्लेवर वाली जीभ का स्वाद बना रहा। आखिरी हमलों तक उसके मन में ‘भोर की एफ़्रोदिती’ वाली छवि बनी रही।

युद्ध को समाप्त होना था, क्योंकि यह युद्ध था ही नहीं, जबरन थोपी गयी एकतरफ़ा झौड़नुमा जंग थी। लेकिन खुद की सीमाएँ बचाने में हमने उनसे कहीं ज़्यादा खोया। जाने के आठ दिन बाद, नवें दिन ही लेफ़्टिनेंट लौट आया था। एक फ़ोनकॉल पर वह सुबह चार बजे, जहाज़ की आवाज़ सुनकर भागी और धुँधलके में घायलों के वार्ड में उसे ढूँढ़ती रही बेचैनी से। वह टकरायी एक मेडिकल असिस्टेंट से जो ट्रे में मज़बूत काले धागों में बँधे, खून, मिट्टी और बारूद से सने कुछ आइडेंटिटी डिस्क रखे लिए जा रहा था। जिन पर इन्हें पहनने वाले मृत सैनिकों का नाम नहीं, सर्विस नम्बर और धर्म लिखा था। ताकि दुश्मनों की ज़मीन पर भी किसी सैनिक का शव मिलने पर उसे उसके धर्म के अनुसार अन्तिम संस्कार मिले। यह युद्ध का अनलिखा नियम है। उस ट्रे में एक डिस्क काले धागे समेत चाँदी की चैन में बँधी थी, स्मृति की सूखी परत को अम्बिका की लम्बी उँगलियों ने कुरेद दिया, अन्तिम आलिंगन के समय वह कुछ फुसफुसा रही थी और उसके हाथ, युवा लेफ़्टिनेंट की इसी चैन से खेल रहे थे। वह मॉचरी की तरफ़ भागी। तिरंगे में लपेटे जाने से पहले, उसके हिस्से का कॉफ़िन पेंट किया जा रहा था। वह खुले अहाते में अन्य शवों के साथ रखा था, उलटा। उसने उसे पलटा, उसका चेहरा, वर्दी सब कुछ धुएँ से सलेटी था, खुले हुए गुलाबी मुँह में से झाँकते दाँत एकदम सफ़ेद थे। उसने उसे चूम लिया फिर अन्य लोगों की

उपस्थिति को महसूस करते ही एकदम उठकर चल पड़ी, कुछ दूर जाकर उसने पलटकर देखा, उसका चेहरा शान्त था। उसे उसकी जेब में एक मुचड़े हुए नोटपैड पर कुछ लिखा मिला था। मॉचरी के बाहर, विशाल पीपल के पेड़ के नीचे रखी बेंच पर वह बैठ गयी। वह प्रेम और मृत्यु का गीत था, 'माय रॉन्देवु विद डेथ' -

जानता था,
एक दिन उससे मिलूँगा
जब बसन्त गडरिया लौट रहा होगा चरागाहों से
चुरा चुका होऊँगा वह सेब अदम के बगीचे से
मगर यूँ अनायास और जल्दी मिलेगी वो,
एन उस पल में जब चरागाह में अब भी बसन्त ठिठका होगा
जब चुराया हुआ सेब दाँतों की तरफ़ ले जा रहा होऊँगा
अशान्त सीमाओं की तरफ़,
बैरीकेड के नीचे एक फूल खिला होगा।
बसन्त गुपचुप अपनी छायाएँ समेट रहा होगा।
मृत्यु, मैं तुमसे वहीं मिलूँगा।

अम्बिका ने मेजर को आखिरी बार लेफ़्टिनेंट के अन्तिम संस्कार के समय देखा था। अपनी ऑलिव ग्रीन यूनिफ़ॉर्म की ट्यूनिंग में, वह किसी से कह रहा था-वह अनूठा अफ़सर था, हालाँकि मैं उसके साथ एक सप्ताह भी न रह सका था। बहुत जोश था उसमें। प्रेमी जीव था।

वह कहता था-“सैनिक और प्रेमी में कोई फ़र्क़ नहीं होता। प्रेमी और सैनिक दोनों सोते हुए या नशे में डूबे दुश्मन का फ़ायदा उठाते हैं। गुपचुप फेंस कूदकर। जंगली तीतर की आवाज़ निकालकर, टॉर्च का इशारा कर, रूमाल हिलाकर, गार्ड्स को धोखा देकर लक्ष्य तक पहुँचना और गुप्त और आकस्मिक हमला करना एक सैनिक का मिशन होता है, ठीक उसी तरह जैसे मार्स से आये प्रेमी टॉर्च का इशारा करते हैं, और वीनस से उतरी देवियाँ स्कार्फ़ लहराती हैं।” वह जानता था कि अम्बी ठीक उसके पीछे खड़ी है।

सफ़ेद लिली के फूलों की रीथ को शव पर रखकर, आँखों में दर्प लिए, उसके कॉफ़िन के आगे सैल्यूट करके, वह अम्बिका को जानबूझकर अनदेखा कर वहाँ से चला गया था। उसका मन शरीर में ही दफ़न हो गया था।

तेरह वर्ष बाद मेजर को, जो अब ब्रिगेडियर था, एक खत मिला...

“उस रात तुमने कहा था, मैं एक रात तुम्हारी हर फंतासी को सच कर दूँ। क्योंकि फिर तुम फेंस के पार अनजानी ज़मीनों की तरफ़ चले जाओगे। युद्ध में काम आये तो अनजाने क्षितिजों के पार...

तब मुझे नहीं पता था कि वो नयी ज़मीन कहाँ होगी। मगर मैं जानती थी कि आसमान तो फिर भी एक ही होगा न, जिसके नीचे एक दिन तुम ज़रूर लौटोगे। तुम लौटे। एकदम पड़ोस में मेरे अस्तित्व से अनजान तुम बूढ़े होने लगे। राजसी ढंग से, वीरता के तमगों के साथ। मैं जानबूझकर नहीं मिली तुमसे। जानती थी कि तुम मिलते ही रॉयल सुनहरा लबादा उतारकर एक सलेटी क्लोक पहन लोगे और प्लूटार्क बन जाओगे। ‘लाइफ़ ऑफ़ डीमीट्रियस’, का नाटक दोहराते हुए। जब यह नाटक खत्म होगा तो तुम क्लोक उतारकर चल दोगे, मुड़कर अपने अभिनय की दक्षता पर मुस्कराते हुए।”

‘लाइफ़ ऑफ़ डीमीट्रियस’ प्लूटार्क की लिखी मेसीडोनिया के डीमीट्रियस की बायोग्राफी है, इस कथा को शेक्सपियर ने भी बाद में नाटक में ढाला था। कई जगह यह नाटक खेलते में इस कथन को रूपकात्मक तरीके से लिया गया, और डीमीट्रियस को अन्त में सलेटी क्लोक पहने प्लूटार्क की तरह मुस्कराते दिखाया गया।

अतर

-प्रत्यक्षा सिन्हा

पतली-सी गली थी जहाँ घर एक-दूसरे से सटे पड़े थे। खिड़कियाँ और छज्जे इसी गली में झाँकते जैसे अब गिरे तब गिरे। औरतें इन्हीं छज्जों से लटक, इन्हीं खिड़कियों के पल्लों से झाँकते एक-दूसरे से गपियातीं। अगर कोई जो इस गली से गुज़रता उसके सर पर गप्पों और नमक-मिर्च मिली अफ़वाहों का चँदोबा तना होता। राहगीर ऊपर तकते मुस्कराते। गर तो इसी मोहल्ले का बाशिन्दा होता तो उसे ऊपर देखने की ज़हमत न उठानी पड़ती। आवाज़ से मालूम पड़ जाता कि कौन कह रहा है। अजनबी राहगीर जबकि ज़रा उत्सुकता से एक नज़र ऊपर फेर लेते और मुस्कराते निकल जाते।

फिर बिना किसी जासूसी के ये पता लग जाता कि शकूर की बीवी ने भेड़ का शोरबा पकाया है, याकि मोहसिन की अम्मी ने रात के लिये सेवईयाँ पकाई हैं, या फिर दस साल के गफ़ूर मियाँ पतंग उड़ाते छज्जे से गिर सर तुड़ा चुके हैं, या ये कि किरपा के सन्निपात बुखार हुआ पड़ा है। ये भी सबकी जानकारी में था कि फ़रिया का मियाँ दुबई गया है और ये कि सुबूही का ब्याह किसी दूर देश के लड़के से तय हुआ है जहाँ से जब एक दफ़ा मिलने आया था तो एक अजीब-सा अतर लेकर आया था।

अबान ख़ूब लम्बा ख़ूबसूरत जवान था। उसके चेहरे पर हलकी भूरी दाढ़ी थी और आँखें, माशाअल्लाह ऐसी आँखें जो न जाने किस दुनिया में खोयी आँखें थीं। ताई अम्मा बुड़बुड़ाती हैं, जैसे ख़ुद ही कहीं गुम हो आया हो।

नुसरत, सुबूही की अम्माजानी चेहरा सिकोड़कर चुपके से एक कोने थूकती-फूँकती बला टालतीं, निगोड़ी ताई अम्मा मेरी बन्नो की किस्मत से जलती हैं, मरे मेरे दुश्मन, खोयें मेरे दुश्मन।

लेकिन पहली दफ़ा जब सुबूही ने ये सुना, उसके शरीर पर एक सिहरन दौड़ गयी थी। अबान की नज़र उसे याद आयी थी, भेदती-टटोलती जानकार नज़र, जैसे उसे उसके आर-पार की ख़बर हो गयी हो।

अबान दूर के रिश्ते में था, या शायद दूर के रिश्ते के किसी का साथी। ये तार इतना पेचीदा था कि रिश्ते को साफ़-साफ़ चीन्ह लेना एकदम मुश्किल। उसके लिए ज़मीन में किसी लकड़ी से पूरा नक्रशा बनाना कि ये रहे अलाँ और इनकी बेगम फलाँ, उनका बेटा ये,

उसकी साली वो, साली के शौहर की चाचाजाद बेटी की मुमानी जिस गाँव में ब्याही...ऐसे-ऐसे-ऐसे, और फिर सब इतना गड्डमड्ड हो जाता कि कौन बेटी, कौन मुमानी, किसकी खाला, किसके भाई, सब तार उलझ जाते।

फिर अबान!

अबान तो था ऐसा कि जाने किस जहाँ की धूल फाँक आया हो और उस दूर देश के नज़ारे अब भी उसकी आँखों में ऐसे बसते हों कि इस जहाँ के नज़ारे सब बदरंग फीके हों। वो चुप गुम अपने में खोया रहता और बहुत कुरेदे जाने पर हूँ-हाँ में जवाब देता। सुबूही का दिल किसी गहरी खाई में पत्थर की तरह जा गिरा था। हाय, ये कैसा आदम ज़ात उसके हिस्से पड़ना था, यही जो उसे देखता न था। जाने कौन-से जहाँ की छाया उसकी नज़रों में डोलती थी। लेकिन एक बार उसकी नज़र किसी बाज़ की तरह उसके चेहरे पर पड़ी थी, जैसे आग की लहक हो, जैसे अबान ने उसे दाग दिया हो, तुम मेरी हो। उफ़्र क्या था उस निगाह में? कितनी दफ़ा सोचती है सुबूही, पहचान ले उस नज़र को? मोहब्बत थी, हिक़ारत थी? पा लेने की शिद्दत थी? क्या था आख़िर?

और ऐसा नहीं था कि सुबूही बुरी थी दिखने में। ठीक है कोई हसीन न थी, पर उसकी गन्दुमी रंगत में एक ऐसी रोशनी झलकती कि उसका चेहरा किसी नूर-सा दमकता। उसकी आँखें ज़रा फैली-सी थीं और उनकी पुतलियाँ ऐसी भूरी हरी कि लगता कोई हैरान, दुनिया को अचरज से देखता, हिरण का बच्चा हो।

जवान-जहान लौंडे पलटकर उसे देखते ज़रूर थे सारे। जब वो मदरसे को जाती, कभी दर्जी से कढ़ाई-कसीदा करवाने, या किसी गुइयाँ सहेली के ठिकाने। बुर्का तो ओढ़ लेती, पर चेहरा खुला रहता। आख़िर उसी का मोहल्ला था, उसी की अपनी दुनिया जहाँ पैदा हुई, पली-बढ़ी, जहाँ हर कोई खाला, ताया, चचा, भाई, आपी, बाजी थे। सब अपने थे। और हर घर दूसरे से जुड़ा था आँगन-सहन से, छतों की दुछतियों से। और कई बार किसी के घर जाने के लिए गली में निकलना क़तई ज़रूरी न होता, बस आँगन की दीवार में जड़े किवाड़ से पड़ोस के घर में और फिर उससे अगले में जाया जा सकता था। तो तुरा ये कि हर मकान की साझी दीवार थी और हर घर दूसरे में खुलता। इस तरह सब खरगोश के बिलों की तरह एक-दूसरे के साथ रहते ऐसे ही उनकी ज़िन्दगियाँ भी दूध में रूह-अफ़ज़ा की तरह घुल गयी थीं। उनके बच्चों की एक-दूसरे से शादियाँ हो जातीं और कई पुशतों से ये होता आया था कि अब किसी का दूसरे से रिश्ता निकालना बड़ी मगजमारी थी। कोई किसी का मामू और भाई एक साथ हो जाता, कोई मुमानी, आपी, खाला। किसी का किसी से एक सीधा इकहरा रिश्ता नहीं था। उसमें दस उतार-चढ़ाव और पेचोखम थे।

ऐसा होते हुए भी लेकिन ये कोई ज़मानत न थी कि सब मीठा सुबुक ही रहेगा। जो नदी भीतर-भीतर बहती थी वो हमेशा मीठी नदी नहीं थी। कभी उसमें दोजख की गन्ध भर जाती। उसमें गाढ़ा अँधेरा मचलता, उससे एक बू उठती। ऐसी सड़ी हवा की भाप उठती

जैसे शैतान ने ही खुद मृत दिया हो। पर कभी न जाने क्यों एक मीठी खुशबू भी तिरती आती, ताज़े फूलों की सबज़ महक, लोबान की पाक सुगन्ध।

उस घर में ऐसे कई गुप्त कमरे थे जहाँ अँधेरे और मकड़जाल का राज था। ये कमरे तालेबन्द थे और सदियों से यूँ पोशीदा थे कि अब घरवालों को याद तक न था कि घर में ऐसी कोई जगह भी है। कोई भूत जिन्नात था जिसने अन्दर की सब हवा को निगल लिया था और अम्माएँ बच्चों को डरातीं, खबरदार जो उस तरफ़ देखा भी। गर कोई बच्चा उधर भटक जाता तो तुरत मुट्ठी-भर लाल मिर्च आग पर जलाकर, उसकी धाँस वाली हवा को बच्चे के सिर पर वार कर बलाएँ टाली जातीं।

बलाएँ जाने कहाँ जातीं, पर पूरा घर खाँस-खाँसकर बेदम बेहाल हो जाता।

ये कमरे आखिर बने भी क्यों, कब और किसलिए थे? और ऐसे ताबूत से बन्द भी किसने और क्यों किये आखिर?

सबसे उम्रदराज सौ बरस की बीबी थीं। शायद उन्हें ही पता था। और उनसे कुछ निकलवा लेना नामुमकिन। कोई पूछ ले तो अपने कान ऐसे ढँक लेतीं जैसे पिघला सीसा डाल दिया हो किसी ने। फिर ऐसे झूमतीं जैसे कोई जिन्न सवार हो गया हो। उनकी आवाज़ फुसफुसाती-बुदबुदाती आती, जाने कौन-से रहस्य का खुलासा करती हो, पर कान सटाओ तो पता चलता कि, ओ अच्छा! कुरान की आयत बुदबुदा रही हैं।

कभी-कभी जब होशमन्द होतीं, तो साफ़ टनक आवाज़ में कहतीं, “उफ़्र क्या हौलनाक समय था। सबको मारकर, कमरे में ठूँसकर जला दिया कमबख्तों ने, उन कमरों में मौत है, जली हड्डियाँ हैं, राख है, मौत की चीख है। मत खोलना, वरना उस कमरे में बन्द शैतान निकल आयेगा, हम सबको लील लेगा।”

हाड़ कँपाती आवाज़ में बीबी ऐलान करतीं, उसके बाद ऐसे झूमतीं जैसे जोग चढ़ा हो, फिर अचानक से रोने लगतीं, सूखी-सी रुलाई जिसमें आँसू न गिरते बस चेहरा ओड़मोड़ होता जैसे बदन से जान निकलती हो।

फिर एकदम अचानक से हँसतीं, गिड़गड़ातीं, मिन्नतें करतीं, “ऐ निगोड़ियों कुछ खाने को तो दो, महीनों से कुछ मीठा नहीं खाया, ऐ लड़की जा भाग जल्दी से, ला दे मुझे मीठे चावल, फिरनी, शीर खुरमा, शीरमाल, बाकरखानी।” उँगलियों पर नाम गिनातीं ऐसे जैसे कोई बच्चा पहाड़ा रटता हो।

फिर ऐसे भूख में सुबकतीं जैसे महीनों से न खाया हो जबकि सच्चाई ये थी कि आधे-एक घण्टे पहले ही दम-भर खाकर उठी थीं।

बीबी की भूख उनके जिस्म के उलट बड़ी भारी और दमदार थी। वो दिखतीं तो सूखे छुहारे-सी जैसे सब पानी निचोड़ दिया गया हो, और शरीर सूखी दरार पड़ी ज़मीन-सा ऐंठा, सूखा, बंजर हो गया हो। लेकिन बीबी के पास कहानियाँ-क्रिस्से थे, शहरजाद के

हज़ार रातों से भी बढ़कर। एक से एक, जादू भरे, एक से एक खूबसूरत जवाँमर्दों और हसीन बेगमात के, ऐसे नवाबों और बादशाहों के, इस मुहल्ले और घरों के भीतर सात पुशतों से छुपे राज़ों के। ये और बात थी कि अब ज़हन पर जाले तारी हो गये थे और कोई भी क्रिस्सा समूचा-साबुत उनके पास बचा न था।

सुबूही उनके पास दिन में कई बार बैठती, जब-जब काम से फुरसत होती तब-तब। क्रोशिए से सफ़ेद झाग-सा लेस बुनती और बीबी की बुदबुदाहटों पर धीमे-धीमे मुस्कराती, ऊपर आसमान देखती और फुर्र से उड़ जाती। ये आसमान का टुकड़ा भी वैसे साबुत-समूचा कहाँ था। नीले आसमान पर बिजली के तारों का ताना-बाना था। फिर एक तरफ़ वो विशाल पीपल का पेड़ था जिससे दिन-भर पत्तियाँ झरतीं। जैसे कोई धीमा राग गिरता हो, जैसे कोई बजाता हो दिलरुबा और उसके सुर नाचते गिरते हों बड़े धीमे-धीमे। फिर दिन-भर आँगन बुहारना पड़ता। सुबूही धीमे-धीमे गाते हुए बुहारती जैसे नाचती हो। परिन्दे चहचहाते शाखों और फूलों पर उतरते मानो साथ संगत देते हों।

आँगन की चारदीवारी सफ़ेदी से पुती थी और धूप चकत्ते में पीपल के पत्तों से गुज़रती ऐसे गिरती कि सब नया नकोर हलका होता, उजास से भरा, एक ठहरती सिमटी हुई खुशी जैसे ये पल कभी न गुज़रते हों इस इफ़रात समय में। भीतर के ठण्डे पत्थरों और भारी लकड़ी की दीवारों वाले दमघांटू कम्बल के अँधेरों से कितना अलहदा।

दिन-भर काम में फँसी सुबूही अबान के बारे में सोचती। उसकी आँखें ऐसे मुँदी छुपी क्यों थीं? क्या था उनके भीतर? सौ तालों में ढँका?

अबान से उसे उस अतर की याद आती जो वो लाया था। कितना गाढ़ा, तिलिस्मी, जादुई और सबके ऊपर जैसे किसी गुनाह से उपजा हो, कोई पोशीदा-सी बात हो। उसकी खुशबू ने रेशमी साटन-सी कसीदाकारी उसके दिल पर कर दी थी, जैसे मन्तर फूँका हो और उसका एक रेशा धुआँ था, एक क्रतरा रात का घना साया था। उसमें एक परत मोहब्बत का जज़्बा था और सौ सूत तलब थी। और सबके ऊपर उसकी पागल कर देने वाली दीवानावार खुशबू थी जो जाने किस गर्त से आती थी कि बेहोश कर देती, सिहरा देती ऐसी उम्मीद से कि उफ़्र, ऐसी ख्वाहिशों से जिन्हें कभी सोचने तक की तवक्को न की हो, रात की गहरी नींद के सपने तक में न देखा हो। उसका शरीर भारी हो जाता, जैसे कोई गाढ़ी शराब उसकी शिराओं में बह रही हो, उसका चलना मदहोशी का आलम था। लगता उसका बदन बह जायेगा, उस तरफ़ जहाँ वो सुगन्ध है, कोई खींचे लिए जाता था-जाने किस स्याह जादू-भरी दुनिया में, जहाँ आवाज़ फुसफुसाती-‘आओ, आओ जानेमन, आओ!’ और इस शिद्दत से उसे ‘वहाँ’ होना था, कि वहाँ बस अब इसी समय ‘यहाँ’ हो जाये, बस अभी इसी समय, वरना वो हज़ार टुकड़ों में टूटकर बिखर जायेगी, जैसे एक स्याह नदी, रेशम-सी उसके भीतर बहती थी। और चूँकि इस नदी की ज़द उसे मालूम न थी,

उसकी ताकत डरावनी थी, सुबूही ऐसी बेचैन जान हो जाती कि बेचैनी उसके भीतर किसी चील सी ऊपर-ऊपर चक्कर काटती तीखी तेज़ कटार होती जाती।

अब उससे बीबी के बगल में बैठा न जाता। वो क्रोशिया चलाते सुकून बिनना कहीं गुम गया था, अम्मा के साथ रसोई में बड़े देग में गोशत और बगेरी पकाते अम्मा की लगातार बुड़बुड़ पर मुस्कराना गुम गया था। सिर्फ़ जब वो दालचीनी और लौंग कूटती तो दरदरे टूटते मसाले से उठती खुशबू उसे वहीं ले जाती जहाँ अबान था जहाँ अतर की कस्तूरी जान थी।

उसके पास अतर का एक डब्बा है, अतरदानी, चन्दन की लकड़ी का जिसकी नक्काशी पीतल के सुनहरे तारों की है और कोने संगमरमर के। उसके भीतर नीले साटन पर इत्र की शीशियाँ सोती हैं। जब अतरवाला आता, सुबूही सबसे पहले भागती, इस बार कौन-सी नयी खुशबू लाये हैं बाबा मियाँ।

बाबा मियाँ सफ़ेद दाढ़ी वाले बुज़ुर्ग थे। बड़ी दूर से आते थे जहाँ समन्दर भी था और पहाड़ भी। उनके ठिकाने के पास देवदार, बेयार, शेगुल, बन पीपल, कनूर और बाँज के ऊँचे पुराने दरख्त थे और इन सबकी खुशबू का अर्क वो अपने साथ लिए आते। केसर, अखरोट, अंजीर, चिलगोज़े और रसभरियों की महक उसके अतीदान में घुसपैठ करती। समन्दर के झाग की नमकीन हवा, समुद्री वनस्पतियाँ, शंख और भीगा रेत बवण्डर मचाते, लहरों का गर्जन, मछलियों का तैरना, कछुओं की साँस, गुलाबी सेंधा नमक समन्दर से निकलकर अतर में समा जाता।

और जैसे-जैसे वो इत्रदानी खोलते एक-एक करके, जमा हुए लोग उस जगह पहुँच जाते जहाँ हवा साफ़, ठण्डी और कुरकुरी थी, जहाँ फ़िज़ा मीठी और मासूम थी, जहाँ फूल और पत्तियाँ त्वचा पर खिलते-खिलखिलाते थे।

ये रहा गुलाब, ये सुर्ख नारंजी, और ये रहा फिरदौसे अतर, और ये...उनकी आवाज़ भारी हो जाती, बाँहें खुल जातीं, जैसे जन्नत को आगोशवार कर रहे हों, अल हरमैन, जन्नते फिरदौस, ये कस्तूरी, ये मुश्के हिना, ये ज़र्दे आफ़ताब, बलूत, ये फ़ारसी शिफ़ायत, ये ईरानी गुलयास, और...उनकी आवाज़ अब फुसफुसाती...जैसे कोई नाटक का अहम पार्ट अदा होना हो...ये रहा सुफ़ैद धतूरा...अफ़ियुन काफ़ूरी।

कभी उनका एक भी इत्र न बिकता, कभी अब्बा मान जाते तो सुबूही अपनी पसन्द के उठाती कुछ। धीरे-धीरे साल-दर-साल उसकी अतरदानी भरती गयी। नन्ही शीशे की हीरे की कनी-सी चमकती इत्रदानियाँ जिसमें सबज़, फ़िरोज़ी, सुर्ख अतर झलमलाता। इन पारदर्शक झिलमिल शीशियों में जुगनू चमकते, तारे चमकते, याकूत और ज़मुर्द की कनी लश्कारा मारती।

सुबूही महक जानती थी, सचमुच जानती थी, उसका रेशा-गोशा पहचानती थी। उसको खबर थी कि उस इत्र में क्या सामान गया है, उसे पता था कि उस सामान का असर कितना मारक है। हाँ, उसे महक की पहचान थी, उसकी हर हरकत-मुरकत को जानती थी, उसके अँधेरों-उजालों को देख सकती थी, हर खुशबू से बात कर सकती थी, जैसे दरख्तों फूलों से बात करती, वैसे महक को छूती सूँघ सकती थी, जुबान पर उसका स्वाद चख सकती थी।

रात होते ही सुबूही एक-एक करके इत्रदानियाँ खोलती, हौले से नाक के पास अपने होंठों के ऊपर फिराती। हरेक इत्र अलग था, हर एक खास था, पर कोई भी अबान के लाये इत्र-सा नहीं था।

अबान का इत्र अलग दुनिया से था जो न जन्नत था न दोजख। बीच रात जब चाँद टहनियों पर झुक खिड़कियों के रास्ते कमरे में झाँकता, तब सुबूही उस अतर को निकालती, अपनी कलाइयों की उस नब्ज़ पर लगाती जहाँ से उसका दिल जुड़ा था, अपने कान के पीछे की उस नाजुक छुपी जगह पर मलती, अपनी कुहनी के भीतर उस नन्हे गड्डे पर टपकाती, फिर इन्तज़ार करती। एक सुलगन-सी लहक उठती, जैसे लोबान जला हो, उसका धुआँ छल्ले बनाता उठता और उसके बदन के हरेक पोर, त्वचा के हर इंच, उसके बदन के हर गुप्त कोने अन्तरे को भीतर सेंध लगाता ढँक लेता।

फिर हर सुराख के भीतर बहता, पहले उसकी नाक के भीतर, फिर त्वचा के भीतर किसी नदी-सा बहता और फिर एक ऐसा धमाका होता कि उसकी चीख निकल जाती। उसको पटक डालता, उठाता-गिराता, धमाल मचाता, उसके भीतर सब चीथड़े करता किसी बन्दूक की गोली-सा दनदनाता फट पड़ता। उसके भीतर एक लावा दहकता, सुर्ख लाल और फिर उसी तेज़ी से एक ठण्डा नीला ग्लेशियर सब जकड़ने लगता। फिर रंगों की बरसात होने लगती, हर रंग कुदरत की अलग खुशबू के आयाम बिखेरता।

दहकता जंगली आग-सा, शैतान, नटखट, रंगीला, चंचल, कामुक। हर एहसास को वो अपने भीतर गुज़रने देती एक के बाद एक, कभी सब साथ, और जब ये वक्रफ़ा गुज़रता, तब खुशबू उसके कानों में दाखिल होती और तब उसे परिन्दों के रात को रोने के स्वर सुनाई देते, हाथियों के चिंघाड़ने के, आदिवासियों के पूर्णमासी की रात को नगाड़े बजाकर रूहों के आह्वान के, लहरों के गरजने के, व्हेल मछलियों के गाने के, हवा के किसी चुड़ैल की तरह बीच दोपहरी के सुन्न सन्नाटे में चीखने के, पेड़ों के जंगलों में रहस्यमय तरीके से फुसफुसाने के, भीगे फिसलन भरे, सालन के देग में उबलने के, खुली आग के चरमराने के और सूफ़ियों के नात गाते किसी आदिम तन्द्रा में चले जाने के।

और जैसे इतना काफ़ी न था, खुशबू उसकी आँखों में झिलमिलाती और फिर उसे सिर्फ़ समा में नाचते जुनूनी दरवेश दिखते। फिर वो भी उन्हीं में एक हो जाती, गोल-गोल नाचती

बेकाबू बेहोश।

और फिर वो उसके होंठों को सहलाते, उसकी जीभ पर ठहरते, उसके मुँह में आबेहयात का स्वाद होता, इतना तीखा फिर भी कितना मुलायम, हलका-हलका जैसे कोई नूर, झलमलाता जैसे मलमल, फिर भी गाढ़ा जैसे शहद।

और अन्त में वो उसके बाग़-ए-बहार को छूता, मुलायमियत से जैसे झिझकता अन्दर आता हो। उसका मीठा कुआँ, उसकी गेहूँ की बाली, उसकी हरियर नर्म सरसब्ज़ मिट्टी, उसके भीतर का जगमगाता कोहिनूर। उसका शरीर किसी दर्द की ऐंठन में और किसी ऐसी लज़ज़त से बल खाता जैसे ये दुनिया यहीं ख़त्म हुई और दूसरी की झलक दिखती हो। दर्द किसी तीखेपन से उसे पहाड़ की चोटी पर ले जाकर पटक देता।

वो इस दर्द की लहर पर नाचती हुई किसी सुरूर के लुत्फ़ पर सवार झूमती है, रेशम, साटन, मलमल के तितली पंख से धागे और जबकि रात की स्याह चादर करोड़ों तारों से जड़ी है। उसका बदन धड़कता है, एक लहर फिर एक और फिर एक और। दालचीनी किसी ने धुँआया है, बलूत जलाता है कोई, आग रात में पीली गरम सुलगती है। उसका बदन ऐंठता है, एड़ियाँ कितनी दहकती लाल हैं, चेहरा कितना तमतमाया दमकता है, उसका बदन, उफ़फ़ कितना-कितना गर्म है, कितना-कितना नदी है, लज़ज़त के उस मुहाने पर खड़ी, उसके भीतर की चिड़िया एक अन्तिम उड़ान भरती है।

ओह कैसी थकन है, पसीने और अतर की खुशबू उसके सारे शरीर पर फैली है। नींद गाढ़ी है, अचानक गिरती है, अपनी आगोश में दबोचती उसकी पलकें बन्द करती, जैसे कोई आशिक़ बाँहों में समेट लेता हो। बिन सपनों की बेहोश नींद। और जब भोर का झुटपुटा होता है वो देखती है खुद को उस कमरे के किवाड़ खोलते, जो सौ बरसों से बन्द पड़ा था। वो दाखिल होती है और तुरत से कमरा उसे भीतर सोख लेता है। उसका बदन टुकड़ा-टुकड़ा टूटता, क्रतरा-क्रतरा समाता कमरे के बीचोबीच खिंचता है। ये अबान ही था जो उसे खींचता बुलाता था। ये कमरा लज़ज़त का था, शहवत का, बीबी ठीक कहती थीं, यहाँ शैतान का ही तो रहवास था, पुर शहवत शैतान।

नुसरत को आश्चर्य होता है। आज इस लड़की का रवैया कुछ फ़रक़ है। कुछ है जो उसकी नज़र में आता है फिर ओझल हो जाता है। दिन-भर मारथे में एक कील जड़ा उसे परेशान करता है।

फिर बीबी के पास बैठती नुसरत कहती है, “बीबी आज जी हलकान है, अच्छा नहीं लग रहा।”

बीबी दायें-बायें झूमती कुछ नहीं बोलतीं।

“बीबी सुबूही की बात है।”

बीबी अब भी झूमती हैं।

नुसरत कुछ देर बैठती है, उसका माथा चिन्ता की सलवटों से सजा है। फिर एक आह भरती उठ जाती है। सुबूही के अब्बा से तो इस बात को करना ही बेकार है, मर्दों को ये बातें कहाँ समझ में आती हैं, मोटी खोपड़ी वाले, औरतें फ़रक़ होती हैं, उनके भीतर जो दिल धड़कता वो किसी दूसरे संगीत पर थपकता है। उन्हें तब भी संगीत सुनाई देता है जब कुछ न बजता हो।

उन्हें बंजर चट ज़मीन में भी पानी मिल जाता है, सूखे में वो अनाज तलाश लेती हैं, काली अँधियारी रातों में भी उम्मीद की किरण देख लेती हैं। वो ख़ौफ़ज़दा माहौल में सुकून बोती हैं, दर्द में मरहम होती हैं, वो पूरी क़ायनात की दुश्वारियों और खुशियों का कोहसार होती हैं। तो इस तरह वो मुक़द्दस और सज़ायाफ़ता दोनों एक साथ होती हैं।

दिन बीतते हैं, एक-दूसरे में घुलते-मिलते, बिना रुके, बिना बदले कि हर दिन बिल्कुल एक-सा बीतता है और सारे दिन एक लम्बी यकसाँ चादर में तब्दील हो जाते हैं। सब कुछ बिल्कुल वैसा ही है जैसे होना चाहिए। खाना पकता है, घर की साफ़-सफ़ाई होती है, कपड़े धुलते हैं, आँगन बुहारा जाता है। फिर भी ये बीतता बहता नदी दिन जो ऊपरी सतह पर शान्त पुरसुकून दिखता है, भीतर क्या तूफ़ान छिपाये है, कौन जाने। और पहली बार इस तूफ़ान से अनजान है नुसरत। 'कुछ है' का अन्देशा है, पर 'क्या है' की बेचैनी है। किसे कहे, किससे बाँटे ये हौल दिल।

बस बीबी बाहोश होतीं। उनमें ज़ेहनी सफ़ाई होती, काश! फिर तो कोई मसला मुश्किल न था, सब उनके मशविरे से ठीक कर लिया जाता। बीबी तो सब जानती थीं, सौ परत भीतर और पेट के अन्दर पेंच को पकड़ लेतीं। फिर ताबीज़ बनातीं जिसका ऐसा असर होता कि सब परेशानियाँ उड़नछू हो जातीं। पर अब तो बीबी चन्द लम्हों को होश में आती हैं।

नुसरत फ़ातिहा पढ़ती है, बिस्मिल्लाह-हिर्-रह्मा-निर्-रहीम। या अल्लाह ये जो काला बीज मेरे दिल में धँसा है, कोई हौलनाक दरख़्त न बन जाये, बस एक साया ही हो, सच न हो, दूर निकल जाये मुझसे, दूर-दूर।

किसी से कहकर आयतल कुर्सी लिखवाकर ताबीज़ बनवाती है।

अल्लाह, मैं तेरी रहनुमाई में हूँ!

लेकिन ये नहीं पता कि इस ताबीज़ को पहनेगा कौन? फिर कुछ सोच सुबूही के कमरे के ताखे में छुपा देती है।

सुबूही जानती है हर रात अतर लगाने से खत्म हो जायेगा। एक घबराहट तारी होती है। अबान ने उसे उस स्याह नशीली दुनिया में किसी ऐयार के कमन्द-सा अटकाकर अन्दर

खींच लिया है, गड़प से। एक शदीद जिंसी ख्वाहिश से उसका जिस्म सिहरता है, ऐसे एहसास उसे लपेट लेते हैं जो ख्वाब में भी सोचना गुनाह है। लेकिन जब रात गिरती है, उसके बदन का कमल खिलता है। अबान अपनी ढँकी-मुँदी आँखों से उसे इशारा करता है।

ओह अबान, तो ये छुपाते थे तुम, अबान-अबान, सुबूही की आवाज़ थरथराती है चाहत की इन्तहाई से।

अगले दिन आँगन बुहारते हुए बीबी उसे पुकारती हैं,
“ऐ लड़की, इधर आ।”

उनकी आवाज़ साफ़ और मज़बूत है।

सुबूही बुहारना बन्द कर भौंचक देखती है उनको।

बीबी के पास ऐसी जानकार नज़र है, सुबूही की हथेली को अपनी हथेलियों में ज़ोर से दाबकर मुस्कराती हैं। दालचीनी की महक उनके बीच नाचती है।

मैं भी तेरी तरह थी लड़की। अतर के अँधेरे रहस्य हैं, जादू-टोना है। मेरे पास भी था। पर देखो, वो कमरा बन्द है अब।

सुबूही की साँस जाल फँसी चिड़िया है।

बीबी अपनी कमर में खोंसे किसी छुपे बटुए से एक चाभी निकालती हैं-

“लो, ये तुम्हारा हुआ अब से।”

चाभी पीतल की है, भारी और नक्काशीदार, अकेली।

“ऐ लड़की कुछ मीठा खिलाओ, कितनी देर से कुछ खाया नहीं, जा ला मेरे लिए।”

फिर झूमती हैं, मुँह-मुँह में कुछ अटपटा गुनगुनाती हैं, सुबूही को अनदेखी आँखों से देखती हैं। बेहोशी की चादर फिर से तन गयी है। उनके झूमने की गत बढ़ती है, पगलाई-सी।

रात जब पूरा घर नींद की गुफा में दफ़न है, सुबूही दबे पाँव उठती है। ऊपरी मंज़िल के गलियारे के अन्तिम सिरे कमरा इन्तज़ार में गुपचुप खड़ा है, बरसों से। ताला कब से खुला नहीं बकरी साल, हाथी साल, चील साल; पर ग़ज़ब, चाभी ताले में ऐसे घूमती है जैसे हर रोज़ बीस मर्तबा खोला बन्द किया जा रहा था।

अगले दिन अबान अचानक बिन खबर आ धमकता है।

अपने साथ एक ख़ूबसूरत डब्बा लाया है, इत्रदानियों से भरा। सुबूही उसे देखती नज़रें बचा-बचाकर मुस्कराती है।

उसका बदन एक अलग लय में डोलता है, उसके कूल्हे अलग गोलाई लिए हैं आज, उसकी गर्दन तनी हुई है जैसे एक हिरणी, उसकी कलाइयाँ, उसकी बाँहें, हवा में ऐसे फैलती हैं जैसे किसी को आग़ोश में भर लेने को आतुर हों, उसकी छाती फैलती, कुर्ते पर तन जाती है, उसके गाल पके फल की तरह तमतमा जाते हैं, गुलाबी, दमकते, फट पड़ने को तैयार अनार।

उसका डर निकल गया है। अबान को देखती उसकी नज़रें बेखौफ़, बरजोरी की हैं। अबान उसे अपनी भारी आँखों से देखता है। उनके बीच आग लहक जाती है।

न, अब उसे कोई खौफ़ नहीं।

कहीं और कोई और जगह या समय नहीं, बस यही जगह, यही समय है। जैसे उस बन्द कमरे से डरती थी कि मौत का कमरा है, बीमारी और पागलपन का कमरा है। पर न, वो तो सिर्फ़ एक कमरा था, बीबी के कमरे जैसा, गहने और खूबसूरत चीज़ों से अटा हुआ, उनका बड़ा काठ का सन्दूक जिसमें साटन की सलवार, रेशम का शरारा, मखमल के चादर, चाँदी और सोने के पाजेब, कामदार चूड़ियाँ। वो सब जो उन्होंने शौक से अपनी जवानी में ओढ़ा-पहना, सरियाया होगा।

उस कमरे में फुसफुसाता अँधेरा था, नीम बेहोशी थी, इत्र की खुशबू से गमकता, पाजेब की रुनझुन से बजता। किसी की गाढ़ी शहद भरी, मनुहार भरी आवाज़ धीमे से टेरती, नशे और सुरूर में,

मैंने लाखों के बोल सहे, सितमगर तेरे लिए

वो कमरा नशे और सुरूर की जगह थी, डोलती अँगड़ाइयों की, तृप्त-अतृप्त लालसाओं की, उस वर्जित सेब की, साँप की, पसीने और हरारत की, किसी के होंठों के स्पर्श की, उस मादक एहसास की, दीवानावार मुहब्बत की। एक नीला नशा डोलता जिसमें बदन अपनी हड्डें पार कर लेना चाहता, बाँहें शिथिल पड़ जातीं, आँखें मुँद जातीं, पलकें भारी हो जातीं, एक तन्द्रा, एक बेहोशी, एक पोशीदा चाहत कि कोई छू भर ले, कि सब टूट-टूटकर बिखर जाये, बस। अबान की देह उसकी देह से लगी एक साँस एक लय में हिलती, काँपती, थिरकती। ये सच था कि झूठ, छलावा था कि जादू। ओह! कोई शरीर ऐसा होता है? कठोर और नर्म एक साथ? ये कैसी खुशबू है? ये गोल-गोल चकरघिन्नी खाता दिल? ये किसका है? ये हाँफती-भागती रेल? किसकी है? कौन है? ये सीटी बजती, ये समन्दर पछाड़ खाता मेरी चट्टानों पर, ये हवा जो सहला जाती पूरे जिस्म को, ये सपना, इस सपने में अबान का होना, उसकी जलती आँखों की लपट? उसके गले की साफ़ त्वचा, उसकी उँगलियाँ, उसके कान के लाल लौ, उसके जिस्म की मर्दानी खुशबू, उसकी बाँहों की कसावट? ये सच में है कि ख्वाब की दुनिया?

ये कमरा उसके पागलपन की पोशीदा दुनिया है, यहाँ अबान है, उसका अतर है, सब छुपा है दुनिया से, सब खुला है, उससे। तो ये था कमरे का रहस्य।

फिर वो अबान को देखती, शर्मिलेपन से नहीं, संकोच और झिझक से नहीं बल्कि उस जानकारी से जिसमें उसे अपनी ख्वाहिशों की लज़ज़त समझ आ गयी हो।

मुझे ले चलो, जल्दी, यहाँ से दूर, जाने किससे फुसफुसाती कहती वो अबान के बगल से गुज़र जाती है।

सारे आशिक्र कुर्बान बरबाद हुए मोहब्बत में।
फिर भी जिसने इस वर्जित फल को न चखा उसे दुनिया में क्या हासिल?

एक रात

-जयश्री रॉय

“चौदह वर्ष की अवस्था में मेरा पहली बार बलात्कार हुआ था।” टकीला का छोटा-सा पैग एक ही घूँट में गले से उतारते हुए उसने एक भयावह लापरवाही के साथ यह बात कही थी। सुनकर मेरे भीतर एक सनाका-सा हुआ था। भूना काजू टूँगते हुए एकदम से गले में अटक गया था। खाँसते हुए बड़ी मुश्किल से पूछ पाया था-“यानी...?” पर पूछते ही, अपना यह सवाल मुझे स्वयं ही बहुत अश्लील जान पड़ा था। मगर उसके चेहरे की मुलायम रेखाओं में कोई शिकन न देखकर दूसरे ही पल निश्चिन्त हो गया था।

“बलात्कार यानी मेरी सुहागरात! यही खूबसूरत नाम दिया है न इसे हमारे समाज ने?” मुँह बनाकर नीबू की फाँक चूसते हुए उसने कहा था। उस क्षण उसकी पारदर्शी त्वचा के नीचे कुछ नील जैसा झलक आया था। उसके प्रश्न का जवाब न देकर मैं टकीला की बोतल उठाकर कई घूँट एक साथ गटक गया था, हालाँकि उस समय मुझे पानी की तलब हो रही थी। तेज़ाब की एक सुनहरी नदी मेरी शिराओं में चिनगारी फूँकती चली गयी थी और यकायक मेरे सामने बैठी मन्दिरा का चेहरा केसर हो उठा था।

किस बेतकल्लुफी से हम दोनों इस समय एक साथ इस निर्जन डाकबँगले में बैठे हैं, जैसे हमारा वर्षों का परिचय हो, जबकि यथार्थ में हमारा परिचय कुछ ही घण्टे पुराना है। गर्मी की छुट्टी के सात दिन इस रिज़र्व फॉरेस्ट में बिताकर आज ही शाम मेरी पत्नी बच्चों के साथ घर लौट गयी है। मैं दो-चार दिन और यहाँ रुककर अपनी किताब पूरी करना चाहता था। मन्दिरा देर शाम को यहाँ आयी थी, अपनी छुट्टी का आखिरी दिन वह भी मानिकेरी के इस छोटे-से डाकबँगले में बिताना चाहती थी। कल दोपहर की फ़्लाइट से उसे मुम्बई लौट जाना है। फिर वहाँ से सीधे लन्दन, जहाँ उसके अनुसार वह अपने चित्रकार प्रेमी के साथ विगत तीन वर्षों से रह रही थी।

मुझे पहली ही नज़र में वह अद्भुत लगी थी। उसकी गहरी कत्थई आँखों में कुछ ऐसा था जिसे सम्मोहन कहा जा सकता है। अधिकतर वह अपनी आँखों से ही कहती-सुनती और मुस्कराती थी। यह बात मुझे विलक्षण लगी थी। थोड़े ही समय में वह मेरे सामने किसी किताब की तरह खुल गयी थी। जैसे हम दोनों एक-दूसरे को हमेशा से जानते हों। बक्रौल उसके, आज की रात उसने मुझे अपने कन्फ़ेशन के लिए चुना था और मैं अब तक

यह तय नहीं कर पाया था कि इसके लिए मुझे खुश होना चाहिए या उसके प्रति कृतज्ञ। और अब अपनी आपबीती का आरम्भ उसने जिस विस्फोट के साथ किया था, उससे मैं एक तरह से स्तम्भित रह गया था।

एक वर्ज्य के दुवार आकर्षण में राख कुरेद कर आग ढूँढ़ते हुए मैंने उसे टटोला था-“फिर?”

“फिर...” काजू की तश्तरी को अनमनी-सी अपनी ओर सरकाते हुए उसने मेरा प्रश्न दोहराया था और फिर यकायक सजग होकर मेरी तरफ़ देखकर हलके-से हँसी थी। उसे इस निस्तब्ध रात में सुनते हुए यकायक मुझे अहसास हुआ, उसकी हँसी टूटे हुए घुँघरू की तरह थी, छनछनाकर हर कोने में बिखरती हुई...

“फिर क्या, पूरी बिरादरी खा-पीकर मस्त थी और शहनाई की गूँज में मेरा रुदन दब गया था। मेरे अपने ही मुझे उस कमरे में कैद कर गये थे जिसमें बिछी सेज पर फूलों की सुगन्धित पंखुरियाँ बिखरी हुई थीं।” एक क्षण रुककर वह फिर जैसे स्वयं से ही मुखातिब होते हुए रुक-रुककर बोली थी-

“अपनी इत्ती बड़ी नथ से जूझते हुए तब मुझे पता नहीं था कि थोड़ी देर बाद उसी सेज पर अपनी सुगन्ध हमेशा के लिए खोकर एक नुचे-कुतरे फूल की तरह पड़ी रहूँगी। एक डरावनी सूरत वाली बुढ़िया मेरे घुँघट में अपनी गिद्ध जैसी आँखें धँसाकर मुझे चेता गयी थी-“यह सेज ही हम औरतों की सनातन चिता है बिट्टी! सीता मैया की तरह हर औरत को इस पर अपना सतीत्व सिद्ध करने के लिए अग्निपरीक्षा देनी पड़ती है...तेरे पुरखों की लाज अब तेरे हाथों में है!”

“मुझे काटो तो खून नहीं! मामू की चुम्मी, बचपन में दूसरे बच्चों के साथ गर्मी की दोपहरों में ‘डॉक्टर-डॉक्टर’ खेल और मास्टरजी की दुलार भरी धौल-धप्प-सब एक साथ याद आ गये थे।” अब वह खुलकर हँस रही थी। हवा में बजते हुए जलतरंग की हलकी ठुनक को महसूसते हुए मैं चुपचाप बैठा रहा। कुछ बोलकर मैं इस क्षण के तिलस्म को तोड़ना नहीं चाहता था। वह मेरे लिए सचमुच स्वप्न-सा पारदर्शी कुछ रच रही थी। मैं बिल्कुल मन्त्रमुग्ध था।

“एनीवे...” अपने पैर सामने की मेज़ पर रखते हुए उसने अपनी आँखें मूँद ली थीं-“अपने बारह गजी लहंगे के जगर-मगर घेर में अपने पूर्वजों की भारी-भरकम लाज समेटे आधी रात तक मैं उनींदी आँखों से दीवारों पर जड़ी तस्वीरों से झाँकती बालिशत भर करारी मूँछें तकती रही थी और न जाने कैसे उनकी गुस्सैल आँखों के नीचे ही एक समय मेरी आँखें मूँद गयी थीं। इतना कहकर वह एक बार फिर चुप हो गयी थी। उसके चेहरे की गहरी होती रेखाओं को देखकर प्रतीत हो रहा था कि वह अपने ही अन्दर की किसी यन्त्रणा भरी यात्रा में कहीं दूर निकल गयी है। अप्रैल की हवा में सितारे घुले थे, क्षितिज की

साँवली उजास में हलका-सा मोतिया आब था, चाँद से अबरक झड़कर रात गोरी हो आयी थी।

उसके आँखें खोलने तक मैं अधीर प्रतीक्षा में चुपचाप बैठा रहा था और फिर एक समय न जाने वह कैसी आवाज़ में बोली थी, “भोर होने से कुछ पहले शराब, इत्र और पान-ज़र्दे की तीखी, तुर्श गन्ध से मेरी आँख खुल गयी थी। मेरे सामने छह फुट का अधेड़ दूल्हा अपनी जपा फूल जैसी लाल, मद्यप आँखों से लार चुआते हुए खड़ा-खड़ा नाग-सा झूम रहा था। मेरा चोली में धड़कता दिल और लहंगे में पूरे खानदान का सम्मान एकबारगी थरथरा उठा था। इससे पहले कि मैं कुछ कहती या समझती, वह किसी आदमखोर की तरह मुझ पर हमला कर बैठा-अपनी पशुवत् कठोरता के साथ बुरी तरह मुझे बेधते हुए! उस क्षण की पीड़ा और आतंक की अभिव्यक्ति किसी भी शब्द में सम्भव नहीं...”

एक क्षण ठिठककर अपने लरजते हुए शब्दों के साथ वह इस तरह आगे बढ़ी थी, जैसे कन्धे पर मय्यत उठाये हुए हो, “अपनी रोमस जाँघों के नीचे जाँत कर वह मेरी देह के सारे अविकसित फूलों को रौंद, मसल रहा था और मैं चीख भी नहीं पा रही थी। जानती थी, मुझे बचाने कोई नहीं आयेगा। सीता बनना इतना आसान नहीं था! मेरी माँ, उनकी माँ, नानी-सभी सीता की परम्परा की स्त्रियाँ थीं और अब उनसे मिले इस उत्तराधिकार का निर्वाह तो मुझे करना ही था। दर्द की एक काली नदी में शनैः-शनैः डूबते हुए मैंने सुना था, नीचे के हॉल में सबकी वाहवाही के बीच बनारस की हुस्न बानो अपनी मर्दानी आवाज़ में गा रही थी-तेरे प्यार में बड़ा दर्द है रे बेदर्द...उस दिन दर्द की परिभाषा कोई मुझसे पूछता तो वह हमेशा के लिए बदल कर रह जाती।”

“दूसरे दिन सुबह-सबरे ससुराल की सभी बड़ी-बूढ़ियाँ हमारी सुहाग-सेज का मुआयना कर रही थीं और मैं एक कोने में सिमटी-सिकुड़ी बैठी किसी आसन्न वनवास के भय से मरी जा रही थीय क्योंकि मुझे पता था, यहाँ अग्निपरीक्षा में खरी उतरने के बाद भी सीताओं को वनवास मिल जाता है! बिस्तर पर जो खून के धब्बे मिले थे वे मेरी देह से ज़्यादा मेरी आँखों से निकले थे और वे बूढ़ी औरतें इस बात की खुशी मना रही थीं। एक पुरुष के अहंकार की जय और स्त्री के पराजय का उत्सव उस दिन उन सनातन दासियों ने खूब मनाया था।”

देर तक बोलते हुए अब शायद वह सचमुच थक गयी थी और उसकी यह थकान मानसिक ज़्यादा प्रतीत हो रही थी। मैं बैठा हुआ उसकी गहरी साँसों की आवाज़ सुनता रहा था। बहुत पहले मैंने एक हलाल हुए जानवर को देर तक छटपटाने के बाद धीरे-धीरे मरते हुए देखा था, तब वह कुछ इसी तरह साँसें ले रहा था। उस स्मृति की मटमैली छायाएँ मुझे आज भी समय-असमय बोझिल कर जाती हैं। अपनी डूब से उबरकर मैंने शान्त जल में हलके-से कंकड़ मारने की तरह पूछा था-“हो गयीं खत्म आपकी बातें? एकदम से चुप हो गयीं...”

उसने अपनी तन्द्रालस आँखें खोलीं और मेरे पार देखती हुई जैसे नींद में बोली-“कभी-कभी चुप रहकर ही सही अर्थों में बोला जा सकता है, विशेषकर तब जब मन की गहनतम भावनाएँ भाषा से परे हटकर स्वयं को निःशब्द व्यक्त करना चाहती हैं। ऐसे में भाषा की विडम्बनाओं और सीमाबद्ध सत्यों से परे होकर शब्द एकदम अर्थहीन हो जाते हैं और फिर, हम दोनों का यूँ लगातार बोलना किसी सत्य को छूने से बचने की एक बचकानी कोशिश जैसा लगता है जो शायद हमारे चुप होते ही मुखर हो उठे।”

अपनी बात समाप्त करते हुए उसने मुझे फिर उनींदी आँखों से देखा था। वह मुझे मेरे आर-पार देख रही है, ये उसकी तरल हो आयी चावनी से स्पष्ट था। मैं अनायास अपनी शिराओं में पिघले हुए शीशे का बहाव महसूस करने लगा था। उसके सूक्ष्म संकेत मेरे कपड़ों के अन्दर पहुँचकर मेरी त्वचा को छूने लगे थे शायद। अपनी असहज होती देह रेखाओं के प्रति सचेत होते हुए मैं संकोच से घिरने लगा था। मेरे आत्मसंयम से परे जीवन का आदिम उत्सव अपना चरम चाहता है। एक बनैली चाह रगों में जंगली बिल्ली-सी गुर्राने लगी है।

यह निशिगन्धा-सी रात और सागौन के दैत्याकार घने पेड़ों के पीछे से झाँकता शुक्ल पक्ष का आधा चाँद...मैंने पलाश की सुलगती डालों पर रात के किसी पंछी की झटपटाहट टोहने का भान करते हुए अपनी दृष्टि फेर ली थी।

मेरी झिझक पर मुस्कराते हुए उसने मेरे बायें कन्धे पर हलके-से हाथ रख दिया था-“क्या हुआ...झेंप गये? अच्छा, यदि तुम मेरा मौन गा सकते हो तो क्या मैं तुम्हारे गीतों की खामोशी नहीं सुन सकती! ऐसा तो आज की रात हमारे बीच कुछ बँध ही चुका है जिसे रिश्तों का टैग लगाये बग़ैर जिया जा सकता है, ढोने की विडम्बना से परे होकर...”

उसके इंगित बहुत विलक्षण हो उठे थे, मेरे भीतर मधुमालती की कड़वी-मीठी गन्ध के साथ किसी ग्लेशियर के निःशब्द दरकने की धीरे-धीरे फैलती हुई कम्पित तरंग थी। इससे पहले कि मैं कुछ कह पाता, उसने अचानक प्रसंग बदला था-“कहो, क्या लिखते हो?”

“ज़िन्दगी, और क्या!”

“कागज़ों में छपी ज़िन्दगी...या कागज़ी ज़िन्दगी...इतने सारे स्वप्नों, उच्छवासों, दर्द और संवेदनाओं की एक पूरी दुनिया और उनका कुछ पन्नो का अनुवाद, बस! क्या तुम्हें कभी ऐसा नहीं लगता कि यदि एक सफल कहानी के लिए एक पूरी ज़िन्दगी का विफल हो जाना अनकही शर्त है तो फिर ऐसी कहानियों का जन्म न लेना ही बेहतर है? किस-किस के मृत सपनों पर तुम लोगों के ये कागज़ी राजप्रासाद खड़े होते हैं! जीवन की विडम्बनाओं को नक्रद करके तुम लोग अपनी आजीविका चलाते हो, कागज़ की ज़मीन पर लफ़्ज़ों के व्यापारी हो...कभी यह अहसास तुम्हारी रात की नींद खराब करता है, सच कहना।”

उसकी कड़वी-कसैली बातों में हर रचनाकार के जीवन की विडम्बना छिपी है, यह मैं उसे बता नहीं सकता था। शायद उसकी तरह मेरे कन्फ़ेशन का समय अभी नहीं आया था।

मैंने एक तटस्थ-सा बयान देने का प्रयत्न किया था-“हाँ, जीवन को शब्द देना...”

“मगर तुम लेखकों को शब्दों, संवेदनाओं की क्या कमी, इमोशन के गोदाम होते हो, जब भी चाहो लज़ज़तदार शब्दों का ढेर लगा दो-रेडीमेड, ताज़े, ओवन फ्रेश! रुपये के दस, अच्छा चलो, बारह ले लो।” कहते हुए कौतुक में उसकी आँखों की पुतलियाँ झिलमिलाने लगी थीं।

“नहीं, ऐसा नहीं, हमारे भीतर नदी होती है तो पत्थर भी होते हैं। मन ऐसा कोई टकसाल होता तो किल्लत पड़ते ही छाप लेते हरे-हरे नोट की तरह करारी संवेदनाएँ...”

मेरी बात सुनकर वह खिलखिलाकर हँस पड़ी थी। मुझे लगा था, एकदम से रातरानी फूल गयी है! तन्द्रिल हवा उसी की मदिर गन्ध से बोझिल हो रही है। मैंने घड़ी देखते हुए कहा था-“हम खा लें?”

“अरे यार! तुम वन की इस निबिड़ दुनिया में भी अपना समय उठा लाये! चलो, इस यन्त्र को यहीं उतार फेंको और आज की रात को यहीं ठहर जाने दो-हमेशा के लिए! ...इस आधे चाँद और नीली हवा में गुँथी आदिम चाहना की गन्ध के साथ, लिबास और मुखौटों की दुनिया से दूर, त्वचा पर अपना खालिस मन ओढ़े, ईप्सा के अतर में सराबोर, किरणों की गीली पगडण्डियों पर महुआ मदालस हवा की तरह...”

मैं समझा था, टकीला के नन्हे पैग अब उसके अन्दर बड़े हो रहे थे। वह बहक रही थी।

“मैं तो काजू टूंगकर गले तक भर गयी हूँ। क्यों न हम थोड़ा चलें? ये साल, सागौन, महुआ, करम की आदिम, अभेद्य दुनिया हमें बुला रही है। दूर से आते सान्थालों के मादल की ‘धप-धप’ और हवा में महुआ की मदिर गन्ध...” वह अपनी दोनों बाँहें फैलाकर किसी राजहंसिनी की तरह अपनी मराल ग्रीवा तानकर खड़ी हो गयी थी। मुझे प्रतीत हुआ था, चाँदनी रात में ताजमहल देख रहा हूँ। वही जमुना की नीली धारा की गवाही में ख़्वाब और मुहब्बत से रची गयी संगमरमर की उजली कहानी-हमेशा की तरह ख़ूबसूरत मगर बेतरह उदास भी! मैं एक गहरी साँस लेता हूँ।

वह चलते-चलते रुक गयी थी-“क्यों, नहीं चलोगे?”

“जो तुम ले चलोगी...” मैं एक पुराने गीत के बोल गुनगुना गया था। चलते हुए अन्दर कोई अजनबी आवाज़ में बोल रहा था, तुम्हारे साथ मैं जीवन के पार तक चलने को तैयार हूँ, फिर ये आकाश और धरती क्या! अपनी इस सोच पर मुझे खुद ही हैरत हो रही थी।

“तुम शायद सोच रहे हो, इस समय हम कहाँ जा रहे हैं।” वह कभी मुझे आप तो कभी तुम कहकर सम्बोधित कर रही थी।

“आप जैसी कोई शख्सियत साथ हो तो चलना अहम हो जाता है, मंज़िल या मक़सद नहीं!”

“अब आप कविता करने लगे!” वह हलके-से हँसी थी और उसी क्षण उसके चेहरे पर चाँद उतर आया था। मैं उसे रात की ओट में देखता रहा था। आसपास फूलते किसी अनाम

जंगली फूल की तीखी सुगन्ध मुझे अन्दर तक बेसुध कर गयी थी।

ग्रीष्म ऋतु में कोयल नदी की धार क्षीण हो आयी है। उसकी चाँदी की जंजीर-सी पतली धारा रात के फीके अन्धकार में लगभग निःशब्द बह रही थी। आसपास फैली रेत की सफ़ेद राशि में अबरक़ के असंख्य कण चाँद के आलोक में जुगनू की तरह टिमटिमा रहे थे। यहाँ पहुँचकर एक बड़े पत्थर से टेक लगाकर वह पैरों से पानी छपछपाने लगी थी। ऐसा करते हुए उसके चेहरे पर किसी बच्चे की-सी मासूमियत झलक आयी थी। मैं इस क्षण की मासूमियत को मन के किसी अदृश्य कैमरे में कैद कर लेना चाहता था मगर वह फिर एक गम्भीर सवाल कर बैठी थी-“क्यों प्रणय, अपने विवाहित जीवन से खुश हो?”

मैं चुप रहना चाहता था, मगर बोलना पड़ा था-“हाँ! सबकी तरह मैं भी खुश हूँ...”

“सब की तरह! ये अच्छी बात कही तुमने!” मन्दिरा ने ताली बजाई थी, हँसते हुए।

मैंने उसकी बात अनसुनी कर दी थी-“अब कोई उम्मीद नहीं करता, सही या ग़लत। तो बहुत कुछ सहज हो गया है। उम्मीद में जीना बहुत कठिन होता है...अब सोचता हूँ, कोई ग़लत नहीं होता, बस हमारी उम्मीदें ग़लत होती हैं।”

वह घुटनों तक पानी में डूबी दोनों हाथों से पानी उलीचती रही थी, जैसे मेरी बातें उस तक पहुँच ही न रही हों। थोड़ी देर बाद फिर पूछा था-“कभी प्यार किया है किसी से क़ायदे से?”

“क़ायदे से! वह भी प्यार...!” अबकी बार मैं हँसा था। मगर वह गम्भीर बनी रही थी। तो मुझे भी होना पड़ा-“हम तो क्या करते या न करते प्यार-व्यार! प्यार तो अपनी मर्ज़ी का मालिक होता है। दरअसल प्यार आपको चुनता है, आप प्यार को नहीं। और जब यह आपके जीवन में घटित होता है, आप बस इसके साथ हो लेते हैं। इसके सिवा आपके पास कोई दूसरा विकल्प होता ही नहीं। प्यार हमारे चाहने न चाहने पर निर्भर नहीं करता मन्दिरा, ना ही यह कोई निर्णय होता है! अन्दर एक इशारा होता है और बस, हम चल पड़ते हैं, इस पर खत्म होकर पूरे होने के लिए या फिर ठीक इसका उलटा भी। प्रेम की यात्रा में सिर्फ़ यात्रा होती है, कोई मंज़िल नहीं! मंज़िल का अर्थ ठहराव होता है और प्यार में ठहराव आ जाये तो वह प्यार नहीं रह जाता, उसकी समाधि बन जाती है! कहीं पढ़ा था, प्रेम चाँद की तरह होता है, जिस दिन वह बढ़ना बन्द हो जायेगा, घटना शुरू हो जायेगा!”

मेरी बात सुनते हुए मन्दिरा अनमनी-सी गुनगुनाती रही थी- “न ये रुकती है, न ठहरी है, न ठहरेगी कभी, नूर की बूँद है, सदियों से बहा करती है...” उसके साथ मैं गा रहा था मगर चुप था। मन्दिरा ने सुना था मुझे। “हमने देखी है उन आँखों की महकती खुशबू...” उसने न जाने कैसी स्वप्न भरी आवाज़ में आगे की पंक्तियाँ पूरी की थीं-“तुम ठीक कहते हो...” कहते हुए उसका मोतिया आँचल हवा के झोंके से यकायक ढलक गया था और इसके साथ ही आकाश का आधा चाँद उसके सीने के दो पूरे चाँदों पर जगमगा उठा था। पीछे के बूढ़े बरगद पर रात के कई पंछी एक साथ बोल उठे थे। मैं भूला-सा उसे देखता रह

गया था। अन्दर एक श्रृंखलाबद्ध पशु अपने बन्धन से जूझ रहा था। उसकी छटपटाहट मुझे अस्थिर कर रही थी। मगर वह इस सबसे अनजान कह रही थी-“प्रेम हम में घटित होता है, हम प्रेम में होते हैं, ठीक जैसे जीवन हमारे भीतर होता है, किसी दैवी शक्ति से, हमारे चाहने या न चाहने से नहीं। इस प्रेम का वितरण भी हमारे अधिकार में नहीं होता। कोई कहीं होता है अदृश्य, जिसके संकेत से हम इसे सौंप देते हैं उसे, जिसका यह प्राप्य होता है। हमारा प्रेम किसी की सनातन थाती है। हमें तो बस इस अमानत को सम्हालना होता है...”

“मगर अपना सब कुछ देकर भी इस प्रेम को जीवन में कहाँ रोक पाया!” मेरी आवाज़ में न जाने क्या था कि वह उठकर एकदम से मेरे कन्धे से लग गयी थी-“प्रेम को बाँधना चाहोगे तो वह एक दिन ज़रूर खो जायेगा। बन्धन में भी कभी बँधा है प्यार! वह तो हवा की उँगलियों में उलझी खुशबू का झोंका है, मुक्त होकर दूर तक फैलती है मगर मुट्ठी में बन्द होकर मर जाती है...”

“नहीं, ऐसा नहीं है कि मेरी ज़िन्दगी में कुछ भी नहीं है। है बहुत कुछ है!” अपने एक क्षण की दुर्बलता के लिए अब मैं शर्मिन्दा हो रहा था।

“हाशिये में ठिठके रिश्ते भी हमारे जीवन का हिस्सा होते हैं। चाहे यह हिस्सा कितना ही छोटा क्यों न हो। मगर हाँ...” अब वह मेरी बाँहों में कुछ अदृश्य शब्द लिख रही थी और मेरे अन्दर की एक आवेग भरी नदी अपना तटबन्ध तोड़ बह निकलने को आमादा हो रही थी-“कृष्ण की तरह सब में बँटकर भी सबके हिस्से में पूरा-पूरा आ सको तो देने का सुख जान सको। सब में बँटकर खत्म हो जाना उदारता नहीं, अपने भीतर का कंगालपन है!”

मैंने महसूस किया था, एक आदमक़द आईने के समान वह पूरा सच बोलती है। उसके सामने किसी झूठ के लिए कोई गुंजाइश नहीं बचती। न जाने चोट पहुँचाने की किस आदिम, हिंस्र इच्छा के वशीभूत होकर मैंने अनायास पूछ लिया था-“और आप...? सिर्फ़ बलात्कार ही झेलती रहीं या कभी प्रेम-द्रेम भी किया, बकौल आपके-क्रायदे से?” कहते हुए मुझे लगा था, चाँद सफ़ेद शव की तरह उसकी पुतलियों में उतर आया है। उसी समय आसमान पर रात के ढेर सारे पंछी अपने पंख फड़फड़ाते हुए सिर के ऊपर से उड़ते हुए गये थे। मेरे भीतर कहीं गहरे एक कच्ची दीवार-सी अनायास बैठ गयी थी। वह एक ही क्षण में आत्मीयता का हाथ छुड़ाकर जैसे मीलों दूर चली गयी थी। फिर न जाने कितनी सदियों बाद उसने अजनबी-सी आवाज़ में कहा था-“हाँ! प्रेम मेरे जीवन में भी आया था। जब मैं प्रेम में थी, ज़ाहिर है, बहुत अच्छी थी। प्रेम आपको मुकम्मल ही नहीं, बहुत अच्छा भी बना देता है। मगर...एक भूल हो गयी-लालच कर बैठी! प्रेम को अपने वश में करना चाहती थी! उस पर अपनी मिलिक्यत चाहती थी! लॉकर में बन्द कर सुरक्षित महसूस करना चाहती थी! कुछ चीज़े सिर्फ़ बाँटने से, शेयर करने से बढ़ती हैं, यह बात भूल गयी थी। इसका प्रायश्चित्त भी किया-इसे बिना शर्त अपना सर्वस्व दे दिया। तुम हैरान होकर मेरी बात सुन रहे हो मगर प्रेम में इसी तरह सब लक्षणा में होता है-खोकर पाना, देकर लेना, तुम यह सब

नहीं समझोगे। शब्दकोश के अर्थ से जो प्रेम को समझते आये हो अब तक। अच्छा, जो परिभाषित हो जाय वह प्रेम कैसा! यह तो गूँगे के मुँह में धीरे-धीरे घुलती हुई गुड़ की ढली है!"

कुछ देर चुप रहकर फिर जैसे उसने खुद से ही कहा था- "मैंने रुक्मिणी होकर सहेजा है, राधा होकर आराधा है और मीरा होकर त्यागा है मगर...हर रूप में बस पाया ही पाया है। अपने इष्ट को पूरी तरह समर्पित हुए बिना उसे पूर्णता में पाया नहीं जा सकता। ...यह हर औरत का सच है। चाहे वह माँ हो, बहन हो या कि प्रेयसी!"

न जाने किस अधिकार भाव से भरकर मैंने उसे अपनी बायीं बाँह में भरकर डाकबँगले की ओर लौटना शुरू कर दिया था। वह भी बिना किसी प्रतिवाद के मेरे संग चुपचाप चल पड़ी थी। इस सामीप्य से उसकी देह की हलकी आँच मेरे शिराओं में बह आयी थी। नासिकापुटों में स्त्री देह की मादक गन्ध थी। कहीं भँवरा फूलते हुए जंगली फूलों पर मँडरा रहा था। रात की पलकें धीरे-धीरे भारी हो आयी थीं। मैंने उसे अपने और करीब खींचते हुए गहरी आवाज़ में पूछा था- "ज़िन्दगी की सबसे खूबसूरत रात का एक हादसे में तब्दील हो जाना आपके अन्दर सब ऊसर कर गया होगा, सच बताइए, उसके बाद देह का सुख, स्वाद क्या आपके लिए एकदम से वर्जित हो गया है?"

मेरे इस प्रश्न में कई प्रश्न छिपे हैं, शायद वह भी समझ रही थी, तभी मुझसे यकायक परे हो गयी थी- "ऐसा क़तई नहीं है! सेक्स मेरे लिए देह से की गयी प्रार्थना है। ऐसी प्रार्थना जो दो शरीर दो हथेलियों की तरह एक साथ जुड़कर एक ही छन्द, लय और ताल में एक ही उद्देश्य से करते हैं- उस बन्धन में जो योग और अर्द्धनारीश्वर है और उस मुक्ति के लिए जो बुद्ध का निर्वाण या आशुतोष का ध्यान है। प्रेम में घटित हुआ सम्भोग बन्धन में अपनी मुक्ति तलाश लेता है और हर मुक्ति को अपना आलिंगन बना लेता है।"

अपनी बात समाप्त कर वह थोड़ी देर चुपचाप चलती रही थी। रुपहली चाँदनी में उसके अंग के रचाव और कटाव रह-रहकर तलवार की तरह चमक उठते थे, और मैं उस क्षण के सम्मोहन में बँधा चलते-चलते ठिठककर रुक जाता था। बँगले में पहुँचकर अन्दर घुसने से पहले उसने मुड़कर न जाने किस नज़र से मुझे देखा था- "उस वहशी को मैंने अपने अन्दर की सारी सुन्दरता नष्ट करने का सुख नहीं दिया था। एक दिन जब वह नशे में धुत् था, प्रेम के खेल के नाम पर उसके हाथ-पाँव बाँध कर मैंने उसके सीने पर सवार होकर उसे बुरी तरह रौंदकर छोड़ दिया था। अन्त में वह पीड़ा और आतंक से भरकर रोने-गिड़गिड़ाने लगा था। अपना प्रतिशोध पूरा कर उसी रात मैं उसकी हवेली से भाग आयी थी। मेरे पीछे सभी ने मुझे बहुत ढूँढ़ा मगर मैं लन्दन में अपने मामा के पास चली गयी थी। उन्होंने मुझे शरण दी थी। वहाँ उनके पास रहकर मैंने अपनी आगे की पढ़ाई पूरी की थी।"

"ओह नो!" उसकी बात सुनते हुए मैं आतंकित हो उठा था। "ओ यस!" रोशनी और छाया के मायावी आलोक में उस समय उसका चेहरा कितना विलक्षण हो उठा था, कैसा

दुर्दान्त! अँगीठी-सी धधकती पुतलियों से उसने मुझे घूरा था-“अब क्या है कि पांचाली के सखा तो एक थे, मगर पांचाली तो एक नहीं, तो हम आधुनिक द्रोपदियों को अपनी लज्जा की रक्षा खुद ही करनी पड़ती है और उसका एक तरीका मुझे यह भी लगा!”

और फिर मेरे चेहरे के भाव देखते हुए उसके चेहरे की कठिन रेखाएँ नर्म हो आयी थीं-“सेक्स एक बहुत खूबसूरत अनुभव है, मगर हमें अपनी देह को जीना चाहिए, न कि उसमें मरना-खपना। देह में आत्मा रह सकती है, मगर आत्मा पर देह नहीं लद सकती, वरना इसकी यात्रा भी श्मशान की चिता तक जाकर खत्म हो जायेगी।”

अपने कमरे के दरवाज़े पर खड़ी होकर अब वह मुझे देख रही थी। ऐसे जैसे अपने पूरे वजूद के साथ मुझ में उतर रही हो। उसी क्षण मुझमें कुछ अद्भुत, कुछ विलक्षण-सा घटा था, जिसे एक जाना-पहचाना नाम देकर मैं उसे सरलीकृत नहीं करना चाहता था। मैं अपने अनुभव पर स्वयं चकित था। पीड़ा और हर्ष का ऐसा दुर्दान्त स्वाद आज से पहले मैंने कभी इस तरह से एक साथ नहीं चखा था। वह जो अब तक मेरे आसपास थी, अब मेरे अन्दर थी, कुछ इस तरह से कि मेरे लिए जैसे मेरे ही अन्दर कोई जगह नहीं बची थी। आश्रय पाकर निराश्रित हो जाने का यह कैसा अद्भुत अनुभव था!

उसने यकायक आगे बढ़कर मुझे अपने पास खींच लिया था, इतना कि मैं नज़र भर की दूरी तलाशने लगूँ! कैसी विडम्बना है कि प्रेम और आतंक की अनुभूति एक-सी होती है-वही नसों में लहू की तेज़ सनसनाहट, कनपटियों पर धड़कता दिल और निगाहों के सामने धुन्ध और धुआँ...उसने मेरे होंठों पर अपने होंठ रख दिये थे-भीगे और ऊष्ण! उनके मखमली दबाव को महसूस करते हुए मैं अपनी नसों में बहती शहद की मीठी धार में अनायास डूबने लगा था। वह मुझे हलके-हलके चूमती रही थी। उसकी देह से उठती पसीने और परफ्यूम की मिली-जुली मादक स्त्री गन्ध का मौन-निमन्त्रण मेरे अन्दर कहीं आँच देने लगा था। मैं अपने रगो-रेश में उत्तेजना महसूस कर रहा था-खुद को पूरी तरह देकर उसे सम्पूर्णता में पाने की एक पागल इच्छा, अनजाने ही मेरे हाथ उसकी खुली कमर के इर्द-गिर्द लिपट गये थे। उसके उरोजों का हारारत भरा नर्म दबाव मेरे सीने पर था। मुझे लग रहा था, दो सहमे हुए कपोत थरथराते हुए मेरी गरम हथेलियों में अपना आश्रय ढूँढ़ रहे हैं। मैं उन्हें किसी उन्माद भरी इच्छा और प्यार से भरकर दबोच लेना चाहता था, सहलाना चाहता था देर तक...

लेकिन इससे पहले कि मेरे हाथ कुछ ज़्यादा उद्वण्ड होते, वह अचानक मुझसे अलग हो गयी थी-“नहीं, बस, हम यहीं ठहर जायेंगे प्रणय! अगर इतना-सा करीब नहीं आते, ज़िन्दगी-भर एक ख्वाहिश हमारा पीछा करती रहती, और अगर इससे आगे बढ़ गये तो कुछ बहुत खूबसूरत हमेशा के लिए खो देंगे!”

मैं कुछ न समझने की स्थिति में उसे चुपचाप देखता रह गया था। मेरे लिए मेरा जिस्म सबसे बड़ा सच था, उसके बिना न कोई सम्बन्ध मुकम्मल था न मैं होने देना चाहता था।

मगर वह सच होकर भी परछाई बनकर रह जाना चाहती थी। मैं परछाइयों के पीछे भटकने में यकीन नहीं रखता था। मेरी दुनिया गरम खून, उत्तप्त श्वास और चिकनी त्वचा के मादक स्पर्श से बनती थी, अमूर्त, देहातीत स्वप्नों से नहीं! मैं शान्त था, मगर मेरे भीतर कुछ उबाल खाने लगा था-एक प्रछन्न क्षोभ, विरक्ति...

कुछ क्षणों की चुप्पी के बाद उसने फिर आगे बढ़कर मेरा हाथ पकड़ लिया था-"आज तुमसे बहुत कुछ पाया है प्रणय! इसे आगे की यात्रा के लिए सहेजकर रखना चाहती हूँ, जिस्म के जंगल में खोना नहीं! तुम नहीं समझोगे, हम औरतों के लिए अक्सर यह जिस्म ही पिंजरा बन जाता है। चाहती हूँ, इस देह के आगे भी कोई आये, वहाँ जहाँ पशुता की सीमा समाप्त कर आदमी इन्सान बनता है, रूह, सोच और अहसास बनता है! रूहों के बीच से इस तन की मिट्टी को हटाना चाहती हूँ, यह हमें एक-दूसरे तक पहुँचने नहीं देती। बहुत अकेलापन है इस हाड़-मांस के राजप्रासाद में!"

मेरे लिए उसके सारे शब्द पहेली थे। मैं अब भी अपने शरीर की आँच और उत्तेजना से उबर नहीं पाया था। उसकी आग, रेशम और खुशबू से गुँथे उस तिलस्मी शरीर ने मुझे मेरी आदिम. कैफ़ियत में डाला हुआ था। उसने हलके-से मेरे होंठों पर उँगली फिरायी थी-"आज की ये खूबसूरत रात रह जाने दो हमारे बीच ताकि कभी उजाले में मिलें तो नज़र न चुराकर एक-दूसरे को पहचान सकें।"

"मगर..." मेरे अन्दर इच्छाओं के एक अनाम बवण्डर ने उठकर मेरी आवाज़ को रौंद डाला था।

"अब कुछ मत कहना प्रणय! ज़रूरी नहीं कि स्त्री-पुरुष के जिस्म हमेशा प्रार्थना में दो हथेलियों की तरह जुड़ें। वे एक दुआ में दो हाथों की तरह अलग-अलग रहकर भी एक सनातन साथ में हो सकते हैं। आओ, हम हमेशा एक दुआ की तरह साथ रहें, प्रार्थना में जुड़कर अपना-अपना अस्तित्व समाप्त न कर लें।"

बात खत्म करके उसने अपने कमरे में घुसकर अन्दर से दरवाज़ा बन्द कर लिया था और मैं उसकी कही बातों का मतलब समझने की कोशिश करता हुआ वहाँ न जाने कितनी देर तक खड़ा रह गया था। पूरब में रात की साँवली कोर हलके-से रसमसाई थी, क्षितिज पर उजाले की नर्म दस्तक-सी थी। पास ही कहीं हरसिंगार के फूल निःशब्द झर रहे थे। हवा सुगन्ध से बोझिल हो रही थी। सुबह होने में अब ज़्यादा देर नहीं थी शायद। मगर ये रात अपनी गहरी तृष्णा और अमित तृप्ति के साथ मेरी ज़िन्दगी से अब कभी बीत नहीं पायेगी। रह जायेगी अपने अनोखे रस, गन्ध और स्वाद के साथ चिर दिन के लिए, अपने अन्दर मैं कहीं बहुत गहरे यह शिद्दत से महसूस कर रहा था।

चाची

-प्रियदर्शन

मैं पूरे 30 वर्ष बाद उन्हें देख रहा था।

वे पहले से दुबली हो गयी थीं। चेहरे पर झुर्रियाँ तो नहीं थीं, लेकिन उनकी दमकती गोरी बाँह की झूलती त्वचा उनके जिस्म पर समय के पड़ते निशानों की गवाही दे रही थी। उनके काले घने बाल अब कुछ कम हो गये थे, लेकिन वे सफ़ेद नहीं थे। शायद वे बालों को रँगने लगी थीं। लेकिन उनकी आँखों की वह चमक बदस्तूर क्रायम थी जो उनकी पूरी देह से फूटा करती थी।

मुझे कुछ समय उन्हें पहचानने में लगा था। लेकिन उन्होंने पहले पहचान लिया था-तुम किशोर हो न! सिर हिलाते-हिलाते मैंने पहचाना और उनके पाँव पर झुक गया।

वे माथे पर हाथ रखे हँस रही थीं-“मोटे हो गये हो। बाल भी सारे सफ़ेद हो गये। हम तो समझे तुम पहचानोगे ही नहीं।”

मैं कहना चाहता था कि आपको न पहचानने का सवाल ही नहीं है। लेकिन मैंने मुस्कराते हुए बस इतना पूछा-“सुनील कहाँ है आजकल?”

“पटना में, बैंक में लग गया है न!” उनके चेहरे पर एक तृप्त माँ की खुशी थी।

“तुम क्या कर रहे हो?” उन्होंने पूछा था।

मैंने बताया कि मैं दिल्ली में पढ़ा रहा हूँ एक कॉलेज में।

“तुम्हारा तो सबको पता था। तुम पढ़ने में कितने तेज़ थे। तुमको तो अच्छी जगह होना ही था।” वे मेरा चेहरा देख रही थीं। इस देखने में शायद यह भी शामिल था कि कहीं अतीत का कोई ऐसा पन्ना तो मेरे चेहरे पर फड़फड़ा नहीं रहा है जिससे मैं आँख मिलाना न चाहूँ।

मैंने पूरी कोशिश की कि अपने चेहरे को बिल्कुल तटस्थ बनाये रखूँ। वह उलझन न दिखे जो बरसों पहले मेरे और उनके बीच आकर बैठ जाया करती थी। लेकिन शायद वह कहीं मौजूद थी। पुराने अनुभवों की छाया किसी चोर की तरह हमारे भीतर के किसी अन्धकार में छुपी रहती है और वह ठीक उसी समय बाहर आती है जब उस पर किसी तरह रोशनी पड़ने लगती है। पूरे तीस बरस गुज़र जाने के बावजूद हमारे बीच जो घटा था, वह बना हुआ था और याद दिला रहा था कि मोहल्ला और शहर तुम भले छोड़ दो लेकिन

जीवन और विगत से छूट नहीं सकते। यही नहीं, वह विगत अब न्योता दे रहा था-“कब तक यहाँ हो। कल आओ दोपहर को। अगर समय हो तो...” मैंने वादा किया कि आऊँगा। उन्होंने बताया कि वे अब पुराने घर में नहीं रहतीं-नया पता दिया, पूछते हुए कि आओगे न। मैंने सिर हिलाया। वे मुस्कराती हुई आगे बढ़ गयी थीं।

पीछे छूट गया मैं और उस दिन की याद जब इस सिलसिले की शुरुआत हुई थी।

मैं उनको चाची कहा करता था। वह मेरे दोस्त सुनील की माँ थीं। वह एक दोपहर थी जब मैं सुनील के घर पहुँचा था-अपनी एक कॉपी लेने। हम दोनों नवीं में साथ पढ़ते थे। मैं फर्स्ट आता था और वह फेल होता था। चाची दुखी रहतीं। सुनील को भी कोसतीं और उसके दोस्तों को भी। उन्हें लगता था कि उनका बेटा अपने दोस्तों की वजह से बिगड़ा हुआ है। अपवाद सिर्फ मैं था। अक्सर सुनील के सामने मेरा उदाहरण पेश किया जाता था-“किशोर को देखो, वह भी तो तुम्हीं लोगों के साथ रहता है। कैसे हमेशा फर्स्ट आता है?” ऐसे अवसरों पर सुनील मुझे देखता, लेकिन कुछ इस निगाह से जैसे मैं उसका दोस्त नहीं, दुश्मन होऊँ।

लेकिन मैं उसका दोस्त बना रहा। उसकी फिसड्डी आदतों के बावजूद। दरअसल उससे ज़्यादा चाची-यानी उसकी माँ का ममत्व मुझे खींचा करता था। वे मुझे देखकर जैसे निहाल हो जाया करती थीं। उनको लगता कि उनके बेटे का यह इकलौता दोस्त है जो उसे उसके फिसड्डीपन से उबार सकता है। इस क्रम में सुनील तो नहीं, खुद वही मेरी कॉपियाँ माँग लिया करतीं। सुनील रो-गाकर उनको कॉपी करता या यह काम भी उसकी माँ करतीं और देर-सबेर मुझे अपनी कॉपी लेने जाना पड़ता।

मोहल्ले की बाक़ी औरतों के मुक्राबले चाची कुछ पढ़ी-लिखी थीं। वे बहुत अरमान से बताती थीं कि मैट्रिक में उनके 56 प्रतिशत नम्बर आये थे और याद दिलाती थीं कि उन दिनों इतने नम्बर लाना आज के फर्स्ट डिवीजन से लाख गुना बेहतर है। लेकिन आप आगे क्यों नहीं पढ़ीं चाची? यह सवाल उनको कुछ मायूस कर जाता। वे आईए में थीं, तभी शादी हो गयी। तब ससुराल वालों ने कहा था कि सहूलियत से पढ़ा देंगे। लेकिन सहूलियत आयी कहाँ? पहले सुनील चला आया। फिर दो-दो ननदों की शादी। फिर सास-ससुर के नखरे। फिर शहर में आकर खुली यह दुकान। जब तक सँभलतीं, तब तक दस-बारह साल निकल गये थे। वे कहतीं, “अब भी पढ़ लूँ, लेकिन तुम्हारे चाचा तैयार नहीं होते। बोलते हैं, सब हँसेंगे-कि बुढ़िया आईए में पढ़ रही है। बोलते-बोलते वे हँस पड़तीं और अजब ढंग से खिल जातीं-अब सुनील पढ़ लेगा तो मेरा अरमान पूरा हो जायेगा। तुम आते रहो बाबू। सुनील तुम्हारी संगत में ही पढ़ पायेगा। बाक़ी लड़का लोग को तो तुम जानते हो।” तो मेरा उसके घर लगातार आना-जाना था।

उस दोपहर भी मैं अपनी कॉपी लेने ही सुनील के घर गया था। वह आज की तरह फ़्लैटों वाले दिन नहीं थे, खुले और बड़े घरों का ज़माना था। चारदीवारी से घिरे उस घर में फाटक के बहुत देर बाद बाड़ी शुरू होती। उसके बाद एक कोने में कुआँ था और एक तरफ़ अलग-अलग कमरे। तो मैंने फाटक खोला, हमेशा की तरह बाड़ी पार करके कमरों की तरफ़ जाने लगा। लेकिन उधर कोई नहीं था। मैंने एकाध बार सुनील को पुकारा।

तभी अचानक दूसरी तरफ़ से आवाज़ आयी-“अरे किशोर तुम?” यह सुनील की माँ की आवाज़ थी। यह कुएँ की तरफ़ से आ रही थी।

मैंने पलटकर देखा। और अवाक् देखता रह गया। वे कुएँ पर नहा रही थीं-बल्कि नहा चुकी थीं। नीले रंग का एक पेटिकोट उनके सीने से बँधा था और वे एक बाल्टी में रखे कपड़े निचोड़ रही थीं। यह सुनील की माँ नहीं थीं, पानी से गीली एक खुली हुई देह थी-अपनी आभा में दमकती हुई सुगठित देह। मेरी चोर निगाहें उनके खुले कन्धों को, कपड़े पसारने के लिए उठती उनकी गोरी बाँहों को, मेरी नसों में किसी काँच की तरह गड़ते उनके उन्नत उभारों को, उनके खुले घुटनों को देख रही थीं। मेरे पाँव कुछ काँप से रहे थे, मुझे अपने होंठ सूखते से लगे, दिल नहीं, जैसे पूरा जिस्म अजीब ढंग से धड़क रहा था। वे बेहद सुन्दर लग रही थीं। सुन्दर नहीं, कुछ ज़्यादा। वे वह औरत नहीं थीं जिन्हें मैं चाची कहता था, यह कोई और थी जिसने एक जादुई जिस्म पहन लिया था। गोलाई, रेखा, उभार, मांसलता-यह सब कुछ मैं सस्ते उपन्यासों में अपनी चौदह साल की उम्र में पढ़ चुका था, लेकिन उसे बिल्कुल अपने सामने इस तरह देखना बेहद अलग-सा था।

लेकिन वे बेखबर थीं-वे अपने 14 साल के बेटे के हमउम्र दोस्त से बात कर रही थीं-बिल्कुल ममत्व भरे अन्दाज़ में-और हमेशा की तरह शिकायत करती हुई कि सुनील पढ़ाई नहीं करता और मुझे हिदायत देती हुई कि उसका भी ध्यान रखूँ।

मैं हाँ-हूँ करता उनके घर से निकल आया था। मेरे भीतर एक सनसनाहट भरी थी। बार-बार उनकी गीली देह मेरे सामने कौंध जाती। शायद उस रात मैंने सपना भी देखा। एक तालाब का सपना, उसमें नहाती और उससे बाहर आती एक गर्म-तपती हुई देह का सपना। उठा तो पसीने-पसीने था।

लेकिन इस सनसनी की जगह जल्द ही एक अपराध-बोध ने ले ली। अगले कई दिन मैं पछतावे में डूबा रहा। जो महिला मुझे बिल्कुल बेटे की तरह मानती है, मैं उसके बारे में क्या सोच रहा हूँ? मैंने मन-ही-मन अपने-आप को बहुत धिक्कारा। लेकिन अवचेतन में बसी कामनाएँ ऐसे धिक्कारों से प्रबल होती हैं। अक्सर मैं कोशिश करता कि दोपहर को उनके घर ऐसे समय पहुँचूँ जब वे मुझे कुएँ पर नहाती मिलें। लेकिन ऐसा अवसर दुबारा नहीं आया। यह ज़रूर हुआ कि मेरे भीतर कल्पनाओं के तरह-तरह के रेले उठने लगे। मैं उन्हें अपनी कल्पना में नहाता देखने लगा। अक्सर मैं सोचता कि कुएँ की जगत पर खड़े होकर

मैं पानी खींचकर उनकी देह पर डाल रहा हूँ और उनकी सूती साड़ी बिल्कुल पारदर्शी हुई जा रही है जिसके भीतर से एक लगभग अनावृत्त देह किसी जादू-सी झलक रही है।

यह बात भी मेरे अपराध-बोध को बढ़ाती रही। यह बात किसी से साझा नहीं कर सकता था इसलिए कुछ किताबें भी पढ़ने की कोशिश की। लेकिन धर्म और दर्शन की वे किताबें दो-तीन पेज से ज़्यादा नहीं पढ़ पाया। एक डर भी इसी दौरान घेरने लगा था। कहीं सुनील को पता चला कि मैं उसकी माँ के बारे में ऐसी कल्पनाएँ करता हूँ तो क्या होगा?

लेकिन दूसरी तरफ़ मेरी छापामार कोशिशें भी बढ़ती जा रही थीं। पहले मैं बेधड़क सुनील के घर में दाखिल होता था। अब चुपके से होने लगा था। इस उम्मीद में कि चाची को मेरे आने का पता न चले और मैं उन्हें फिर ऐसी किसी हालत में देख लूँ।

लेकिन कुछ सच हमारी कल्पनाओं से भी बहुत आगे के होते हैं-ऐसे सच जिनकी हम कल्पना तक नहीं कर पाते। ऐसा ही एक सच एक दिन मेरी इस छापामार कार्रवाई के दौरान उजागर हो गया, जिसने मेरे और उनके रिश्ते को हमेशा-हमेशा के लिए बदल दिया।

उस दिन भी मैं चुपके से घर में दाखिल हुआ था। कुआँ सन्नाटे में था, तार पर लटके कपड़े बता रहे थे कि चाची नहा चुकी हैं। पता नहीं क्यों, फिर भी मैं बिल्कुल दबे पाँव कमरे की खिड़की की ओर बढ़ा। अचानक मुझे लगा कि दो लोगों की बातचीत की बहुत मद्धिम आवाज़ आ रही है और कोई रो रहा है।

यह चाची थीं-सुबकती हुई सी और उनके सामने कौन था? मेरा दिल बुरी तरह धड़कने लगा-यह तो हमारे साइंस टीचर हैं। सुनील को ट्यूशन पढ़ाने आते हैं। लेकिन वे तो सात बजे आते हैं? अभी कैसे आ गये? स्कूल खत्म होते सीधे यहाँ? मैंने अपने कान पूरी तरह लगा दिये थे। चाची कह रही थीं-“आप पर भरोसा है, सुनील को इतना पढ़ा दीजिए कि पास हो जाये। उसका मन पढ़ने में नहीं लगता है।”

सर कह रहे थे, “मेरे जाने के बाद वह कुछ करता ही नहीं है। उसके पापा को बोलिए, सख्ती से बैठाये। मैं भी समझाऊँगा।”

चाची कुछ देर चुप रहीं। फिर उनकी आँख भर आयी-“इसके पापा को तो इसका पढ़ना बेकार लगता है। बोलते हैं, दुकान पर बैठा करो। ज़्यादा कुछ बोलो तो गुस्से में एकदम बेक्राबू हो जाते हैं। इसको भी पीटते हैं और...।” बोलते-बोलते वे चुप रह गयीं।

सर हैरान थे-“और? आपको भी?”

चाची बस सुबक पा रही थीं।

“भरोसा नहीं हो रहा है, आदमी तो एकदम सीधे लगते हैं।”

चाची जैसे तड़प उठीं-“सीधे? देखिए, इतने सीधे।” और उन्होंने कन्धे के पास से अपना ब्लाउज़ कुछ हटा दिया। मुझे कुछ दिखा नहीं, लेकिन सर की आवाज़ फँसी-फँसी-सी सुनाई पड़ रही थी- “ये दाग चोट से...ओह।” अचानक दोनों की आवाज़ आनी बन्द हो गयी। सिर्फ़ चाची सुबक रही थीं। मैं इतना उत्सुक था कि खिड़की से झाँकने लगा था।

दोनों मुझसे बेखबर थे। और मैं देखकर स्तब्ध-सर ने चाची को अपनी बाँहों में ले रखा था। वे उनके कन्धे से लगी रो रही थीं-बहुत हलके से कहती हुई-“छोड़ दीजिए, छोड़ दीजिए।”

सर ने छोड़ दिया, लेकिन छोड़ने से पहले उनका माथा चूम लिया। चाची उनके और करीब सिमट आयी-बिल्कुल गले लगी हुई। लेकिन अचानक उन्हें कुछ लगा, उन्होंने सिर घुमाया और फिर उनकी नज़र सीधे खिड़की से देखते मुझ पर पड़ी।

जैसे उन्होंने कोई भूत देख लिया हो। वे बिल्कुल एक झटके से सर से अलग हुईं। सर भी इतनी देर में मुझे देख चुके थे। दोनों कमरे से बाहर दालान में आ गये। दोनों मुझसे कुछ कहने की हालत में नहीं थे। मैं डरा हुआ था या परेशान था, मैं भी समझ नहीं पा रहा था। लेकिन मैं तीर की तरह दौड़ता हुआ निकल गया।

लेकिन वह दृश्य मेरा पीछा करता रहा। चाची और सर-एक-दूसरे से जुड़े हुए। मेरा माथा सनसना रहा था। मैं कुछ सोचने की हालत में नहीं था। यह भी तय नहीं कर पा रहा था कि कहाँ जाऊँ। मैं तालाब किनारे जा बैठा। मन कुछ शान्त हुआ तो बहुत सारे खयाल आये। कैसी हैं चाची? छिः सर के साथ! और सर? कितने सीधे बनते हैं! लेकिन चाची से चिपके हुए थे। मैं कई अभद्र-सी बातें सोचता जा रहा था। क्या सुनील को बता दूँ यह सब? लेकिन कैसे बताऊँगा? किसको बताऊँ? आखिर चाची ऐसी क्यों हैं? फिर मुझे कुएँ पर उनका नहाना याद आ गया। क्या सर ने भी उनको कभी ऐसे देखा होगा? क्या उन्होंने सर को 'फँसाया' होगा? यह सब पहले से चल रहा था?

तरह-तरह के खयालों के बीच मैं अचानक चिहुँक गया। किसी ने बहुत हलके से मेरा नाम पुकारा था। मैंने मुड़कर देखा। सर थे। लगता है, मुझे खोजते हुए यहाँ आ गये थे। लेकिन वे मुझसे आँख नहीं मिला पा रहे थे। बस इतना कह पाये-“सुनील की मम्मी ने बुलाया है, जाकर मिल लो।” यह भी आदेश कम, एक मनुहार ज़्यादा थी।

मैं नहीं जाऊँगा। मैंने तय कर लिया था। उस औरत के घर कभी नहीं। अचानक मुझे उनसे चिढ़-सी हो गयी थी। सुनील से भी दोस्ती तोड़ लूँगा। आवारा लड़का है-आवारगी करता रहे। आवारा माँ का आवारा बेटा। हालाँकि यह सोचते-सोचते मेरा कलेजा हिल गया। चाची मुझे कितना मानती थीं। और मैं भी उन्हें नहाते हुए देखना चाहता था। ग़लती मैंने भी तो की है।

लेकिन मैं नहीं गया। कई दिन बीत गये। स्कूल आता-जाता रहा। सर मिलते, लेकिन मुझसे कतराकर निकल जाते। अचानक उनका और मेरा रिश्ता भी बदल गया था। मैं धीरे-धीरे इसका आनन्द लेने लगा था। जैसे मैं कोई न्यायाधीश हूँ और अपराधियों को पता है कि उनका जुर्म मेरे सामने साबित हो चुका है। सर इन दिनों बहुत अनमने ढंग से पढ़ाते। सुनील भी इधर स्कूल नहीं आ रहा था।

फिर एक दिन सुनील स्कूल आया। आते ही उसने मुझे घेर लिया-“कहाँ है तू। एक दिन भी घर नहीं आया?” मैं चुप रहा-कैसे बताता कि उसके घर आकर मैंने क्या पाया है।

उसने बताया कि माँ बहुत बीमार थीं। तेज़ बुखार था। चार दिन बाद उतरा है। तभी वह स्कूल आ पाया। “तुझे माँ ने बुलाया है”, उसने फिर कहा-“माँ तुझे बहुत मानती हैं। कह रही थीं, कुछ ज़रूरी बात करनी है। बहुत दिन से किशोर आया नहीं है।”

मैंने सिर हिलाया-“आऊँगा।” यह सुनील को टालने की कोशिश थी। लेकिन इन चार-पाँच दिनों में मेरे भीतर भी बहुत सारी चीज़ें पिघल रही थीं। बहुत सारी नयी उत्सुकताएँ मेरे भीतर पैदा हो चुकी थीं। यह देखना चाहता था कि चाची अब मुझसे कैसे मिलती हैं।

तो एक दिन फिर मैं ऐसे समय पहुँचा जब सुनील घर पर नहीं था। चाची थीं। मुझे देखकर सकपकाकर खड़ी हो गयीं। फिर भीतर कमरे में ले गयीं। मैं कुछ शिकायती, कुछ उलझन भरी नज़र से उनको देखता रहा। फिर आवाज़ को यथासम्भव रूखा बनाने की कोशिश करते हुए मैंने कहा, “आपने बुलाया था।”

लेकिन उन्होंने जवाब नहीं दिया, चुपचाप रोने लगीं। अब मैं कुछ सहम-सा गया। सुबकते-सुबकते उन्होंने मुझे अपने पास खींच लिया। अचानक मुझे लगा, मेरी पुरानी कल्पनाएँ साकार तो नहीं होने जा रही हैं? लेकिन वे कह रही थीं-“बेटा, जो तुम देखे हो, किसी को बोलना मत।” लेकिन मैं सुन कम रहा था, महसूस ज़्यादा कर रहा था। उनके बेखबर स्पर्श की गर्मी मेरे भीतर पिघल रही थी। फिर उन्होंने मुझे किनारे किया। थोड़ी देर चुप रहीं फिर धीरे-धीरे बोलने लगीं-“तुम बहुत छोटे हो किशोर। कुछ समझ में नहीं आयेगा। औरत बहुत दुख झेलती है। इतना कि दुख को ही सुख मानने लगती है।” वाक़ई मैं समझ नहीं पा रहा था। इस बात का सर के साथ उनके रिश्ते से क्या वास्ता है। लेकिन वे अपनी धुन में बोले जा रही थीं- “कभी-कभी ऐसा कुछ हो जाता है कि खुद भी समझ में नहीं आता है। ऐसा ही हो गया, समझो। तुम्हारी चाची गन्दी औरत नहीं है रे। तू तो मेरा दूसरा बेटा है-सुनील से बहुत समझदार, बहुत तेज़। माँ का मान रखना।” वे फिर रोने लगी थीं।

मैं फिर सिहरने लगा था-कुछ शर्म से, कुछ अपराध-बोध से और कुछ इस सवाल से भी कि वे जो कर रही हैं, वह ठीक कैसे है। लेकिन एक बात मैंने तय कर ली थी कि किसी को कुछ नहीं बताऊँगा। मैंने चाची को देखकर सिर हिलाया और उठकर निकल आया।

लेकिन चाची ने शायद सर को यह सब बता दिया था। अब वे मुझसे डरे हुए कम दिखते थे, लेकिन उपकृत और मेरे प्रति उदार कुछ ज़्यादा। अब मेरी कॉपियों पर उनका ध्यान ज़्यादा रहता था। मुझे लग रहा था, इस बार वे मुझे नम्बर भी कुछ बढ़ाकर ही देंगे।

लेकिन जासूसी मेरी छूटी नहीं थी। शक और चिढ़ का जो बीज मेरे भीतर पड़ चुका था, वह पौधा बनता जा रहा था। मैंने चुपके-चुपके सर का पीछा करना शुरू किया और पाया कि सप्ताह में एक-दो दिन वे दोपहर को भी चाची के यहाँ चले जाते हैं। मैंने यह भी ध्यान दिया कि आधे घण्टे रुककर वे निकल जाते हैं। इस आधे घण्टे में दोनों के बीच क्या कुछ होता होगा, इसको लेकर मेरी कल्पनाशक्ति प्रचुर मसाला जुटा दिया करती थी।

धीरे-धीरे चाची मेरी नज़र से उतरने लगीं। सुनील के घर भी जाना मैंने छोड़ दिया। सुनील कुछ दिन मेरे पास आता रहा, मुझसे पूछता रहा, लेकिन थक-हारकर वह भी किनारे लग गया।

लेकिन भीतर-ही-भीतर मैं किनारे नहीं लगा था। मेरे भीतर जैसे कोई प्रतिशोध भाव था जो लगातार बड़ा और कड़ा होता जा रहा था। मुझे लग रहा था-यह पोल खुलनी चाहिए। सर की बेफ़िक्री अब बढ़ती जा रही थी।

तो यहाँ मैंने एक सरहद पार करने का फ़ैसला किया। अपनी जासूसी के दौरान जब एक मैंने दिन पाया कि सर इधर-उधर देखते हुए चाची के घर का फाटक खोल रहे हैं तो दौड़ता हुआ चाचाजी-यानी सुनील के पापा-की दुकान पहुँच गया। उनकी बहुत बड़ी आटा चक्की थी जिसमें चक्की का शोर गूँजता रहता था। पहले उन्होंने समझा कि मैं आटा लेने आया हूँ। लेकिन मैंने बताया कि सर आपके घर पर आये हुए हैं-चाची से मिलने।

लेकिन मैं उनकी प्रतिक्रिया देखकर हैरान हुआ। उन्होंने बस सिर हिलाया था। उन्हें लगा कि सुनील फिर फेल-वेल हुआ होगा और सर उसकी शिकायत के लिए घर आये होंगे। शायद अपनी पत्नी की बेवफ़ाई की उन्होंने कल्पना तक नहीं की थी।

मैं बेवकूफ़ों की तरह लौट आया। लेकिन मेरे दिल में हलचल मची हुई थी-किसी भी तरह, किसी भी तरह यह राज़ खुलना चाहिए। अचानक चाची के प्रति मेरे सम्मान में बहुत कमी आ चुकी थी और सर को तो मैं बाक्रायदा दुश्मन मानने लगा था। मैंने तरह-तरह के उपाय सोचे। एक गुमनाम चिट्ठी लिखकर दोनों का पर्दाफ़ाश कर दूँ? या चुपचाप दो-चार दोस्तों को बता दूँ? या सुनील से ही मासूमियत के साथ पूछ लूँ कि सर दोपहर को तुम्हारे घर क्यों जाते हैं? हैरानी की बात यह थी कि इन दिनों सुनील अचानक पढ़ाई में गम्भीर हो गया था। मंथली टेस्ट में उसके नम्बर अच्छे आ गये थे। मुझे यह बात भी अफ़सोस में डाल रही थी कि सर और चाची दोनों मेरी ओर से उदासीन होते जा रहे थे। अब सुनील नहीं बताता कि चाची ने मुझे बुलाया है।

लेकिन मेरे कुछ करने से पहले कुछ और चीज़े घट गयीं। सर और चाची की जिस गुपचुप मुलाक़ात को मैं सिर्फ़ अपना राज़ समझता था, उस पर दरअसल मोहल्ले के कई और लोगों की नज़र पड़ चुकी थी। सरगोशियाँ फुसफुसाहटों में बदल गयी थीं और फुसफुसाहटें ऊँची होती गयी थीं। अन्त किसी धमाके की तरह हुआ। सुबह-सुबह पता चला कि बीती रात सुनील के पापा ने चाची की जमकर पिटाई की है। जो काम पहले वह छुप-छुपाकर करते थे, इस बार सरेआम किया। शायद अपनी गुलाम बीवी की बगावत उन्हें अपनी मर्दानगी के लिए चुनौती लग रही थी। उन्होंने अपना बदला लेने में कोई कसर नहीं छोड़ी। रात को वे उनको घर से निकालने पर तुले थे। वे रोती-कलपती घर के फाटक पर खड़ी रहीं और। मोहल्ले के सामने बनता अपना तमाशा देखती रही।

मैं दहशत में था। मैं सब कुछ चाहता था, लेकिन यह नहीं चाहता था। चाची मेरी निगाह में गिरी थीं, मोहल्ले की निगाह में उन्हें नहीं गिरना चाहिए था। मैं यह सोचकर डर रहा था कि रात उन पर कितनी भारी बीती होगी। स्कूल जाते हुए मेरे पाँव काँप रहे थे कि सुनील से कैसे मिलूँगा। लेकिन सुनील से मिलने की नौबत नहीं आयी। सुनील स्कूल नहीं आया था। स्कूल में अलग तरह का हंगामा था। कुछ लोग सर के नाम पर गाली-गलौज करते आये थे। प्रिंसिपल साहब जब तक कुछ समझते, सर को स्टाफ रूम से निकालकर बच्चों के बीच पीटा जा चुका था। किसी तरह उन बदमाशों को हटाया गया। किसी को समझ में नहीं आ रहा था कि इतने अच्छे और सीधे साइंस सर का किसी से ऐसा झगड़ा कैसे हो सकता है। उस दिन क्लास नहीं चल रही थीं, सर लोग सब इधर से उधर जा रहे थे और एक तरह का डर और शोर जारी था। किसी ने बताया कि पुलिस भी आने वाली है। लेकिन पुलिस नहीं आयी, मोहल्ले के ही कुछ लोग आये। बताया गया कि वे स्कूल को कोई नुकसान पहुँचाना नहीं चाहते, बच्चे तो उनके घर के ही हैं, बस एक सर को सबक सिखाना था जो सिखाया जा चुका है। तो मामला खत्म।

सर का क्या हुआ, फिर मुझे पता नहीं चला। आखिरी बार मैंने उन्हें स्कूल में देखा था। उनके माथे पर एक पट्टी बँधी हुई थी-आँख के पास सूजन थी। लेकिन अगले दिन से वे स्कूल नहीं आये। किसी ने बताया कि स्कूल और शहर दोनों छोड़कर चले गये।

चाची से मिलने कुछ दिन बाद ज़रूर गया था। उस दिन की सार्वजनिक पिटाई और बेइज़्जती करने के बाद चाचाजी ने फिर उनको घर में जगह दे दी थी-लेकिन कुछ इस तरह जैसे नौकरानी को जगह दी जाती है। अब चाची चाची नहीं रह गयी थीं।

इस बार मैं गया तो चोरी-चुपके नहीं, लेकिन डरे-सहमे। चाची घर पर थीं। अचानक मेरी आहट से वे चौंक उठीं। मुझे देखकर अमूमन प्रफुल्ल हो जाने वाले उनके चेहरे पर जैसे कोई भाव नहीं था। बस उन्होंने पहचान भर लिया। मैं देखकर स्तब्ध था। वे कुछ ही दिनों में कुछ और हो गयी थीं। लावण्य से भरा शरीर जैसे रातों-रात मुरझा गया हो। उनके चेहरे पर जो ख़ुशी झलकती थी, वह उनकी काया से भी फूटती थी। लेकिन आज एक बेजान-सी ठठरी के सामने खड़ा था मैं। वे चुप रहीं। मैं भी कातर ढंग से उनको देखता हुआ चुप रहा। फिर अचानक क्या हुआ कि मेरे भीतर एक रुलाई उमड़ आयी। मैं रो रहा था। तब भी वे चुप रहीं। बस देखती रहीं। फिर मैंने खुद पर क़ाबू पाया-“चाची, चाची। मैंने किसी से कुछ नहीं कहा था।” ठठरी अब भी चुप थी। फिर उसमें कुछ हरकत हुई-“घर जाओ किशोर, हमको मालूम है।” मैं बस न में सिर हिलाता रहा-जैसे नहीं जाऊँगा। फिर वे बोलीं-“तुम दुकान गये थे, बताने कि सर मेरे पास हैं।”

अचानक मैं शर्मिन्दगी से नहा उठा। उनको पता है। चाचा ने बताया होगा ज़रूर। पिछले दिनों की कड़ियाँ जोड़ी होंगी। इनके इस हाल का मैं भी ज़िम्मेदार हूँ। मुझे समझ में नहीं आ रहा था कि मैं क्या कहूँ। मैं बस इतना बोल पाया-“चाची, आप बहुत अच्छी हैं,

बहुत अच्छी।” चाची जैसे मुझे सुन ही नहीं रही थीं, अपने-आप में बोल रही थीं-“सब सुनील के चलते हुआ। वह पढ़ सके, इसीलिए सर को बुलाये थे। सर उसके लिए बहुत किये। इतना उसके बाप नहीं किये। बाप तो चाहते थे, पढ़े नहीं दुकान पर बैठ जाये। उनकी तरह जानवर बना रहे।” मैं बिल्कुल स्तब्ध था। जानवर शब्द का उच्चारण करते हुए उनके मुँह से जैसे हिकारत टपक रही थी। क्या वे मुझसे बात कर रही हैं? या अपने-आप से। लेकिन वे बोले जा रही थीं- “ग्राहकों से हे-हे करते रहते हैं, घर आकर हम लोगों पर गुस्सा उतारते हैं। हम लोग उनके लिए मिल के गेहूँ जैसे थे। बस पिसते रहना था। उनकी चक्की चलती रहती थी। सर आये तो याद आया, हम भी औरत हैं। सुनील भी लड़का है।” अचानक जैसे वे किसी मूर्च्छा से जागी हों-“जाओ बेटा तुम। अब कुछ कहने-सुनने को नहीं बचा है। सुनील सँभल गया है। पढ़ लेगा। आदमी बन जायेगा। मेरा बेटा अपने बाप जैसा नहीं बनेगा।”

फिर उनकी आँखों में हलकी-सी चमक लौटी। पहली बार जैसे उन्हें मेरा नाम याद आया-“किशोर, तुमको भी हम बेटा मानते रहे। रिश्ता-नाता ऐसे भी बन जाता है। सर से भी बन गया था। सबका मोल चुकाना पड़ता है। चुका रहे हैं। जाओ तुम। तुम भी बच्चे ही हो मेरे। बस एक सलाह देंगे। जीवन में औरत की इज़्ज़त करना। बहुत इज़्ज़त भी पाओगे और प्यार भी, जाओ।”

मैं भीतर से हिला हुआ निकल आया था। अक्सर चोर की तरह घुसने वाला मैं चोर की तरह निकल रहा था-भीतर मनो बोझ उठाये। यह नहीं जानता था कि इस घर में दुबारा आना नहीं होगा।”

सर ने स्कूल आना बन्द कर दिया था। सुनील आने लगा था, लेकिन अब वह एक बदला हुआ लड़का था। पहले दिन कुछ बच्चों ने उसको देख कानाफूसी की, लेकिन सुनील उनकी ओर से लापरवाह बना रहा। मुझसे उसकी बातचीत लगातार सीमित होती गयी थी। जैसे माँ के साथ हुए हादसे के बाद उसने अपने-आप को भीतर सिकोड़ लिया हो। इन सबके बीच हम नवीं से दसवीं में कब पहुँचे और कब दसवीं पास कर गये, पता भी नहीं चला। चाची मुझे याद आती थीं, लेकिन किसी छूटे हुए क्रिस्से की तरह। कभी मेरे भीतर उनके जिस्म का सितार बजता और कभी उनकी हिदायत याद आती-‘औरत की इज़्ज़त करना। इससे इज़्ज़त भी मिलेगी, प्रेम भी मिलेगा।’

शहर मुझसे छूट गया था। दिल्ली में पढ़ाई हुई, वहीं नेट किया, वहीं से पीएच.डी. की और एक दिन पाया कि मैं डीयू का असिस्टेंट प्रोफ़ेसर हो चुका हूँ। अब सुनील और चाची ही नहीं, पूरा शहर इतना पीछे छूट चुका था कि पलटकर देखने पर भी दिखाई नहीं पड़ता था। लेकिन चाची मेरे भीतर बनी रही थीं-याद दिलाती हुई कि औरत की इज़्ज़त करना। इसका ठीक-ठीक क्या मतलब हो सकता है, हालाँकि यह बात अलग-अलग अवसरों पर मैं अलग-अलग ढंग से समझता रहा।

और अब पूरे तीस साल बाद चाची मेरे सामने थीं। मुझे उनसे मिलना था। अगली सुबह मैं उनके घर जा पहुँचा-घर यानी उनके नये पते पर। यह शहर की नयी रिहाइश में बन रहे एक शानदार अपार्टमेंट का फ्लैट था। न फाटक था, न आँगन था और न कुआँ, न सतरंगी तितली की तरह दमकती देह थी। फ्लैट के दरवाज़े पर सुनील शर्मा की नेमप्लेट भर लगी हुई थी। मैंने घण्टी बजायी। दरवाज़ा खुला और वे मेरे सामने थीं। कल शादी के मौक़े पर पहनी गयी रेशमी साड़ी की जगह बस एक हलके रंग की सूती साड़ी में थीं। उन्होंने मुझे नीले कुशन वाले सोफ़े पर बिठाया, पूछा, “कैसे हो, परिवार में कौन-कौन हैं”? मैंने बताया-“पत्नी और दो बेटियाँ हैं। पत्नी मौसम विभाग में काम करती है, बेटियाँ स्कूल में हैं।” मैंने सुनील के बारे में पूछा तो बताया, “उसने बैंक में ही काम कर रही एक लड़की से शादी की है-दोनों ट्रेनिंग में मिले थे। लड़की अलग जाति की थी। उसके परिवार वाले हिचक रहे थे। हम जाकर समझाये। फिर सब मान गये कि दोनों की खुशी में ही सबकी खुशी है।” उन्होंने बताया कि दोनों बहुत खुश हैं, वे भी बहुत खुश हैं-वे जब पटना जाती हैं तो पोता उनसे लटका रहता है।

मैंने पूछा, “और सुनील के पापा?” वे एक मिनट के लिए चुप रहीं। फिर उनका चेहरा कुछ पत्थर-सा हो आया-“वे अब नहीं हैं। बहुत पीने लगे थे। लिवर बिगड़ गया। दस साल पहले।”

मैं अवाक़ था। फिर उनकी आँखों में पानी जैसा चला आया- “सब समझते हैं कि मेरी वजह से मरे।” मेरी समझ में आ गया था कि अब उन पुराने दिनों से फिर से आँख मिलानी पड़ेगी। लेकिन वे बोले जा रही थीं-“सर याद हैं न तुमको। बहुत बदनामी हुई थी। सब बोलते हैं, उसी के बाद पीने लगे। इसी से तबीयत बिगड़ी।”

उन्होंने पूछा, “तुम भी तो यही सोचते होगे।” मैंने न में सिर हिलाया। वे मेरी आँखों में देखती रहीं। शायद विश्वास का कोई धागा दिखा। उन्होंने लम्बी साँस ली। मुझे उनका कहा याद आ रहा था-रिश्ते-नाते ऐसे ही बनते हैं, उनका भी मोल चुकाना पड़ता है। औरत की इज़्ज़त करना। मुझे यह भी खयाल आया कि किसी ने यह नहीं कहा कि सुनील की माँ ने पीना क्यों नहीं शुरू किया? हमेशा मर्द को ही दुख क्यों होता है? किसी ने नहीं जाना कि पीकर वे चाची और सुनील की क्या गत बनाते रहे होंगे। चाची जैसे मेरे मन की बात समझ रही थीं-“बाबू, घर नरक हो गया था मेरे लिए।” उन्होंने नहीं कहा कि पति की मृत्यु से असल में उन्हें मोक्ष मिला है।

मैंने सहमते हुए पूछा। अब सब ठीक है चाची? उन्होंने सिर हिलाया। लेकिन एक सवाल मेरे भीतर बचा हुआ था-“आप सुनील के साथ पटना जाकर क्यों नहीं रहतीं? दोनों को आराम होगा। आपको भी और उसको भी?”

वे हँसने लगीं। कहा, “बताऊँगी।” फिर मुझसे पूछा, “तुम बताओ, घर-परिवार तुम्हारा बिल्कुल ठीक है न?”

मुझे शायद अवचेतन में इसी अवसर की तलाश थी। शायद इसीलिए मैं अपने बहुत सारे काम छोड़कर चाची से मिलने आया था। बस एक स्वीकारोक्ति के लिए। मैंने शायद अपने भीतर बरसों से दुहराकर रखा गया संवाद बोला-“बिल्कुल ठीक है। क्योंकि तीस साल पहले माँ जैसी चाची से एक सलाह मिली थी-औरत की इज़्जत करना, बहुत इज़्जत पाओगे, और प्यार भी।”

अब वे अवाक् थीं। अचानक उन्होंने मुझे गले लगा लिया और रोने लगीं-“किशोर, यह बहुत बड़ी बात है। तुमको याद है। तुम सच में मेरे बेटे हो।”

लेकिन अपने इस मुँहबोले बेटे के लिए आखिरी अचरज उन्होंने बचाकर रखा था। अचानक फ़्लैट की घण्टी बजी। वे हड़बड़ाकर उठीं। उनके चेहरे पर मुस्कराहट लौट आयी थी। दरवाज़ा खुलने पर एक बूढ़ा-सा आदमी दाखिल हुआ। मुझे पहचाना हुआ चेहरा लगा। पहचानकर मैं चिहूँक गया-ये तो सर हैं! मैं खड़ा हो गया-“प्रणाम सर।” वे मुझे पहचानने की कोशिश कर रहे थे। चाची ने कहा-“किशोर है, सुनील का दोस्त।” लेकिन चाची के कहने से पहले वे मुझे पहचान चुके थे-“अरे किशोर! कैसे हो तुम?” मुझे वे आखिरी मुलाक़ातें याद आयीं, जब वे मुझसे आँख मिलाने से बचते थे। लेकिन आज उनकी आँखें हँस रही थीं।

“तुमने पूछा था न, पटना क्यों नहीं चली जाती?” यह चाची की आवाज़ थी-विहँसती हुई, “अब यहाँ भी परिवार है हमारा। अब मत पूछना, सुनील क्या बोलता है। सुनील और उसकी बहू का ही कहना था, सर से शादी कर लो।” शादी बोलते-बोलते वे किसी किशोरी कन्या-सी लजा गयीं और फिर झेंप मिटाने के लिए ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगीं। सर भी हँस रहे थे-“किशोर को मिठाई तो खिलाओ। पहली बार आया है।” लेकिन मुझे इस हँसी में फिर से वह दमकती देह दिख रही थी और कहीं यह खयाल आ रहा था कि देह इस तरह तभी दमकती है जब आत्मा दमक रही होती है।

रोजा पू

-जयंती रंगनाथन

नल खोलने की आवाज़ आयी, सर्रर बाल्टी भरने लगा। दरवाज़ा आहिस्ते से खुला। कपड़े उतारने की हलकी-सी सरसराहट भरी आवाज़।

दो आँखें रौशनदान के पास बनी झिरी में टिक गयीं। रोज़ की तरह स्कूल जाने से पहले के सुनहरे पाँच मिनट।

उदास था बंटू। स्कूल का समय बदल गया है। अब उसे सुबह जल्दी जाना होगा। साढ़े छह बजे। सत्रह साल का बंटू पूरे रास्ते एक खाली टिन को पैरों से बजाते हाँफते हुए घर आया। सड़क के कोने में उसे पद्मा आंटी दिख गयीं। हँसकर पूछा, “क्यों रे, कल तेरे को इडली-सांभर भेजा था खाने को? पसन्द नहीं आया क्या?”

बंटू की साँस रुक गयी। पद्मा के साँवले चौकोर चेहरे पर पसीने की बूँदें चमक रही थीं। नीले रंग की चैक की साड़ी के आँचल से माथे को पोंछकर लापरवाही से आँचल उछाल पीछे फेंक दिया। पारदर्शी रुबिया ब्लाउज़ से लगभग बाहर को झलकता सफ़ेद अन्तःवस्त्र। नाक में झिलमिल करता हीरा, कानों में सोने के बड़े वाले कुण्डल, सीने पर झूमता हुआ भारी-सा मंगलसूत्र, गीले बालों में मोगरे का गजरा और पान से लाल हो आये होंठ, पद्मा को न जाने कितनी बार पास से, बहुत पास से, ध्यान से देख चुका था।

पद्मा कह रही थी, “बंटू, तेरा स्कूल टाइमिंग बदल गया क्या रे? तू कब्बी आता है, कब्बी जाता है, मालूमइच नहीं पड़ता...”

बंटू ने आँख उठाकर पद्मा की तरफ़ देखा, फिर थोड़ा सजग होकर बोला, “विकास... बंटू नहीं...” कहते हुए वह शरमाकर वहाँ से भाग गया।

रायपुर की उस गर्द से भरी कॉलोनी के पुराने से मकान में कम-से-कम तीस किरायेदार रहते थे, सबके घर आपस में सटे हुए, ऐसा लगता था एक ही घर के अलग-अलग हिस्से हों। बाक़ी घरों से कोई मतलब नहीं था बंटू का। पद्मा आंटी और श्रीनि अंकल सबसे अलग थे, अंकल से ज़्यादा आंटी, जो उसके सिर पर टपली मारते हुई कहती थीं, “आंटी नहीं बोलने का, मामी बोलने का मेरे को...”

मा...मी...पद्...मा...उसने अपनी इतिहास की कॉपी का पिछला पन्ना-भर रखा था इस नाम से। बॉलपेन से स्केच भी बनाया था। खुले लम्बे केश, केशों में लगा गजरा, चेहरे पर

बड़ी-सी बिन्दी। गोल-गुदाज उघड़ा सीना, इसे बनाने में उसने ढेर सारा समय लगाया। शायद पूरी एक क्लास।

स्केच पूरी नहीं हो पाया। डर-सा लगा, उसने पेन और स्याही से स्केच को तहस-नहस कर डाला। पर कागज़ के उस टुकड़े को फेंकने की हिम्मत नहीं हुई। जब से स्कूल का समय बदला है, वह स्केच करके मन को मना लेता है। मन मानता नहीं, यह और बात है...

बंटू स्कूल से आने के बाद खाना खाकर कुछ देर टीवी देखता है, फिर ट्यूशन। लौटते-लौटते रात हो जाती है। पद्मा के घर के सामने दिया जल जाता है, अगरबत्ती की तीखी खुशबू तले मोगरे-सी आँखें झिलमिलाती हुई उसे कोंचने लगती हैं, “क्यों रे बंटू, आज क्या सीख कर आया रे?”

बंटू का मन होता है, सच कह दे। कम-से-कम एक बार। वह कुछ नहीं कहता, बस तिरछी नज़रों से देखता है और आँखें नीची कर अन्दर चला जाता है।

मेज़ पर रखी स्टील की कटोरी उसे मुँह-सा चिढ़ाती है। वह खोलकर देखता है, चने की दाल के वड़े, काबुली चने से बना चुण्डल, पनीहारम, जिनके ऊपर चटनी पाउडर और तिल का तेल होता है। वह कटोरी सरकाकर अन्दर चला जाता है। माँ कहती रहती हैं, पद्मा खास तेरे लिए छोड़कर गयी है, खा ले।

बंटू नहीं खाता। घूमते-घामते माँ ही खा लेती हैं और बड़बड़ाते हुए कह भी देती हैं, “कितनी बार कहती हूँ पद्मा से, सरसों के तेल का इस्तेमाल कर। न, उसे बदबू आती है हमारे तेल से। उसका तेल जैसे बहुत खुशबूदार है...तिल्ली का तेल...”

बंटू को पसन्द नहीं, माँ का पद्मा के बारे में कुछ भी कहना। जिस तेल को खाने से पद्मा के बाल इतने काले और सुन्दर हो सकते हैं, त्वचा इतनी कोमल और चिकनी हो सकती है, बदन इतना सेक्सी हो सकता है, उस तेल पर हज़ारों दूसरे तेल कुरबान...

रोज़ वाली कटोरी में आज कुछ नया था। सफ़ेद-सा। बंटू ने कटोरी हाथ में लेकर सूँघा। दूध और सेंवई की अनोखी-सी खुशबू थी। गाढ़ी-सी हलकी गुलाबी खीर, ऊपर पतले कतरे सूखे मेवे। बंटू ने दायें हाथ की छोटी उँगली को कटोरी में डुबोकर चाट लिया। किशमिशी मीठा-सा स्वाद।

माँ ने देख लिया, झिड़कती हुई बोलीं, “चटोरेपन से बाज न आयेगा। सही से चम्मच लेकर खा। दूसरे क्या खायेंगे तेरा जूठा?”

बंटू ने सिर उठाया, “आज किस खुशी में खीर आ गयी?”

“पद्मा का जन्मदिन है...”

बंटू को झुरझुरी-सी हो आयी...जन्मदिन। वह जल्दी से घर से बाहर निकला। समझ नहीं आया क्या करे। खुद ही खुश होकर हिलकता रहा। जेब टटोलकर देखा, कुछ चिल्लर और पन्द्रह रुपये होंगे। क्या ले सकता है?

सड़क पार फूलों की दुकान थी। वह लपककर गया। उसने एक गुलदस्ते की तरफ़ इशारा करके पूछा-‘तीन सौ रुपये...’

बंटू मायूस हो गया। पास में पड़े गुलाब के गुच्छों की तरफ़ उसकी नज़र गयी। दुकानवाले ने बिना देखे कहा, ‘दस रुपये का एक गुलाब...’

बंटू ने एक खिला गुलाब हाथों में लिया। जेब में से खनकता हुआ एक दस का सिक्का निकालकर मेज़ पर रखा और तेज़ी से वहाँ से निकल गया।

रास्ते में रुककर उसने गुलाब की पंखुड़ियों को हलके हाथों से छुआ, अजीब-सी सिहरन हुई। अधखुले से पत्तों को सूँघने लगा, आँखों में चमक-सी आ गयी। उसने गुलाब की पत्तियों पर अपने होंठ लगाये। चेहरे पर मुस्कराहट-सी आ गयी।

पद्मा के घर के आगे चावल की बड़ी-सी रंगोली बनी थी। उसके ऊपर और आजू-बाजू जूते-चप्पलों का ढेर। बंटू ने हड़बड़ी में हवाई चप्पल उतारी, एक इधर-एक उधर। पद्मा उसे देखकर लपककर सामने आयी, “वा वा। गुड यू केम...”

कई अनदेखे चेहरे। असहज हो गया बंटू। उसने हाथ आगे कर गुलाब का फूल सामने कर दिया। पद्मा हँसने लगी, “ओहो, रोज़ा पू...”

बंटू पीछे की तरफ़ पलटा और एकदम से बाहर निकल गया। रात की रानी के झाड़ के पास खड़ा हो गया। रोज़ा...पू...रो...ज़ा...पू...

अच्छा नहीं लगा कुछ। पैर पटकते हुए वह घर आ गया। माँ घर का ताला लगा रही थी, ‘आज खाना पद्मा के घर पर है। जो देगी चुपचाप खा लेना।’

बंटू ने तुनककर कहा, “नहीं, मुझे नहीं जाना...”

माँ ने ताला खोल दिया, “अच्छा, कटोरदान में एकाध पराँठा रखा होगा। खा लेना। मैं थोड़ी देर में आऊँगी। पापा आयें, तो उनको भेज देना वहाँ। डोसा-पोसा कुछ खा लेंगे वहाँ...”

बंटू आकर बिस्तर पर गिर गया। रोज़ा...पू...मोबाइल में गूगल पर देखा, रोज़ा पू, यानी गुलाब का फूल। ओह...उठकर बैठ गया। खिड़की खुली थी। सामने दिख रहा था हल्ला-गुल्ला। पद्मा का भारी आवाज़ में ठहाका। उषा उथुप का गाना-डार्लिंग आँखों से आँखें चार करने दो-गा रही थी। तालियाँ, शोर।

बंटू ने आँखें बन्द कर लीं। अब उसके सामने थी नीले रंग की धर्मावरम साड़ी में पद्मा। धीरे-से पल्लू को कन्धे से सरकाती हुई। पसीने से तरबतर ब्लाउज़ के हुक खोलती हुई। साँवली, नंगी पीठ पर पानी की चमकती बूँदें। उन बूँदों को पीते अधीर अनगढ़ से होंठ। आहिस्ता से साड़ी ज़मीन पर गिर रही है। सलोनी-सी कमर, कमर के ठीक नीचे नाभि। होंठ अब वहाँ पहुँच गये हैं। होंठों के चूमने की गति बढ़ रही है। नीचे, नीचे और नीचे।

हाँफते-हाँफते बंटू ने आँखें खोल दीं। अजीब-सा अहसास। पसीने से तरबतर। उसने तकिये को अपने दोनों पाँव पर रखा और पैर सिकोड़कर लेट गया। रोज़ा...पू...

अगले दिन स्कूल से आते ही पद्मा ने उसे घेर लिया, “कल तू भाग क्यों गया था पार्टी से? नॉट गुड यू नो...”

बंटू ने धीरे-से कहा, “सिर में दर्द था...”

“मेरे को बोलता न। मैं मालिश कर देती। रेड ऑयल है मेरे पास, वेरी स्ट्रॉन्ग...”

बंटू बड़बड़ाया, “सॉरी,”

“परवाह नहीं। तुमने बताया नहीं, पायसम कैसा लगा? नारियल के दूध की स्पेशल खीर। डिड यू लाइक इट?”

बंटू ने सिर हिलाया।

“गुड, गुड। बचाकर रखा है थोड़ा, खायेगा?” पद्मा ने उसके बालों को हलका-सा सहलाकर पूछा।

बंटू ने पीछे हटने की कोशिश की। पद्मा हँसकर बोली, “तू कितना शरमाता है रे! तेरा ऐज का लड़का लोग क्या-क्या करता है, मालूम है तेरे को? बोल?”

पद्मा मिनट-भर में स्टील की कटोरी में खीर लेकर आ गयी। बंटू ने हलकी-सी मुस्कराहट दी और घर आ गया। माँ झुँझला गयी, “ये क्या ले आया कटोरी में? सब बचा-खुचा इधर सरका देती है पद्मा। पता है न कटोरी खाली तो वापस नहीं जायेगी।”

बंटू ने माँ की बात जैसे सुनी ही नहीं। मेज़ पर पड़ा चम्मच उठाकर उसने पूरी खीर खा डाली। खीर का एक-एक क़तरा उसे भिगोता चला गया। पता नहीं था, खीर इतनी स्वादिष्ट भी होती है! दो-तीन दिन गुज़र गये। ट्यूशन से लौटकर आता तो मेज़ पर कटोरी नहीं दिखती थी। तीन दिन बाद माँ से पूछ ही लिया, “पद्मा आंटी नहीं दिख रहीं।”

माँ ने कहा, “तबीयत ठीक नहीं है बेचारी की।”

बंटू का मन बहुत कुछ पूछने का हो आया। माँ ने उसकी दिक्कत दूर करते हुए अपने आप कह दिया, “मैंने टमाटर का सूप बनाया है, तू पद्मा को दे आयेगा? श्रीनि ऑफ़िस के काम से कहीं गया है। अकेली है, पूछ लेना कुछ और चाहिए तो?”

बंटू अजीब-सी सनसनी से भर गया। हाथ में सूप का बरतन पकड़े वह पद्मा के घर का दरवाज़ा खटखटाने लगा। काफ़ी देर बाद पद्मा ने दरवाज़ा खोला।

पद्मा नाइटी में थी। उतरी हुई शक्ल, भुस से बन गये बाल। बंटू ने भगौना आगे कर दिया। पद्मा ने खोलकर देखा और कहा, “सूप आ...? माँ ने भेजा है। गुड...”

बंटू दरवाज़े पर खड़ा रहा। पद्मा कमरे के अन्दर जाते हुए बोली, “उधर कायको खड़ा है? अन्दर आ...”

घर बेतरतीब-सा था। जगह-जगह कपड़े, अखबार। सोफ़े के एक कोने पर जगह बनाकर बैठ गया बंटू। पद्मा एक कप में सूप डालकर ले आयी और सुड़ककर पीने लगी। दो घूँट पीने के बाद पूछा, “तू पियेगा?”

बंटू ने नहीं में सिर हिलाया। पद्मा आकर उसके सामने बैठ गयी। सूप पीने के बाद कप किनारे पर रखती हुई बोली, “दो दिन से फीवर उतरताइच नहीं है। देख तो अभी है कि नई?” पद्मा ने अपना हाथ बंटू के हाथ में पकड़ा दिया। बंटू अनाड़ी की तरह हाथ अपने हाथ में लेकर बैठा रहा। पद्मा के शरीर से आँच-सी उठ रही थी। बंटू का शरीर गर्म होने लगा। अचानक उसने पद्मा का हाथ चूम लिया और तुरन्त उठ खड़ा हुआ और भागते हुए बाहर निकल गया।

घर जाते ही माँ ने सवाल किया, “कैसी है तबीयत उसकी? तू भगौना लेकर नहीं आया? अब कल वह फिर कुछ अल्लम-गल्लम बनाकर पकड़ा देगी...”

बंटू रुक गया, “ले आऊँ?”

“रहने दे। कल खुद दे जायेगी। बुखार उतर गया न उसका?”

बंटू ने हाँ में सिर हिलाया। इस समय उसका दिल ज़ोरों से धड़क रहा था। उसके होंठ लरज रहे थे, लग रहा था, हज़ारों-हज़ार सितारे होंठ पर आकर जम गये हों। कितना मुलायम था पद्मा का हाथ। कितना गुदगुदा।

रात को नींद नहीं आयी बंटू को। सपने में वह आती रही, कभी अपना हाथ आगे करती तो कभी खुले बालों की छतरी-सी बनाकर उसे ढँक लेती। उफ़...रोज़ा...पू... (गुलाब) की खुशबू पहले तो ऐसी न थी!

सप्ताह-भर बाद मेज़ पर कटोरी नज़र आयी। इस बीच बंटू को मौक़ा ही नहीं मिला था पद्मा से मिलने का। फिर कुछ हिचकिचाहट-सी भी थी, पता नहीं क्या सोच रही होगी पद्मा उसके बारे में।

कटोरी में बूँदी के छोटे-छोटे लड्डू थे। बंटू ने एक उठाकर गप से मुँह में रख लिया। मिश्री भरे लड्डू। माँ ने किचन से झाँककर कहा, “कह रही थी पद्मा बंटू को ज़रूर खिला देना...”

बंटू की साँस थम-सी गयी। कुछ कह गयी क्या माँ से?

माँ ने मूली के पराँठे बनाये थे। बंटू को आवाज़ देकर कहा, “पद्मा का प्लेट रखा है टेबल के ऊपर। ये दो पराँठे उसे दे आ। गर्म-गर्म खा लेगी वो भी।”

बंटू ने प्लेट उठा लिया। जाने से पहले आईने के सामने खड़ा हो गया। हलकी-सी मसं भीगने लगी थीं। उसने बालों को हलका-सा पीछे की तरफ़ धकेला। टीशर्ट का कॉलर सही से किया। हथेली में थूक लगाकर चेहरे पर मल लिया।

पद्मा के घर की घण्टी बजाते समय अजीब-सा एक्साइटमेंट होने लगा। दरवाज़ा खुला। पद्मा सज-धजकर खड़ी थी। भारी-सी नीले रंग की जगमग साड़ी। चेहरे पर बड़ी-सी सिन्दूर वाली बिन्दी, बालों में गजरा।

बंटू ने प्लेट आगे किया।

पद्मा मुस्करायी, “लड्डू खाया तू? तेरी सद्बुद्धि के वास्ते पूजा करके लायी मैं अयप्पा टेम्पल से।’

बंटू समझा नहीं, “एक्जाम के लिए?”

“अइयो, तेरा बुद्धि सही हो इसके लिए...” गम्भीर आवाज़ में बोली पद्मा।

बंटू अचकचाया, “ऐसे क्यों बोल रही हैं?”

“उस दिन तू क्या किया मेरे को? किस किया हाथ पे? मिसटेक न? तू मेरा बेटा जैसा...मैंने किसी को नहीं बोला, तू ऐसा किया करके...”

बंटू का चेहरा लाल हो गया। वो फौरन पलटकर अपने घर चला गया। ये पद्मा कौन-सी है? ये वो तो नहीं जो दिन-रात उसके अन्दर-बाहर रहती है। जो उसे न पढ़ने देती है न कुछ करने। पूरी-की-पूरी औरत, वो कह रही है उसने ग़लत किया। रोज़ा पू ग़लत कैसे हो सकता है?

वो अपने कमरे में जाकर थोड़ा रोया भी। खिड़की के पास खड़ा होकर देर तक पद्मा के घर की तरफ़ देखता रहा।

आने वाले कई दिनों तक वह उखड़ा-उखड़ा रहा। स्टेशन के पास भटकते हुए उसे दस पन्नों वाली किताबें दिख गयीं। चार-पाँच बार फेरी लगाने के बाद हिम्मत कर उसने ज़मीन पर दुकान फैलाकर बैठे आदमी से पूछ लिया, “कितने की है?”

आदमी की नज़रें कुटिल थीं। उसने ध्यान से हाँफते-काँपते बंटू की तरफ़ देखा और बोला, “पचास...”

बंटू ने जेब से मुड़ा-तुड़ा नोट निकालकर दे दिया।

“जो किताब चाहिए, चुन ले...”

बंटू ज़मीन पर बैठ गया। सेक्सी पड़ोसिन, बिन्नी का घाघरा, स्वीट जीजू, जालिम किरायेदारनी...उसने सेक्सी पड़ोसिन उठा ली। खड़ा हुआ। आदमी ने खीसों निपोरते हुए कहा, “चल एक और उठा ले...”

बिन्नी का घाघरा हाथ में आ गया। दोनों किताबें शर्ट के अन्दर रखकर वह तेज़ी से घर की तरफ़ बढ़ गया।

कोई कैसे उसके दिल की बात इतनी अच्छी तरह से समझ सकता है? वही कहानी। सन्तोष के पड़ोस में रहने वाली सविता भाभी। जब भैया नहीं होते, उसे घर बुलाती है। खाना खिलाती है, फिर...

बंटू की साँस रुक गयी। सन्तोष को सब मिल रहा है, भाभी मेहरबान है उस पर। सन्तोष चूम रहा है, खेल रहा है उसके जिस्म से, वह हँस रही है, गुदगुदा रही है, और...

बंटू ने किताब बन्द कर दी। बिन्नी का घाघरा तो और भी नशीला था। बंटू ने लम्बी साँस ली...

स्कूल से आने के बाद और रात को सोने से पहले वह ज़रूर पढ़ता दोनों किताबें। बहुत बाद में पता चला कि एक किताब की कीमत दस रुपये है। यहाँ भी वह लुट गया...

पद्मा पहले की तरह आती थी घर पर, उसके सिर पर हाथ भी फेर देती थी। वह झटक देता उसका हाथ...

ज़्यादा दिनों तक नहीं चला ये... ग्यारहवीं में फेल हो गया बंटू। माँ दुखी, पापा नाराज़। ट्यूशन में इतने पैसे लग गये। तय हुआ, अगले साल वो नये स्कूल में जायेगा, विषय बदल लेगा, गणित दिमाग़ में नहीं चढ़ता, न सही। कुछ और कर लेगा।

बंटू दुखी था, अपने आप से। सबसे मुँह छिपाकर घूमता। स्टेशन के आसपास। वहीं मिला था उसे केसू। होगा उसकी उम्र का, एकदम घाघ। दो दिन में उसने पता कर लिया कि बंटू को चाहिए क्या। बंटू ने कहा कुछ नहीं, पर केसू जैसे सब समझ गया।

तीसरे दिन वो उसे अपने स्कूटर पर बिठाकर साथ ले गया, धूल-मिट्टी, शोर, गन्दगी, पॉलीथिन और बदबू से पटे नाले, पतली गली के दोनों तरफ़ बनी कच्ची कॉलोनी। परदा पड़े एक घर के दरवाज़े के सामने स्कूटर रोक केसू ने उसे अन्दर चलने का इशारा किया।

सँकरा, काला, तीन दीवारों वाला कमरा। अन्दर जाते ही हवा की बदबूदार लहर ने बंटू का दिमाग़ भन्ना दिया। केसू ने हाथ पकड़कर उसे बिठाया और फुसफुसाते हुए पूछा, "अंटी में माल है?"

बंटू सकपकाया। एक सौ से कुछ ज़्यादा रुपये थे। केसू ने झपटकर सौ का पत्ता उठाते हुए उसकी तरफ़ देखकर आँख मारी और कमरे से बाहर निकल गया। झिरी से आती रोशनी में बंटू ने आँख मिचमिचाकर देखा। कोने में एक स्टूल पर एक लड़की-सी बैठी थी। स्कर्ट और ब्लाउज़ में। साफ़ दिखने लगा। पकी शक्ल की लड़की। उसकी तरफ़ देखकर लड़की ने आँख मारी, होंठ दबाया और अपना ब्लाउज़ खोलने लगी।

बंटू डर गया।

लड़की हँसने लगी। उसने ज़ोर की अँगड़ाई ली और इशारे से बंटू को अपने पास बुलाया। बंटू डरते-डरते गया। लपककर लड़की ने बंटू का एक हाथ अपने नग्न सीने पर रखा। बंटू को करंट मार गया। वह हाथ छुड़ाने लगा। लड़की उसे अपनी तरफ़ खींचने लगी।

लड़की के दिल की धड़कन उसे सुनाई पड़ रही थी। लड़की ने उसका हाथ अपने शरीर पर फिराना शुरू किया। स्कर्ट के ऊपर और बटन खोलकर नीचे।

बंटू पसीना-पसीना हो गया। अब लड़की का एक हाथ बंटू की कमर के नीचे सरकने लगा। पैरों के बीच जींस को वह ऊपर से टटोलने लगी। बंटू कसमसाया।

लड़की की हरकतें बढ़ने लगीं। बंटू ने आँख बन्द कर सेक्सी पड़ोसिन को ज़ेहन में लाने की कोशिश की, उसकी नसों तनने लगीं। जुबाँ शुष्क होने लगी। ये वो नहीं है...

एक झटके में वो उठा, लड़की के हाथों से ज़बरदस्ती अपने को छुड़ाया और दरवाज़ा खोलकर बाहर निकल गया। इस समय पेट में जबरदस्त उबाल था, दिमाग़ और मुँह कसैला-सा हो रहा था। दरवाज़े के सामने स्कूटी पर केसू बैठा था। उसने बंटू को आवाज़ दी। बंटू ने नहीं सुना, वह दौड़ता हुआ गली पार कर बाहर निकल गया।

उस दिन रात को बंटू ने पापा से कहा, “मुझे ग्यारहवीं रायपुर से नहीं करनी। मुझे कहीं और भेज दो।”

सोच-समझकर पापा ने जबलपुर का नाम लिया-बुआ के घर। बंटू सुबह-सुबह बिना किसी से मिले जबलपुर चला गया।

विकास दिल्ली यूनिवर्सिटी से पढ़ाई पूरी करके घर लौट रहा था। पापा का कहना था, उनके बिज़नेस में हाथ बँटाये। माँ का रोना, घर लौट आ, पाँच साल हो गये तुझे घर से दूर गये। दिल्ली स्टेशन पर गर्लफ्रेंड निम्मी के बालों में हाथ फेरकर उसके गाल पर चुम्मा लेते हुए विकास ने कहा, “बेबी, डोंट वरी, मैं आ जाऊँगा, जल्दी।”

निम्मी रुआँसी होकर बोली, “तुम्हारे डैड तुम्हें न जाने दें तो?”

“तुम नया बॉयफ्रेंड ढूँढ़ लेना...”

निम्मी उसकी पीठ पर मुक्का मारने लगी। विकास हँसने लगा।

पापा ने पिछले साल रायपुर की नयी बनी समता कॉलोनी में अपना दोमंज़िला घर बना लिया था। पापा का बिज़नेस अच्छा चल रहा था। घर में गाड़ी आ गयी थी, एसी आ गया था। दो दिन आराम करने के बाद विकास पापा की नयी गाड़ी में तफ़री करने निकला। चलते समय माँ ने कहा, “तू अगर शहर की तरफ़ जा रहा है तो एक काम करेगा? पुराने घर में सिलबट्टा रखा है, लेता आयेगा?”

घूमते-घूमते रात हो गयी। अपना पुराना इलाक़ा पहचान में ही नहीं आया। मकान कुछ और पुराना हो गया था। जर्जर-सी दीवारें, सड़क के नाम पर उखड़े हुए पत्थर। किसी तरह वो गाड़ी मकान के सामने लेकर आया। धूल में लिपटा ताला खोल वह अन्दर गया। यक़ीन नहीं हुआ कि यह घर इतना छोटा था। उसने घूम-घाम कर देखा। पीछे का दरवाज़ा खोला। बाहर निकलते ही पड़ोस के घर के बाथरूम की खिड़की दिख गयी। उसके होंठों पर मुस्कराहट आ गयी। उसने खिड़की के बन्द पड़े पट को हलका-सा खोला, आँखों को यक़ीन नहीं हुआ। कभी यहाँ उसे स्वर्ग नज़र आता था। अब दीवारें बासी-सी, सीलन से भरी, नल से चूता पानी, दोरंगा हुआ बकेट। ज़मीन पर पड़े ढेर सारे अनधुले, भीगे कपड़े।

उसने निगाह फेर ली। सिलबट्टा उठाकर वह बाहर निकला। ताला लगाते-लगाते निगाह पड़ोस पर पड़ी। दरवाज़ा खुला था। सिलबट्टा गाड़ी में रखकर वह पड़ोस के

दरवाज़े के सामने रुक गया और हलके हाथों से दस्तक देने लगा। अन्दर से आवाज़ आयी, भारी-सी, पहचानी-सी, “कौन है?”

एक सेकेंड के लिए विकास के दिल की धड़कन रुक गयी। क्या वो उसे पहचानेगी?

दरवाज़े पर पद्मा आयी। विकास दो क़दम पीछे हट गया। वही थी...वैसी ही थी... बालों में हलकी-सी सफ़ेदी झलक रही थी, जूड़े में मोगरे का गजरा। आँखों के नीचे ज़रा-सा कालापन था, गहरे काजल भरी वही दपदपाती आँखें। वैसा ही मुलायम चेहरा। नीले रंग की साउथ कॉटन साड़ी से वही भीनी-भीनी खुशबू आ रही थी।

विकास के दिल की धड़कन तेज़ हो गयी। क्या वह पहचान पायेगी? जिम से बना गठीला बदन, चेहरे पर खुरदरी-सी दाढ़ी, आँखों पर चश्मा...

पद्मा की आँखें उस पर टिक गयीं। रुककर उसने पूछा, “यस? कौन माँगता है?”

विकास ने बुदबुदाते हुए कहा, “यहाँ एक लड़का रहता था, बंटू ...”

पद्मा की आँखें चमकने लगीं। कुछ भर-सा आया उन आँखों में। आँखों के साथ-साथ होंठ मुस्कराने लगे। पद्मा कुछ कह रही थी। विकास को सुनाई नहीं पड़ा। विकास पीछे मुड़कर गाड़ी की तरफ़ चलते हुए धीरे से बोला, “रोज़ा...पू...”

मन की उलझन

-दिव्य प्रकाश दुबे

मैं 60 साल का पुरुष हूँ। मेरी बीवी को गुज़रे हुए दो साल हो गये हैं। मैं अपने बेटे और उसके परिवार जिसमें दो जुड़वाँ बच्चे और बहू है, के साथ मुम्बई में रहता हूँ। घर में तीन कमरे हैं-एक मेरा बाक़ी दोनों बेटे और उसके परिवार के लिए। घर में इतने लोगों के होने के बाद भी मैं अक्सर बड़ा अकेला महसूस करता हूँ। मैं दुनिया घूमना चाहता हूँ। बच्चों को बड़ा करने के चक्कर में मैं कभी खुद अपने लिए समय नहीं निकाल पाया। मेरा गोवा जाने का बहुत मन है लेकिन मैं अकेले घूमने नहीं जाना चाहता।

इधर फ़ेसबुक पर मेरी दोस्ती अपनी उम्र से आधी उम्र की एक लड़की से हो गयी। वो बहुत अच्छी है मेरी बहुत इज़ज़त करती है। मुझसे बहुत कुछ सीखती है और मैं भी उससे बहुत कुछ सीखता हूँ। मुझे अच्छा लगता है उसके साथ।

पहले तो हमने कैफ़े में मिलना शुरू किया। फिर जब बच्चे स्कूल में रहते हैं और बेटा-बहू ऑफ़िस में तो मैं उसको घर लाने लगा। हमें पता ही नहीं चला कि कब हम करीब आ गये। ये करीब आना अलग था। इसमें मन, विचार और शरीर तीनों करीब थे। मैं अपनी बीवी से कभी अपने मन की वो बातें नहीं कर पाया जो मैं इस लड़की से कर लेता हूँ।

मैं इस तरीक़े के रिश्ते को कोई नाम नहीं देना चाहता और न ही मैं कोई नाम दे पाऊँगा क्योंकि जो ये है वो प्यार से बहुत अच्छा है। वो जितना मेरा ख़याल रखती है उतना कोई नहीं रखता।

ये सब कुछ दो-तीन महीने चला लेकिन एक दिन मेरे बेटे और बहू ने मुझसे कहा कि अगर आपको ये सब करना है तो अलग घर ले लीजिए। बच्चों पर आपकी हरकतों का बुरा प्रभाव पड़ रहा है।

मैं चूँकि मिडिल क्लास आदमी हूँ। जैसे-तैसे करके मैंने अपने रिटायरमेंट पर एक घर ख़रीदा है। दुबारा घर ख़रीदने की मेरी हैसियत नहीं है। उस लड़की से बात किये हुए मुझे तीन महीने हो गये हैं। मैं उसकी छुअन से लेकर उसकी बातें तक सब

कुछ बहुत ज़्यादा मिस करता हूँ। मुझे लगता है कि मैं आत्महत्या कर लूँगा। मैं मरना नहीं चाहता, मैं क्या करूँ?

मनोहर कहानियाँ में ये सवाल पढ़ने के बाद प्रोफ़ेसर साहब ने जवाब पढ़ने की ज़हमत भी नहीं उठायी। मन की उलझन में मज़ा सवाल का है जवाब से कभी मन सुलझता नहीं।

यहाँ जिन प्रोफ़ेसर साहब की बात हो रही है वो कौन थे, ये एक बार में कहना थोड़ा मुश्किल था। वो कवि थे, लेखक थे, चिन्तक थे, या बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर थे किसी भी एक चीज़ पर ठीक-ठीक उँगली रखकर नहीं बताया जा सकता था।

वो कुछ थे भी या नहीं इस बात का उनको खुद ही अक्सर डाउट होता था। जो भी ज़्यादा पढ़-लिख लेता है वो अक्सर भूल ही जाता है कि जो वो बोल रहा है ये उसी का है कि किसी का उधार है।

अपनी जवानी के दिनों में अपनी शादी के अलावा प्रोफ़ेसर साहब के कई प्रेम-प्रसंग चल चुके थे। हर प्रेम-प्रसंग के बाद प्रोफ़ेसर साहब बहुत उदास हो जाते। शुरू में 3-4 बार प्यार करने के बाद उनको समझ में आ गया था कि इस तरह कुछ नहीं होगा उनकी बेचैनी कम नहीं होगी, लेकिन चूँकि प्रेम करना हर पढ़े-लिखे आदमी का धर्म ही नहीं आज़ादी से जुड़ा हुआ मसला है तो प्रोफ़ेसर साहब अपने-आपको रोक नहीं पाते थे।

प्रेम में कोई टेक्निकल दिक्कत न हो इसके लिए प्रोफ़ेसर साहब अपने हर नये प्रेम को मेनका नाम से ही पुकारते थे। वो चाहते थे कि उन्हें उनके नाम से न पुकारा जाये। हर बार लड़की या महिला जिससे भी प्रेम हुआ उससे ज़िद करते कि उनका नाम रखा जाये। प्रेम में बिगाड़कर रखे गये नाम ही प्रेम की असल मंज़िल हैं। प्रेम में इस तरह की हरकतें न करने वाले कभी समझ ही न सकेंगे कि प्रेम आखिर है क्या? प्रोफ़ेसर साहब का ये मानना था कि प्रेम में जो भी बुद्धिजीवी बना वो असफल हुआ। प्रेम असल में बचकानी हरकतें करने का नाम है।

प्रोफ़ेसर साहब की बीवी पूजा-पाठ करने वाली महिला थीं, उनकी मृत्यु के बाद से प्रोफ़ेसर साहब कुछ ज़्यादा ही अकेला महसूस करते। लड़का पढ़ने के बाद अमेरिका में सेटल हो चुका था। ज़िन्दगी-भर प्रोफ़ेसर साहब और उनके लड़के के बीच कुल मिलाकर केवल इतनी ही बात हुई थी कि बेटा ठीक हो और बेटा जवाब दे देता कि हाँ पिताजी! आप कैसे हैं, आपकी तबीयत कैसी है।

हालाँकि प्रोफ़ेसर साहब शादी के कोई बहुत बड़े फ़ैन नहीं थे लेकिन 55 साल की उम्र में बड़े से घर में अकेले रहना एक बड़ा काम था। एक-दो बार महीने-भर की छुट्टी लेकर अमेरिका भी हो आये थे। लेकिन किसी भी चीज़ में प्रोफ़ेसर साहब का मन लगता ही नहीं।

उनके जो दोस्त थे भी वो लोग तो खुद ही अपनी ज़िन्दगियों में बहुत बिज़ी थे। प्रोफ़ेसर साहब की लाइब्रेरी में करीब साढ़े तीन हज़ार किताबें थीं लेकिन एक भी किताब

ऐसी नहीं थी जो प्रोफ़ेसर साहब को कुछ दिलासा दे सके। उन्होंने कॉलेज में कुछ नयी असिस्टेंट प्रोफ़ेसर से बात करने की कोशिश भी की लेकिन किसी ने उनको भाव ही नहीं दिया। प्रोफ़ेसर साहब को अब ये भी डर था कि अभी तक तो सब ठीक-ठाक कट गया बुढ़ापे में कहीं कोई ऐसा दाग न लग जाये।

शादी करने का खयाल भी उनके मन में आया लेकिन जवान बेटे का लिहाज़ कर गये। प्रोफ़ेसर साहब को कोई ऐसा चाहिए था जिसको वो मेनका बोल सकें और बदले में सामने से मेनका प्रोफ़ेसर साहब को किसी ऐसे नये नाम से पुकारे जिस नाम को सुनने के लिए वो तरस गये थे। उनको अक्सर ही रात-रात भर नींद नहीं आती थी।

लड़के से फ़ोन पर बात किये महीनों बीत जाते थे। इधर कुछ दिनों से अपनी बीवी की तस्वीर की ओर देखते हुए कुछ-न-कुछ बड़बड़ाने लगते थे। नौकर को उन्होंने इसीलिए हटा दिया कि कम-से-कम खाना बनाने और घर की सफ़ाई करने में कुछ टाइम तो कटेगा।

अपने ख़ाली समय में वो कविता करने वाली युवा लड़कियों की किताबें ख़रीदकर न केवल पढ़ते बल्कि समीक्षा भी लिखकर भेजते। मन-ही-मन उन्हें पता होता कि कविता इतनी अच्छी नहीं थी लेकिन प्रोफ़ेसर साहब को इस बात से मतलब नहीं था। वो बस ये चाहते थे कि शायद कोई युवा और सुन्दर कवयित्री उनके चातुर्य से उनकी तरफ़ आकर्षित हो जाये। अपनी इंटलेक्ट से सामने वाले को मोहपाश में ले लेना दुनिया के लिए कुछ नया नहीं, प्रोफ़ेसर साहब के लिए भी नहीं था। वो तो अपनी तरफ़ से सब तरह से कोशिश कर रहे थे लेकिन बात बन ही नहीं रही थी।

इसी उधेड़बुन में एक दिन उन्होंने अपनी शक्ल को शीशे में गौर से देखा तो पाया कि उनके बहुत सारे बाल सफ़ेद हो गये हैं। नीबू-शहद पानी पीते हुए जब उन्होंने संडे का अख़बार खोला तो पाया कि पूरा अख़बार एक 2-3 कमरे के घर के विज्ञापन से भरा पड़ा है। हफ़्ता यूनिवर्सिटी में कट जाता था, लेकिन संडे कटता ही नहीं था। वो अपने घर के कमरे गिनने लगे और सोचने लगे कि 2 कमरे का ख़ालीपन 6 कमरे के ख़ालीपन से कम ही होता होगा। इतना बड़ा घर बनवाने का फ़ायदा ही क्या हुआ।

अख़बार में तमाम विज्ञापनों के बीच उनकी नज़र गोवा घूमने के एक विज्ञापन पर गयी। उसको देखकर उनको याद आया कि उनको घूमने गये हुए भी कितने दिन हो गये हैं। ऐसे तो प्रोफ़ेसर साहब पूरा भारत ही घूम चुके थे। प्रोफ़ेसर साहब ने सोचा कि गोवा की तैयारी की जाये। उन्होंने झट से ट्रैवल वाले को फ़ोन मिलाया। उधर से किसी लड़की ने फ़ोन उठाया।

“नमस्कार सर, कौल ट्रैवल से मैं मेनका बात कर रही हूँ। बताइए, मैं कैसे आपकी सहायता कर सकती हूँ?”

मेनका नाम सुनकर प्रोफ़ेसर साहब एक सेकेंड को सकपका गये लेकिन फिर अपने-आप को कंट्रोल करते हुए उन्होंने गोवा के पैकेज के बारे में पूछा।

प्रोफ़ेसर साहब के पास पैसे की कोई कमी नहीं थी, खर्चा कुछ था नहीं। उन्होंने अपना पूरा पैकेज बनवाया। मेनका ने पूरा पैकेज बनाने के बाद कहा, “सर, गोवा के फ़ाइव स्टार होटल में हफ़्ते-भर रुकना, बनारस से हवाई जहाज़ से आना-जाना। गोवा में कसीनो और स्पा का कुल मिलाकर दो लोगों का एक लाख बीस हज़ार में हो जायेगा।”

प्रोफ़ेसर साहब ने कहा, “वो अकेले हैं। एक आदमी का कितने का होगा।”

मेनका से कंट्रोल नहीं हुआ। उसने कहा कि, “सर, गोवा अकेले कौन जाता है?”

इस सवाल ने प्रोफ़ेसर साहब की दुखती रग पर हाथ रख दिया था। मेनका भी कभी गोवा नहीं गयी थी। ठीक वैसे जैसे फ़ोन पर जो लड़कियाँ हमें सपनों का घर बेच रही होती हैं अक्सर ही उनका खुद का घर नहीं होता।

मेनका ने कहा, “सर, अगर आप दो बुकिंग करायेंगे तो मैं आपको 20 प्रतिशत डिस्काउंट दे सकती हूँ।”

प्रोफ़ेसर साहब सोच में डूब गये। उन्होंने बड़ी हिम्मत करके पूछा, “मेनका तुम कभी गोवा गयी हो।”

उसने कहा, “नहीं सर, लेकिन मन बहुत है।”

प्रोफ़ेसर साहब का मन किया कि बोल दें कि तुम साथ चलो, लेकिन उन्होंने फ़ोन काट दिया।

प्रोफ़ेसर साहब सोचने लगे कि क्या कोई ऐसा है जो उनके साथ गोवा जा सकता है। उन्होंने उस कवयित्री को फ़ोन लगाया जिसकी किताब की उन्होंने समीक्षा लिखी थी। उस लड़की ने प्रोफ़ेसर साहब का एहसान भी माना था। प्रोफ़ेसर साहब को लगा कि वो शायद मान जाये।

उन्होंने उस लड़की को मिलने के लिए यूनिवर्सिटी बुलाया। वो लड़की प्रोफ़ेसर साहब के लिए एक नया पेन लेकर आयी। प्रोफ़ेसर साहब ने अपनी लाइब्रेरी से निकाली हुई कुछ तीन-चार किताबें उसके सामने रखते हुए कहा, “आप बहुत अच्छा लिखती हैं। आपके समकालीन लेखकों में जो बात आपकी लेखनी में है किसी में नहीं। मैंने आपके लिए ये कुछ तीन-चार दुर्लभ किताबें निकालकर रखी हैं। आप इनको पढ़ें।”

वो लड़की किताबें देखकर बहुत खुश हुई। उसकी मुस्कराहट से ऐसा लग रहा था कि वो प्रोफ़ेसर साहब से खुश भी है और उनके एहसान के बोझ तले दबी हुई भी।

हिन्दी साहित्य से लेकर दुनिया-भर के बड़े लेखकों और विचारकों की बात करते हुए एक घण्टा बीत चुका था लेकिन अब तक प्रोफ़ेसर साहब गोवा के बारे में कुछ भी पूछने की हिम्मत नहीं कर पाये थे।

उन्होंने मज़ाक़ में कहा कि आपको एक-दो हफ़्ते लम्बी छुट्टी पर जाना चाहिए केवल अध्ययन करने।

लड़की ने उनकी बात को बहुत संजीदा तरीके से लिया और कहा, “सर, जाने का तो बहुत मन है लेकिन बाहर जाने में इतना खर्चा है कि प्लान नहीं बन पाता।”

प्रोफ़ेसर साहब अब सोच में थे कि आगे क्या बोलें। उन्होंने बहुत देर सोचकर ये कहा कि वो गेस्ट हाउस का इन्तज़ाम करा देंगे। लड़की ने उनको इस बात के लिए धन्यवाद दिया और किताब लेकर चलने के लिए उठी।

बेकाम की इतनी बातें करके प्रोफ़ेसर साहब थक चुके थे। वो सीधे पूछ पायें इस बात की हिम्मत उनमें थी नहीं।

उन्होंने उस लड़की से कहा कि किसी दिन आप घर आ जायें वहाँ की लाइब्रेरी में कुछ ऐसी दुर्लभ पुस्तकें हैं जिनसे आपको बहुत लाभ होगा।

लड़की को ये ऑफ़र बहुत अच्छा लगा। उसने कहा, “सर, जब आप बतायें मैं आ जाऊँगी।”

प्रोफ़ेसर साहब ने आगे ये भी जोड़ दिया कि चूँकि किताबें बहुत हैं तो आप फ़ुर्सत से आयें और खाना-वाना वहीं खायें। लड़की इस बात के लिए तैयार थी।

बस फिर क्या था प्रोफ़ेसर साहब अगले ही दिन आने की ज़िद करने लगे। लड़की को थोड़ा शक हुआ। उसने बहाना बनाकर टालने की बहुत कोशिश की, लेकिन जब उसको लगा कि ये ऐसे नहीं मानेंगे तो उसने अगले दिन आने के लिए हामी भर दी।

अगले दिन प्रोफ़ेसर साहब उस लड़की का इन्तज़ार करते हुए उसको फ़ोन मिलाते रहे लेकिन न लड़की आयी न ही उसका उस दिन के बाद से फ़ोन लगा।

प्रोफ़ेसर साहब को गुस्सा तो बहुत आया। उस गुस्से में उन्होंने उस लड़की को एक लम्बा-चौड़ा मैसेज भेजा ये बताते हुए कि उसकी कविताएँ कितनी ख़राब हैं। उस लड़की ने इस बात का कोई जवाब नहीं दिया।

चूँकि प्रोफ़ेसर साहब पढ़ने-लिखने वाले इन्सान थे तो अपने आसपास क्या नया हो रहा है इस पर नज़र रखते थे। उन्होंने संडे के अख़बार में कुछ डेटिंग एप्स के बारे में पढ़ा। उन्होंने सोचा कि यहाँ तो सामने वाली पार्टी भी डेटिंग के लिए ही एप पर होगी तो कोई उनको जज नहीं करेगा।

एप उनके लिए एक नयी दुनिया थी। यहाँ पर तमाम लड़कियों की फ़ोटो देखकर प्रोफ़ेसर साहब को लगा कि यहाँ तो काम हो ही जायेगा। उन्होंने ख़ूबसूरत दिखने वाली हर लड़की पर अपना टिक लगाया और इन्तज़ार करने लगे कि सामने से कोई जवाब आये।

एक-दो दिन तक वो जब मौक़ा मिलता एप खोलकर देखते कि क्या उनको किसी का जवाब आया है। दो दिन तक कुछ नहीं आया। वो रोज़ एप खोलकर देखते, रोज़ करीब-करीब वही लड़कियाँ दिखतीं लेकिन कोई जवाब नहीं देती। एक रात सोने से पहले उनको एक लड़की का जवाब आया।

“दस हज़ार रुपये में एक रात।”

प्रोफ़ेसर साहब को इस तरीके के जवाब की उम्मीद नहीं थी। जिस प्रोफ़ाइल से ये जवाब आया था। उसने रवीना टंडन की फ़ोटो लगा रखी थी। प्रोफ़ेसर साहब पहले तो सकपका गये फिर उन्होंने जवाब लिखा, “पहले मिलकर बात करनी है।”

उस प्रोफ़ाइल से जवाब आया, “पहले पैसे, फिर काम, फिर बात।”

प्रोफ़ेसर साहब के अन्दर एक थका हुआ जवान आदमी और जवान बूढ़ा हिचकोले मार रहा था। दस हज़ार रुपये उनके लिए कुछ नहीं थे।

वो दस हज़ार देने के लिए तैयार हो गये। तय ये हुआ कि रवीना टंडन नाम की वो लड़की आधे पैसे मिलने के बाद प्रोफ़ेसर साहब के घर आ जायेगी।

प्रोफ़ेसर साहब ने पैसे ट्रांसफ़र कर दिये और रवीना का इन्तज़ार करने लगे। तय समय से एक घण्टे पहले तक जब कुछ जवाब नहीं आया तो उन्होंने एप खोलकर रवीना को मैसेज किया लेकिन उस प्रोफ़ाइल पर अब कोई मैसेज जा ही नहीं रहा था।

प्रोफ़ेसर साहब ने अपनी बेवकूफी और उस एप को हज़ार गालियाँ दीं और उस एप को तुरन्त ही अनइन्स्टॉल कर दिया। उस बेचैनी में उन्होंने फिर से उस कविता वाली लड़की को मैसेज करके माफ़ी माँगी। इस उम्मीद में कि शायद वहाँ अब भी कोई उम्मीद हो।

प्रोफ़ेसर साहब को इस वक़्त कोई ऐसा चाहिए था जिसके साथ सोकर वो अपने बुढ़ापे का बोझ थोड़ा हलका कर सकें। उन्हें लगा कि बनारस में ये सब कभी नहीं हो पायेगा और यहाँ बदनामी का भी डर है।

उनको अख़बार के उस गोवा वाले एड का ख़याल आया। उन्होंने अख़बार निकालकर सामने ही टेबल पर रख लिया कि सुबह उठते ही वो गोवा का पैकेज बुक करा लेंगे।

सुबह उठकर उन्होंने दस बजने का इन्तज़ार किया। उधर से किसी लड़की ने फ़ोन उठाया। लाख कोशिश के बाद भी प्रोफ़ेसर साहब कुछ बोल नहीं पाये। उन्होंने फ़ोन काट दिया।

अगले ही मिनट उधर से मेनका का फ़ोन आया-

“नमस्कार सर, कौल ट्रैवल से मैं मेनका बात कर रही हूँ। बताइए, मैं कैसे आपकी सहायता कर सकती हूँ?”

प्रोफ़ेसर साहब ने याद दिलाते हुए कहा कि उन्होंने गोवा के पैकेज की बात की थी। मेनका ने बात करके प्रोफ़ेसर साहब को एक नया ऑफ़र दिया।

मेनका ने प्रोफ़ेसर साहब की मनःस्थिति समझते हुए कहा, “सर, मैं एक काम करती हूँ। अभी मेनका नाम से ही बुकिंग करवा लेती हूँ आप बाद में नाम चेंज करवा लीजियेगा।”

प्रोफ़ेसर साहब जिस हालत में थे उन्हें ये उम्मीद भी बन आयी थी कि शायद मेनका ही उनके साथ चल पड़े।

प्रोफ़ेसर साहब से 'न' नहीं बोला गया। प्रोफ़ेसर साहब ने पूछा पेमेंट कैसे करनी है। मेनका ने तुरन्त कहा कि वो एक लड़का भेज देगी। इस पर प्रोफ़ेसर साहब ने कहा कि वो खुद ऑफ़िस आकर पेमेंट करना चाहते हैं। प्रोफ़ेसर साहब के मन में था कि वो एक बार देख तो लें कि जिस मेनका के साथ शायद वो गोवा जाना चाहते हैं वो दिखती कैसी है। एक उम्र के बाद हर छोटी चीज़ हर उस बड़ी चीज़ की याद दिलाती है जो एक समय में बहुत आसान थी।

क़रीब दो दिन तक प्रोफ़ेसर साहब अपना मन नहीं बना पाये। इधर उनको रवीना के नम्बर से एक मैसेज आया कि उस दिन वो नहीं आ पायी क्योंकि उसका फ़ोन चोरी हो गया था।

प्रोफ़ेसर साहब ने जब पलटकर उस नम्बर पर कॉल किया तो फ़ोन उठा नहीं। उधर प्रोफ़ेसर साहब क्लास में लड़के-लड़कियों को हँसकर और धँसकर बात करते हुए देखते तो अपने आप पर उनको बहुत गुस्सा आता।

क्लास के बाद जब प्रोफ़ेसर साहब ने रवीना का मैसेज चेक किया तो देखा उसने पाँच हज़ार रुपये और माँगे हैं।

जब वो क्लास से निकल रहे थे तो एक-दो लड़कों की आवाज़ सुनाई पड़ी...जिसमें रवीना और कुछ पाँच हज़ार की बात थी।

प्रोफ़ेसर साहब अन्दर से इतना डरे हुए थे कि उनको लगा कि हो न हो क्लास के ही किसी लड़के या लड़की ने उनके साथ रवीना वाला मज़ाक़ किया है।

क्लास से निकलते हुए उनको जो सुनाई पड़ा वो सही भी था या नहीं इसका अन्दाज़ा लगाना मुश्किल है क्योंकि डर अगर अन्दर हो तो बाहर हर जगह वही डर सुनाई और दिखाई देता है।

उस दिन कॉलेज से निकलने के बाद ही उन्होंने कुछ दिन के लिए छुट्टी ले ली। बनारस शहर उनको हर तरफ़ से काटने दौड़ रहा था। अपने बिस्तर पर अकेला सोने का खयाल उनको इतना उदास कर देता कि कई बार वो रात में बिना खाये सो जाते।

उनको बस अब कोई ऐसा चाहिए था जो उनके सर को सहला कर हालचाल पूछ ले। शाम तक जो हलका-सा दर्द सर में होता है उस पर अपनी उँगलियों से मालिश करके कान में धीमे-से फुसफुसा कर कहे कि, "प्रोफ़ेसर, दुनिया केदारनाथ सिंह की कविता जितनी नर्म और मुलायम है।"

प्रोफ़ेसर साहब इतना थक चुके थे कि शाम को कोई उनको उनके नाम से पुकार ले। प्रोफ़ेसर की पहचान के आगे वो अपना नाम भूल ही चुके थे।

नाम पुकारे जाने पर पलटकर कौन जवाब देता है वो इस बात पर निर्भर करता है कि नाम पुकार कौन रहा है। अगर कोई बचपन का खोया हुआ दोस्त पुकारे तो आदमी

पलटकर जवाब देने पर बच्चा हो चुका होता है और अगर कोई बिसरी हुई प्रेमिका पुकारे तो वो लड़का पलट के जवाब देता है जो दुनिया बदलकर नयी कर सकता था।

प्रोफ़ेसर साहब ने उस बनारस को मन-ही-मन कोसा कि जिस उस्ताद बिस्मिल्ला खाँ ने पूरी दुनिया में बनारस को एक अलग पहचान दी, वो बनारस उनको जब कुछ गज ज़मीन नहीं दे पाया तो उनकी बिसात ही क्या है।

पूजा-पाठ कर्मकाण्ड वो मानते नहीं थे इसलिए बनारस में मरकर उनको स्वर्ग मिलेगा ऐसी फीकी उम्मीद भी उनको अब शहर से नहीं थी।

प्रोफ़ेसर साहब बस किसी तरह ये शहर छोड़कर कुछ दिन के लिए गोवा जाना चाहते थे। हर जगह धोखा मिलने के बाद भी प्रोफ़ेसर साहब ने उम्मीद नहीं छोड़ी थी। वो कौल ट्रैवल कम्पनी के दिये हुए पते पर अपने बाल रँगवाने के बाद पहुँचे। वहाँ ऑफ़िस में कई लड़कियाँ थीं। उन्होंने मेनका के लिए पूछा तो एक करीब 25 साल की खूबसूरत लड़की ने उनको अपने पास बुलाया। जैसे ही प्रोफ़ेसर साहब ने अपना नाम बताया तो उस लड़की ने प्रोफ़ेसर साहब को अन्दर कौल मैम के पास भेजा।

कौल मैम की उम्र थी करीब 47-48 साल। ये ट्रैवल कम्पनी उन्हीं की थी। अपने पति से तलाक़ और अपनी बेटी की शादी के बाद उन्होंने ये कम्पनी खोली थी। उनको घूमने का शौक़ बहुत था लेकिन वो बहुत घूम नहीं पायी थीं। शौक़ होने और पूरे होने की सड़क कभी-कभी इतनी लम्बी होती है कि ज़िन्दगी निकल जाती है।

उन्होंने प्रोफ़ेसर साहब से सबसे पहले तो माफ़ी माँगी कि उन्होंने अपना नाम मेनका बताया था। मेनका की कहानी ये थी कि जब भी ऑफ़िस में कोई और लड़की नहीं आयी होती या जब भी कॉल वे उठातीं तो अपना असली नाम बताने की बजाय मेनका बतातीं। वो मेहनत से बिज़नेस करने वाली महिला थीं जो चेक करती रहती कि कस्टमर को आखिर चाहिए क्या?

ख़ैर, कौल मैम ने ये भी बताया कि उन्होंने दो सीट ब्लॉक कर दी थीं। उनकी बेटी भी उसी डेट पर गोवा पहुँच रही है। वो अपनी बेटी को सरप्राइज़ देना चाहती थीं। असल में कॉल मैम ने अपनी सीट भी जानकर बुक कर दी थी क्योंकि दो टिकट एक साथ कराने पर डिस्काउंट मिल रहा था।

प्रोफ़ेसर साहब को अब यक़ीन नहीं हो रहा था कि गोवा जाकर वो भले अलग रुकें लेकिन कम-से-कम उनके साथ कोई जा तो रहा था।

कौल मैम ने प्रोफ़ेसर साहब के लिए चाय मँगवायी और बातों के दौर चले। बातों-बातों में पता चला कि कौल मैम ने अपने ख़ालीपन को मिटाने के लिए ही ये कौल ट्रैवल का छोटा-सा ऑफ़िस बनाया था।

कौल मैम की बातों में वही बेफ़िक़्री थी जो प्रोफ़ेसर साहब इतने दिनों से ढूँढ़ रहे थे। गोवा का प्लान बस एक हफ़्ते बाद का था। इस बीच कौल मैम और प्रोफ़ेसर साहब की

बार्ते होने लगीं।

इतनी-सी बात जैसे कि कौल मैम का पूछना कि, “आज आपने अपने लिए रात के खाने में क्या बनाया?” और प्रोफ़ेसर साहब का कहना कि आज भूख नहीं थी तो बस सूप बना लिया था। इस पर कौल मैम का कहना कि अरे आप कुछ खायेंगे नहीं तो गोवा में बीच पर टहलेंगे कैसे।

रात में सोने से ठीक पहले कौल मैम को आखिरी मैसेज करना और सुबह उठने के बाद कौल मैम के किसी फॉरवर्ड किये हुए फूल की तस्वीर वाले गुड मॉर्निंग मैसेज ने प्रोफ़ेसर साहब को ज़िन्दगी में एक नयी उम्मीद दे दी थी।

बनारस में कोई इतने खुले दिमाग़ की महिला प्रोफ़ेसर साहब को मिलेगी ऐसा कभी उन्होंने सोचा ही नहीं था। प्रोफ़ेसर साहब को कौल मैम से बात करके ये अहसास हुआ कि बनारस में उनके जैसे लोगों के लिए कितनी घुटन है। प्रोफ़ेसर साहब खुश थे।

तय तो पहले से ही था कि कौल मैम प्रोफ़ेसर साहब के साथ गोवा जाने वाली हैं। एक चीज़ और तय हो गयी थी कि अब वो साथ रुकने वाले थे। साथ रुकने में पैसे भी बच रहे थे और साथ ही कौल मैम अपनी बेटी को ज़्यादा डिस्टर्ब भी नहीं करना चाहती थीं। गोवा जाने वाला दिन आने से पहले प्रोफ़ेसर साहब मन-ही-मन सारे सवाल-जवाब दसियों बार रिपीट कर चुके थे।

आने वाली तारीख किसी के लिए ज़िन्दगी-भर की उम्मीद हो सकती है। ये लाइन प्रोफ़ेसर साहब ने कभी अपनी डायरी में लिखी थी। यही लाइन वो उस समय जी रहे थे।

रास्ते में प्रोफ़ेसर साहब और कौल मैम ने पहली बार फ़ुर्सत में एक-दूसरे के पास बैठकर एक-दूसरे को जाना। और हवा में पहुँचकर उनको ये अहसास हुआ कि बनारस में उनके जैसे लोगों के लिए कितनी घुटन है।

कौल मैम ने गोवा पहुँचकर जैसे ही अपनी बेटी को सरप्राइज़ दिया, वो किसी और आदमी को अपनी माँ के साथ बर्दाश्त नहीं कर पायी। उसने बहुत बखेड़ा खड़ा किया। ये सारा बवाल प्रोफ़ेसर साहब के सामने ही हुआ। उनकी लड़की ने तुरन्त ही अपनी टिकट बुक की और वापस चली गयी। कौल मैम का रोना रुक ही नहीं रहा था। वो उस कमरे में आयीं जहाँ वो प्रोफ़ेसर साहब के साथ रुकी हुई थीं।

प्रोफ़ेसर साहब ने कहा, “मैं वापस चला जाता हूँ।”

मिसेज कौल ने कहा, “अभी 6 दिन और 7 रातें बाक़ी हैं।”

कौल मैम और प्रोफ़ेसर साहब ने खुद को आज़ाद करके बनारस, बेटी, गोवा और इस दुनिया को अगले 7 दिनों के लिए माफ़ कर दिया।

उधर थोड़े दिन बाद मनोहर कहानियाँ के ऑफ़िस में चिट्ठी आयी। जिसका सवाल कुछ ऐसा था-

मैं 48 साल की महिला हूँ। मेरे पति को गुज़रे हुए दो साल हो गये हैं। मैं अकेले रहती हूँ अभी कुछ दिन पहले मेरी दोस्ती अपने ही शहर में रहने वाले एक प्रोफ़ेसर से हुई। वो बहुत खुले दिल के हैं। मुझे उनके साथ अच्छा लगता है लेकिन मेरी बेटी इस बात से मुझसे नाराज़ है। वो मुझसे बात नहीं कर रही।

मैं इस तरीके के रिश्ते को कोई नाम नहीं देना चाहती और न ही मैं कोई नाम दे पाऊँगी, क्योंकि जो ये है वो प्यार से बहुत अच्छा है। वो मेरा जितना खयाल रखते हैं उतना कोई नहीं रखता।

मेरी बेटी कहती है कि अब वो कभी मुझसे बात नहीं करेगी। मैंने उनसे कुछ दिनों से बात नहीं की है। मैं पिसी जा रही हूँ। मुझे लगता है कि मैं आत्महत्या कर लूँगी। मैं मरना नहीं चाहती, मैं क्या करूँ?

इसका जवाब क्या होगा या क्या होना चाहिए, ये लेखक पढ़ने वाले पर छोड़ता है।

सखी-सहेली

-कमल कुमार

सन्तोष के दरवाजे पर शीला ने घण्टी बजायी। एक बार, दो बार, रुककर फिर घण्टी बजायी। दरवाजा खुला-

“तुम इस वक़्त!” सन्तोष ने हैरानी से पूछा।

“हाँSS, आज ऑफ़िस से लंच के बाद निकली थी। ऑफ़िस के काम से कहीं गयी थी। काम तो हुआ नहीं। वापस क्या जाना, सोचकर घर आ गयी। ऊपर जाने लगी तो सोचा थोड़ी देर तेरे साथ बात कर लूँ।”

“आ-आ अन्दर आ।” कहकर वो बोली, “बैठ! मैं चाय बनाकर लाती हूँ।”

वह दीवान पर चौकड़ी मारकर बैठ गयी थी, “ऊपर कर लूँ पैरSS? तोषी, टाँगें दुख रही हैं।”

“हाँ-हाँ आराम से बैठ न। मैं चाय लेकर आती हूँ।”

“तू एक गिलास पानी पिला दे बस। पहले थोड़ी देर बातें करेंगे, फिर चाय पियेंगे।” उसने पानी पीकर गिलास नीचे रख दिया और कहा, “आ बैठ!” वह भी वहीं बैठ गयी।

“यह क्या हुआ तेरे माथे पर?” शीला ने उसके खुले बाल हाथ से पीछे हटाकर पूछा। वह चुप रही।

“तोषी, बोल न! फिर मारा तुझे इस कसाई ने?”

उसकी आँखें आँसुओं से भर आयी थीं।

“कैसा जालिम है यह आदमी! तू इसे रोकती क्यों नहीं ऐंSS।”

“तो क्या वह मुझसे पूछकर मारता है? तू भी बस!”

“क्यों, मारने से पहले कुछ तो होता होगा! मेरा मतलब लड़ाई-झगड़ा वगैरह...।”

“उसका हाथ खुला है। कब उठ जाता है, पता ही नहीं चलता।”

“तू कुछ कहती क्यों नहीं?”

“क्या कहूँ? तू बता! मुझे क्या मार खाने का शौक़ है? पर मैं तो मजबूर हूँ न! मैं कौन-सी इतनी पढ़ी-लिखी हूँ कि नौकरी कर लूँ और इज़्ज़त के साथ रहूँ”, वह गम्भीर हो गयी थी।

“तेरा मतलब है जो औरतें नौकरी करती हैं, वे घरों में इज़्ज़त से रहती हैं! उनके आदमी उन्हें मारते-पीटते नहीं!” शीला ने उसके हाथ पर अपना हाथ रखकर कहा था।

“क्यों? उन्हें क्यों मारेंगे वे? जब उनके बराबर पढ़ी-लिखी हैं, नौकरी करती हैं और कमाकर लाती हैं, ऊपर से घर-बाहर सँभालती हैं। फिर क्यों मारेंगे?”

“क्यों वे मर्द नहीं हैं? मर्द हैं इसलिए मारेंगे।”

“यह तो कोई बात नहीं हुई।”

“यही तो बात है, तोषी! औरतें तो हम भी हैं न! हमें भी सिर पर छत चाहिए होती है! तू पूरी बात नहीं समझती! अच्छा ला-तेरे दवाई लगा दूँ।”

“रहने दे शीला, मैं अपने आप लगा लूँगी। तू आयी है तो बैठ चैन से!” उसने बेपरवाही से कहा था।

“अब इसमें क्या है! बैठी ही तो हूँ। दवाई लगा देती हूँ।”

वह दवाई की ट्यूब उठाकर ले आयी थी।

“तोषी, कंघा भी उठा ला। बैठी-बैठी तेरे बाल बना दूँगी।”

तोषी कंघा उठा लायी थी। शीला धीरे-धीरे उसके बाल बनाती जा रही थी- “इतने अच्छे, काले, लम्बे बाल हैं तेरे! क्या हाल करके रखती है अपना! ज़रा भी खयाल नहीं रखती। तुझे पता है तेरे जैसे बालों वाली लड़कियाँ तो टीवी पर तेल और शैम्पू के विज्ञापनों में आती हैं।” शीला उसके बाल सहला रही थी।

“फुर्सत होती होगी उन्हें शीला! यहाँ तो सुबह से शाम तक अपनी हड्डियाँ तोड़ो। खाना पकाओ, कपड़े धोओ, घर की सफ़ाई-धुलाई करो। बच्चों की और आदमी की देखभाल करो। ऊपर से मार!” वह फिर उदास हो गयी थी।

“चल छोड़! तूने आज बाल धोये हैं?”

“हाँऽऽ बस अभी नहाकर और सिर धोकर आयी थी। सुबह पानी ही चला गया था।”

शीला ने हलके-से उसके बाल सूँघे थे- “तभी तेरे अधगीले बालों से सोंधी-सी महक आ रही है। ला, ट्यूब दे खोल के लगाऊँ तेरे।”

शीला ने उँगली के पोर पर दवाई लेकर उसके माथे की चोट पर लगायी थी। “तोषीऽऽ तेरी आँखें तो भूरी हैंऽऽ।”

“तोऽऽ तूने क्या आज देखीं मेरी आँखें?” वह खिद से हँसी थी।

“तू भी बस शीलूऽऽ।”

“तोषीऽऽ तेरे होंठ भी बड़े पतले और गुलाबी हैं। तू तो लिपस्टिक भी नहीं लगाती है न?” शीला ने उसके होंठों पर उँगली फिराई थी। “सच! तू इतनी सुन्दर है ए-ऽ। कोई कह सकता है, तू दो बच्चों की माँ है!”

तोषी मुस्करायी थी- “तू भी न शीलू बसऽऽ।”

“आये नहीं स्कूल से दोनों अभी?”

“आये थे। खाना खाकर फिर चले गये। ट्यूशन पढ़ने जाते हैं दोनों। शाम को ही आते हैं।”

“अच्छा, और भी लगी कहीं चोट?”

“हाँ, इधर बक्खी में लगी है। पेटि मारी थी उठा के। पास में ही पड़ी थी चमड़े की बेल्ट। तू रहने दे शीला। अब तू कहाँ लगायेगी? शाम को गीतू से लगवा लूँगी।”

“इसमें क्या है? मैं लगा दूँगी तो क्या हो जायेगा?” शीला ने उसका ब्लाउज़ ऊपर करना चाहा था।

“ब्लाउज़ के हुक खोल न! ऐसे कैसे लगेगी दवाई? हाथ ही नहीं जा रहा। लाऽऽ मैं ही खोल दूँ।” एक-एक करके वह उसके ब्लाउज़ के हुक फन्दों से निकालती गयी थी।

“लेऽऽ अब निकाल दे इसे। कैसे फँसा रखा है।”

तोषी सोचने लगी थी।

“यहाँ थोड़े ही है कोई, तेरे और मेरे सिवाय। आराम से निकाल दे इसे।” तोषी ने दोनों बाँहें क्रॉस करके दायें हाथ से बायाँ और बायें हाथ से दायें सिरा पकड़कर ब्लाउज़ निकाल दिया था।

“हाय तोषी! बड़ी चोट लगी है तेरे!”

“चमड़े की बेल्ट थी, दे के मारी।”

उसने उँगली के पोर पर दवाई लेकर लगायी।

“यह तेरी ब्रा का स्ट्रैप चोट पर आ रहा है। ला निकाल दूँ।” शीला ने पीछे से हुक खोलकर उसकी ब्रा कन्धों पर से आगे को सरका दी थी।

“तोषीऽऽ तेरी देह बड़ी कसी हुई है ऐंऽऽ ज़रा भी ढीली नहीं पड़ी।”

तोषी सकुचाई थी-“आज तुझे क्या हो गया है शीलू?” धोती का पल्ला खींचकर वह सामना ढकने लगी थी।

“अब रहने दे न। मैं कोई मर्द थोड़े ही हूँ। मेरे से क्या शरमाना?”

उसने उसकी देह पर हाथ फिराया था-“सच तोषी तेरी गेंद-सी गोलमटोल छतियाँ, कैसे तनी हुई हैं! तेरा आदमी कभी प्यार तो करता होगा न! जो भी कह लो तोषी! औरत की देह उसकी पूँजी होती है। उसी से वह आदमी को वश में रखती है।”

तोषी उदास हो गयी थी, उसका चेहरा बेरौनक हो गया था।

“क्या हुआ तोषी? तू फिर उदास हो गयी।”

“शीलू आदमी तो औरत को कुछ और समझता ही नहीं। दिन-भर वह बिना थके, बिना रुके, घर-गृहस्थी सँभाले और रात में आदमी के सामने अपनी देह पेश कर दे। पर शीला, औरत को तो कुछ और भी चाहिए न! उसके पास देह है तो मन भी है। मन है तो उसकी इच्छाएँ, उसकी उमंगें भी हैं। उसका दिमाग़ है, तो उसकी अपनी सोच भी होती है।”

“हाँSS”, शीला ने लम्बी साँस खींची थी-“पर तोषी, उसने तुझे ऐसी जगह मारा क्यों? ऐसी जगह पर ऐसा ज़ख्म।”

तोषी सुबक पड़ी थी-“शीला मेरी किस्मत ही खराब है। सुना है उसके दफ़्तर में कोई औरत है, उसी के साथ उसका सिलसिला चल रहा है। शाम को दफ़्तर से सीधे घर थोड़े ही आता है। जब मैं पूछती हूँ, कहाँ गया था? देर क्यों हो गयी? तो आगबबूला हो जाता है। कहता है, तू मेरी अफ़सर है। मेरे से समय का हिसाब पूछेगी! मेरा घर है जब चाहूँगा, आऊँगा और जब चाहूँगा, जाऊँगा।”

“क्यों मेरा पूछने का हक़ नहीं।” मैंने कहा था।

तू अपनी औकात में रह! ज़्यादा जुबान न चला मेरे सामने! चोटी पकड़कर घर से बाहर निकाल दूँगा। वह सुबकी थी-“तू बता शीला इस घर में मेरी क्या औकात है! मैं यहाँ किस हैसियत से रह रही हूँ! यह सवाल शीलू मैं अपने से भी पूछती हूँ कई बार! पर उसके सामने चुप ही लगा जाती हूँ। इसके सिवा मेरे पास चारा ही क्या है? छत तो सिर पर चाहिए न!” शीला ने उसके आँसू पोछे थे। उसके गाल थपथपाये थे।

“जब तू चुप ही कर जाती है, फिर क्यों मारता है?”

“शीलूSS सारा दिन तो मैं घर में मरूँ-खपूँ। मेरा जी कैसा है! मुझे कोई दुख है, कोई तकलीफ़ है, इससे तो उसका कोई वास्ता ही नहीं। रात में साँड़ की तरह ऊपर चढ़ जाता है। फिर कहता है, ‘हरामज़ादी कैसे अकड़ी पड़ी है।’ वो समझता है वह आये और मैं मोम की तरह पिघल जाऊँ। आदमी वेश्या के पास भी जाता है तो फूल-मिठाई का दोना लेकर जाता है। पहले उसका दिल जीतता है, फिर उसकी देह माँगता है। यह घर का आदमी है जो औरत को गाय-भैंस से ज़्यादा नहीं मानता। उस वक़्त मेरा दिल तो यह चाहता है कि उठाकर उसको पलंग से नीचे धकेल दूँ। उसका मुँह नोच लूँ। पर तब भी चुपचाप लेट जाती हूँ। मेरे शरीर में कोई बटन लगा है क्या कि जब चाहूँ ऑन-ऑफ़ कर लूँ। रात कहता है, ‘तू साली ठण्डी औरत! लकड़ी की तरह बेजान। जा मर यहाँ से।’ उसने मुझे पलंग से नीचे धकेल दिया था और पास पड़ी बेल्ट घुमाकर मारी थी। मत्था, बक्खी और टाँग छिल गयी। दर्द से मेरी जान निकल गयी। उसको इसकी कोई फ़िक्र नहीं। मैं भी वैसी-की-वैसी नीचे ही पड़ी रही। थोड़ी देर बाद खींचकर ऊपर लिटाया और बोला, ‘अब तेरी अक़ल ठिकाने आ गयी होगी। आ लेट यहाँ सीधी। खोल अब। ढीली हो! नहीं तो...।’ पता नहीं शीला, रात मेरे ऊपर ऐसा खून सवार हुआ था कि इसका सिर फोड़ दूँ। पता नहीं कैसे अपने को क़ाबू में रखा। झट उठकर बाहर आ गयी। बच्चों के कमरे में कुण्डा बन्द करके लेट गयी। तू बता शीला, उस वक़्त क्या यह किसी बलात्कारी से कम था? बलात्कार का तो कोई क़ानून, कोई कोर्ट-कचहरी होती होगी, पर हम घर की औरतें क्या करें? हमारे साथ तो यहाँ रोज़ ही बलात्कार होते हैं?” वह रोने लगी थी। शीला ने उसका सिर अपने कन्धे पर टिका लिया था। धीरे-धीरे उसके सिर पर हाथ फेरने लगी थी। उसकी पीठ पर हाथ फिराया था। अपने

दुपट्टे से उसके आँसू पोंछे थे-“चल बस कर अब। रोने से क्या होगा? ला दिखा। तेरी टाँग पर भी दवाई लगा दूँ।” उसने उसका पेटीकोट उठाया था। घुटने के ऊपर रान पर अन्दर की तरफ़ मांस छिल गया था। “तोषीऽऽ तेरी टाँगें कितनी साफ़-सुडौल हैं। एक भी बाल नहीं तेरी टाँगों पर। वैक्सिंग कराती है क्या?”

“वैक्सिंग?”

“हाँऽऽ आजकल लड़कियाँ अपनी टाँगों, बाँहों की वैक्सिंग करा के बाल साफ़ करा लेती हैं।”

“मुझे कहाँ फ़ुर्सत! नहाने का समय मिल जाता है, इतना क्या कम है?”

शीला ने उसकी टाँग खोलकर उँगली के पोर पर दवाई लेकर लगायी थी। चोट के आसपास भी गोल-गोल उँगली फिराई थी...।

“सीऽऽ” सिसकार के साथ तोषी ने उसका हाथ रोक दिया था।

“दर्द है यहाँ भी?”

“हाँऽऽ”

“चोट भी तो लगी है इतनी ज़्यादा तुझे!”

“शीलू, देह की चोट से ज़्यादा चोट मेरे अन्दर लगती है। मेरे दिल पर घाव होते हैं। जहाँ औरत का मान-सम्मान न हो, उसका कोई अधिकार न हो, सारी ज़िम्मेदारियाँ ही हों, उसका दुख-दर्द कोई न समझे, उसे कठपुतली की तरह आदमी अपनी उँगलियों पर नचाये, वहाँ मन तो दुखी रहता ही है न! पर क्या करूँ? मेरी जैसी औरतों की मजबूरी भी तो है। सिर पर छत और देह के लिए चारदीवारी के लिए हम सब सहती हैं।”

“हाँऽऽ अब तू यह सब सोच-सोचकर अपना दिल न दुखा।” उसने तोषी को अपनी बाँहों में भर लिया था। उसकी छातियों में अपना चेहरा डालकर उसे अपने से चिपका लिया था। अपने से अलग कर उसे गुदगुदाया था-“चल अब हँस...” दोनों हाथों के बीच उसकी छातियों को भर लिया था-“तोषी, तेरी छातियाँ ऐसी हैं, जैसी जच्चा की होती हैं। दूध से भरी गगरियाँ जैसी। लाऽऽ पीके देखूँ कहीं दूध तो नहीं है इनमें?”

“पागल कहीं कीऽऽ कहाँ होगा दूध? अब तो आठ साल का हो गया संजू। पर क्या बताऊँ पाँच साल तक दूध पिया उसने मेरा। ऊपर का दूध पीता था। रोटी-खिचड़ी सब खाता था। पर रात को आ चिपकता था। सोता ही नहीं था। बड़ी मुश्किल से छुड़ाया दूध उसका।”

“पर तेरी तो अभी भी दूध भरी गगरियाँ जैसी हैं।” उसने अपने होंठों से उसे गहरे से छुआ था।

“शीलू, तू तो मेरे से कहीं ज़्यादा स्मार्ट है। शुरू-शुरू में जब मैं तुझे जानती नहीं थी, तू ऑफ़िस के लिए तैयार होकर जाया करती थी। कलफ़ लगी साड़ी, पर्स लटकाकर, चश्मा

पहनकर और छोटे बालों में, तो तू मुझे बहुत अच्छी लगती थी। तेरी देह तो मेरे से भी ज़्यादा अच्छी लगती है। ला दिखा...।”

“इसमें क्या है, देख ले।” शीला ने दुपट्टा हटाकर कमीज़ निकालकर नीचे सरका दी थी। तोषी ने हाथ बढ़ाकर उसकी ब्रा के हुक खोल दिये थे और शीला ने ब्रा उतार दी थी। “शीला, तेरा साइज़ तो बड़ा अच्छा है।”

“हाँऽऽ पर मेरा बेटा हुआ था तो मैं उसे दूध नहीं पिला सकी थी तोषी। दूध मेरी छातियों में जम गया था। उससे मैं बीमार पड़ गयी। मशीन से दूध निकाला था डॉक्टर ने। बड़ी बीमारी झेली मैंने। बस उसके बाद मेरी देह ढीली हो गयी।”

“कहीं नहीं है ढीली।” तोषी ने उसकी देह अपनी हथेलियों में भरी और छोड़ दी थी।

“तेरी जैसी हवा भरी गेंद जैसी तो नहीं हैं न!” शीला ने एक हाथ से अपनी और दूसरे हाथ से तोषी की छातियों को उठाया था।

“तू भी पागल है शीला। यह भी कोई मिलाने की चीज़ है।”

“इसमें क्या है! तू मर्द थोड़े ही है। हम तो सखियाँ हैं। अच्छा तोषी, मैं ज़रा लेट लूँ। कब से ऐसे टेढ़ी बैठी हूँ। थक गयी हूँ बैठे-बैठे। आऽऽ तू भी लेट जा।” दोनों अगल-बगल लेट गयी थीं। शीला ने तोषी की देह पर हाथ फिराया था। उसके गालों पर, गर्दन पर, गर्दन के नीचे छातियों पर। वह गोल-गोल हथेलियाँ घुमाती रही। फिर पेट पर हाथ फिराया था-

“तेरा पेट भी कैसा चिपका पड़ा है पीठ के साथ। लगता ही नहीं कि तूने इसमें से दो बच्चे निकाले हैं।” फिर टाँगों पर फिसलता हाथ रोककर कहा था-“तोषी, तुझे अच्छा लग रहा है?”

“हाँऽऽ शीला बहुत अच्छा लग रहा है। इतना अच्छा मुझे कभी नहीं लगा। कभी भी नहीं सच!”

तोषी ने शीला का हाथ अपने हाथ में लेकर उसकी उँगलियाँ चूमी थीं-“तेरे हाथ कितने नर्म हैं। उँगलियाँ कितनी लम्बी और पतली हैं।”

शीला ने उसका हाथ अपने गालों पर फिराया था, “तेरे हाथ भी तो ख़ूब गुदगुदे हैं, छोटे-छोटे, प्यारे-प्यारे।”

“कहाँऽऽ घर का काम करते-करते खुरदुरे हो गये हैं। देखऽऽ” उसने अपना हाथ उसकी गर्दन पर छुआया था।

“नहीं तोऽऽ” शीला ने उसकी टाँगों के बीच अपने हाथ फँसा दिये थे-“दर्द वाली जगह तो नहीं छुआ न?”

“नहींऽऽ”

“तुझे अच्छा लग रहा है न? न लगे तो बता देना।”

“हाँऽऽ” तोषी की आँखें मुँद रही थीं। उसकी देह पिघल रही थी। उसने कसकर शीला को भींच लिया था।

“रुक, ज़रा मुझे ऊपर आने दे।” तोषी सीधी लेट गयी थी।

“तुझे सुख मिल रहा है तोषीSS।”

“हाँSS हाँSS”

थोड़ी देर बाद शीला सीधी लेट गयी थी। तोषी ऊपर आ गयी।

“करूँ अब?”

“हाँSS।”

“अच्छा लग रहा है?”

“हाँSS बहुत अच्छा लग रहा है।”

“ठीक कर रही हूँ?”

“हाँSS तू रोक मत! करती चल! बहुत अच्छा लग रहा है। सचSS बड़ा सुख मिल रहा है।”

तोषी शीला के साथ लेट गयी थी। शीला ने अपनी चुन्नी का कोना लेकर तोषी का पसीना पोंछा था। फिर दोनों अगल-बगल लेटी रहीं, सुख के अहसास में लिपटी।

तोषी उठी थी-“पता नहीं कितना समय हो गया।” फिर लेटी हुई शीला के गले में पड़ी चैन हाथ में उठाकर कहा था-“अच्छी है तेरी चैन! तेरे आदमी ने दी थी?”

“राख दी थी आदमी ने मुझे चूल्हे की।” दोनों हँस पड़ी थीं।

शीला उठी थी-“तोषीSS तेरे बाथरूम में जाकर एक शावर ले लूँ, चिपचिपा-सा लग रहा है।”

“हाँ आजा” तेरे कपड़े?”

“रहने दे अभी!”

दोनों वैसी की वैसी बाथरूम में गयी थीं।

“यह बाल्टी भरी रखी है। ले मग्गा ले ले।”

शीला चौकी पर बैठ गयी थी और मग भर-भरकर अपने ऊपर डालने लगी थी।

“रुक, तेरी पीठ पर थोड़ा साबुन लगा दूँ।” तोषी साबुन और ब्रश के साथ उसकी पीठ धोने लगी थी।

“बस अब रहने देSS इतना लाड़ न कर। आदत बिगड़ जायेगी।”

“लाड़ करने से आदत बिगड़ेगी तेरी?”

“तो और क्या? फिर मन चाहेगा कि बार-बार कोई लाड़-प्यार करे।”

“शीलाSS”

“हाँSS”

“एक बात सोच रही हूँ। तेरा आदमी तो तुझे बहुत चाहता होगा। तू इतनी पढ़ी-लिखी है, नौकरी करती है, देखने में इतनी स्मार्ट और चुस्त है। घर-बाहर के सारे काम जानती है।”

शीला बोली नहीं थी। फिर बुझे चेहरे पर हँसी लाकर कहा था- “तेरा शावर चलता है? खोल ज़रा टूटी....।”

पानी की फुहारों के नीचे शीला चौकी से उठकर खड़ी हो गयी थी।

“तू भी आज्ञा”, शीला ने तोषी को भी खींच लिया था। उसे अपने साथ चिपका लिया था। दोनों सखियाँ हँस रही थीं। पानी की फुहारों में खेल रही थीं। पक्षियों के पंखों की तरह उनकी देह हँसी-मज़ाक में फड़फड़ा रही थी।

“चल बस कर! अब बाहर आज्ञा शीला। मेरा तो हो गया।”

तोषी ने तौलिये से अपना बदन ढँककर, दूसरा तौलिया शीला को दिया था। फिर उसके हाथ से तौलिया लेकर उसका बदन पोंछने लगी थी। “इधर हो थोड़ा! लाऽऽ तेरी पीठ सुखा दूँ।” तौलिया लिए उसके हाथ रुके थे-“तूने बताया नहीं शीला? तेरा आदमी तो तुझे बहुत मानता होगा न?”

“तोषीऽऽ मेरा आदमी क्या आदमी नहीं है? मेरा आदमी, तेरा आदमी कुछ नहीं होता। सब आदमी एक जैसे होते हैं। मर्द, आदमी और खूँखार जानवर।” वह गम्भीर थी।

“फिर भी शीलाऽऽ देख तेरा और मेरा तो कोई मुकाबला नहीं है। मेरा तो बी.ए. भी पूरा नहीं हुआ था। घर में रुपये-पैसे की कमी थोड़े ही थी। बहुत ज़मीन-जायदाद है हमारी। मेरे भाई ने डॉक्टरी की पढ़ाई की। पर लड़कियों की तो शादी हो जाये बस! धकेल दिया मुझे इस नर्क में! लेकिन तू इतनी पढ़ी-लिखी है, कम्प्यूटर की ट्रेनिंग ले रखी है, प्राइवेट कम्पनी में काम करती है।”

“तुझे कहा था न मैंने अभी-अभी...” तोषी अभी भी वैसी ही गम्भीर बनी थी।

“जिसको तेरे जैसी औरत मिल जाये उसे और क्या चाहिए?”

“घर की मुर्गी दाल बराबर! कहते हैं न ऐसा। बस!” न चाहते हुए भी शीला की आँखें गीली हो गयी थीं।

“सच बता शीला-ऽ तू खुश है न! तेरा आदमी तुझे प्यार करता है न?”

शीला ने तोषी की तरफ़ देखा था। उसकी आँखों में एक बेचैनी थी।

“तोषी चार साल से हमारे बीच में ‘वह रिश्ता’ नहीं रहा। यह उससे पहले की बात है। उस दिन हमारी शादी की सालगिरह थी। मैं सारा दिन इन्तज़ार करती रही कि हम कहीं बाहर जायेंगे। वो रात को देर से आया था। मैं उसके लिए कुर्ते के चाँदी के बटन लेकर आयी थी। मैंने उसे बड़े प्यार से दिये। उसने कुछ नहीं कहा। रात को सोते हुए मैंने डरते-डरते उसकी कमर में हाथ डाला, उसके गाल चूमे और उसके कान में धीरे से फुसफुसाई थी-‘तुम्हें याद है, आज हमारी शादी की सालगिरह है’।”

वह पलटा था और झटक दिया था मुझे-‘फिर क्या करूँ?’ शादी की सालगिरह है तो, क्या करूँ? क्या करूँ तेरे साथ? बासी रोटी। अरे, दस दिन आदमी छप्पन भोग भी खा ले,

तो ग्यारहवें दिन उसको देखकर उबकाई आने लगती है। ग्यारह साल हो गये हमारी शादी को। दस साल का लड़का है। तेरे साथ नहीं सो सकता मैं! समझी तू!

'हाँऽऽ तुम रोज़ दूसरी औरतों के पास जाओगे तो मैं तो बासी रोटी लगूंगी न। सब जानती हूँ मैं! यह न समझना, कुछ समझती नहीं। छिपा नहीं है मुझसे। लेकिन यह बता दो, मैं क्या करूँ? मैं कहाँ जाऊँ?'

तो तू अब मर्द बनेगी? मेरा मुक़ाबला करेगी? हैंऽऽ! औरत के सब्र के साथ रह, समझी? एक झनझनाता हुआ भारी सख्त हाथ मेरे गाल पर पड़ा था। मैं गिरते-गिरते बची थी। सारा शरीर झन्ना गया था। चेहरे पर पाँचों उँगलियाँ छप गयी थीं। उस वक़्त अन्दर से मैं नागिन की तरह हो गयी थी। फिर अपने को संयत किया। उठकर उसके सामने सीधी खड़ी हो गयी थी-'आज तो तुमने मेरे ऊपर हाथ उठाया। दोबारा ऐसी ग़लती न करना। समझे तुम? इस देश में क़ानून, कोर्ट-कचहरी, पुलिस सब है।"

'अच्छाऽऽ मेरे ऊपर रौब जमाती है। मुझे क़ानून का डर दिखाती है? तुझे ठण्डा ही करना है न? आ-ऽ लेट यहाँ, खोल-ऽ अभी ठण्डा कर देता हूँ तुझे।'

"तोषी उसकी यह बात मुझे ऐसी लगी थी जैसे सौ बिच्छुओं ने एक साथ काटा हो। मैंने उसे धक्का दिया और दूसरे कमरे में चली गयी। रात-भर रोती रही। सोचती रही तोषी, कि हम औरतें क्या सिर्फ़ देह हैं? हमारा मन, हमारी खुशी, हमारी अपनी इच्छा और कामना क्या कुछ नहीं होती?" तोषी ने आगे आकर उसके गाल पर आये आँसू पोंछ दिये थे।

"वह दिन और आज का दिन, चार साल हो गये। हम दोनों के बीच वह रिश्ता कभी नहीं बना। एक साल तक मैं गुड्डू के कमरे में ही सोती रही। फिर बात न बढ़े इसलिए उसके कमरे में सो तो जाती हूँ, पर अलग-अलग पड़े रहते हैं हम दोनों। एक-दो बार उसने कोशिश की मुझे मनाने की, पर मेरा तो उसको लेकर मन ही मर गया है। जो आदमी रोज़ दूसरी औरतों के पास जाये, अपनी पत्नी को बासी रोटी कहे और कूड़ा-करकट समझे, उसके साथ क्या रिश्ता हो सकता है?"

"ज़रा रुक तेरे कपड़े लाती हूँ।" तोषी ने उसकी बात सुनते-सुनते ब्लाउज़-पेटीकोट पहन लिया था। साड़ी की चुन्नटें हाथ में पकड़े वह शीला के कपड़े उठा लायी थी।

"तू कपड़े पहन ले। मैं तेरे लिए एक प्याली चाय बना लाऊँ तब तक।" शीला ने कपड़े पहनकर गीले बाल तौलिये से सुखाये थे। तोषी चाय बना लायी थी।

"आजा-ऽ यहीं बैठते हैं।" तोषी ने दो कुर्सियाँ आमने-सामने खींच ली थीं। छोटी तिपाई बीच में रखकर चाय की प्यालियाँ रख दी थीं।

"कुछ खाने को लाती हूँ, नमकीन।"

शीला ने रोका था-"रहने दे तोषी। मैं तो लंच ऑफ़िस से लेकर चली थी। तूने खा लिया था खाना?"

“हाँ”, तोषी ने बढ़कर उसके बाल छुये थे-“तेरे बाल तो सूख गये। मेरे बाल तो घण्टों नहीं सूखते।”

शीला हँसी थी, “हम कामकाजी औरतें हैं। सुबह जल्दी भागना पड़ता है ऑफिस के लिए। गुड्डू का लंच बनाकर पैक करके देती हूँ। इनके लिए भी दूध-नाश्ता करके ही जाती हूँ। मेरी चार्टर्ड बस नौ बजे आती है, इसलिए नौ बजने से पहले ही पहुँचना पड़ता है। ये देर से जाते हैं।”

“तेरे पास तो कार है न?”

“कार तो तोषी यही ले जायेंगे न! मुझे थोड़े ही देंगे। चार्टर्ड बस निकल जाती है तो ऑटो करके ही जाती हूँ।”

“हाँ शीला, सब अच्छा, आदमी को ही चाहिए। अच्छा खाना, अच्छा कपड़ा, अच्छा घर और अच्छी औरत। हम तो इनकी ज़रूरतें पूरी करने के वास्ते होती हैं। पर शीला, मैंने सोचा था तू पढ़ी-लिखी है, नौकरी करती है, तू खूब अच्छी तरह मान-सम्मान से रहती होगी।”

“देख तोषी, मान-सम्मान से तो मैं अब भी रहती हूँ। अपना सम्मान तो हमें करना ही चाहिए। जहाँ तक मेरे आदमी की बात है, तू क्या सोचती है मैं इसकी इज़्जत करती हूँ? मैं तो कहती हूँ एड्स से मरे यह! मेरा कहना सच ही होगा। रोज़ नयी औरत चाहिए इसे!”

“ऐसा क्यों कहती है शीला?”

“सच कहती हूँ तोषी। मैं तो भगवान से यही कहती हूँ, विधवा हो जाऊँ। अच्छा है विधवा होना। कोई यह तो नहीं कहेगा कि घर से निकाली हुई है, छोड़ी हुई है। फिर विधवा होने का तो मुझे फ़ायदा ही होगा। फ़ैमिली पेंशन मिलेगी। हो सकता है कम्पैशनेट ग्राउंड पर इनके दफ़्तर में सरकारी नौकरी मिल जाये। घर तो सरकारी है ही। मेडिकल भी मिलता है। सरकारी में सिक्योरिटी भी ज़्यादा होती है। जितनी जल्दी मरे यह, उतनी जल्दी मेरा पीछा छूटेगा।” तोषी गम्भीर हो गयी थी।

“अपनी बात कर रही हूँ तोषी! तू बता इसके जीते रहने का क्या सुख है मुझे? कमाकर लाती हूँ, घर पर खर्च करती हूँ, बच्चे की फ़ीस देती हूँ, अपना खर्च चलाती हूँ। यह अपनी कमाई दूसरी औरतों पर, क्लब में शराब पर और कार के पेट्रोल पर खर्च करता है। फिर भी छोड़कर नहीं जाती इसे। छत हमें भी चाहिए। मेरी तनख़्वाह इतनी नहीं कि अकेले सब कर सकूँ। मेरा बेटा है। उसकी ज़िन्दगी का सवाल है। हमारे पास सरकारी घर है। थोड़ा-बहुत घर में भी देता है। झूठ क्यों बोलूँ? अपने बेटे को तो प्यार करता ही है। पर यह सच है तोषी, रोज़ इसके मरने की मनौती माँगती हूँ मैं।”

“तू भी न बस शीला क्या कहूँ? कमाल है तू!”

“तोषी, तू भी इसकी परवाह न करा कर। कुत्ता समझ इसको। घर में रखवाली के लिए कुत्ता पालते हैं कि नहीं? टुकड़ा डाल दिया कर। भौंकता है, भौंकने दे।”

“पर यह तो काटता भी है शीला!”

“अरे घर का कुत्ता है। इसके काटने से कुछ नहीं होता।” दोनों सखियाँ खूब हँसी थीं। हा-ऽ हा-ऽ, हो-ऽ हो-ऽ करके, एक-दूसरे से लिपटकर हँसते-हँसते लोटपोट हो गयी थीं।

“अच्छा तो चलूँ तोषी-ऽ।”

“हाय री शीला, इतनी देर हो गयी। मेरे गीतू और संजू भी आते ही होंगे। घड़ी में पाँच बज गये। समय का तो पता ही नहीं चला। घर का सारा काम पड़ा है। कपड़ों पर इस्त्री करनी थी, इनके कुर्ते में बटन लगाने थे। दोपहर का ही तो समय मिलता है इन कामों के वास्ते।”

“अब तू सारा समय घर-घर और काम-काम न करा कर। मकड़ी का जाला होता है घर। उलटी लटकी रहती है मकड़ी उसमें। बुनती भी वही है और फँसकर मरती भी वही है, समझी-ऽ”, उसने उसके गाल पर चूमा था।

“अपना सुख भी तो कुछ होता है कि नहीं? सच बता, आज अच्छा लगा-ऽ सुख मिला कि नहीं?”

तोषी फिर उससे चिपट गयी थी, “बहुत सुख मिला, शीला। बारिश जैसे सूखी धरती को हरिया जाती है, वैसे ही मेरी आत्मा हर्षा गयी। मेरा मन तृप्त हो गया।”

“अच्छा तो चलूँ-ऽ”, शीला फिर मुड़ी थी-“यह तू रख, तुझे अच्छी लगी थी।” उसने अपने गले से चेन निकालकर तोषी के गले में डाल दी थी।

“पागल है तू-ऽ!” तोषी ने घबराकर चेन निकालनी चाही थी।

“क्योंऽऽ पागल की क्या बात है? मैं तुझे इतनी-सी चेन नहीं दे सकती क्या?”

“इतनी-सी चेन? सोने की चेन इतनी-सी होती है क्या-ऽ?”

“पागल यह सोने की नहीं है, कॉस्ट्यूम ज्वैलरी में आती है। ज़्यादा महँगी नहीं होती। हम बाहर जाने वाली औरतें गहना-कपड़ा अच्छा लगने के लिए पहनती हैं। अच्छा लगने के लिए खरा सोना पहनने की ज़रूरत नहीं होती। यूँ भी आजकल गले से चेन खींचकर ले जाते हैं चोर।”

शीला ने चेन फिर से तोषी के गले में डाल दी थी।

“अगर उसने पूछा तो क्या कहूँगी?”

“कहना तेरे यार ने दी है,” वे दोनों बुक्का फाड़कर हँसी थीं।

“हाय रेऽऽ, तू तो मुझे जान से मरवायेगी।”

“कुछ भी बोल देना जो तेरे मन में आये। कह देना नक़ली है। नक़ली तो यह है ही। असली सोना थोड़े ही है। अच्छा मैं चलूँ-ऽ।” शीला फिर रुकी थी।

“तोषी, तुझे इडली-डोसा पसन्द है न! मेरे ऑफ़िस की कैटीन में बहुत अच्छा बनता है। तेरे लिए पैक करवाकर लाऊँगी किसी दिन। लेकिन डोसा तो गिच-पिच हो जाता है,

इडली ही लाऊंगी। डोसा किसी दिन वहीं जाकर खायेंगे। किसी अच्छे साउथ इंडियन रेस्तराँ में चलेंगे।”

“ठीक है।” तोषी की आँखें तारों की तरह चमक रही थीं।

“लेकिन तू तो शीला, शाम को घर आती है। शाम को तो-” तोषी ने सोचकर कहा था।

“जिस दिन तू कहेगी कैजुअल ले लूंगी। बड़ी छुट्टियाँ पड़ी हैं मेरी। ठीक है-ऽ और सुन, उस दिन कोई अच्छी-सी पिक्चर भी देखेंगे। पहले बारह बजे का शो देखेंगे, फिर किसी रेस्तराँ में बैठकर लंच करेंगे। तू ऐसा करना, जिस दिन जाना हो घर का काम जल्दी निपटा लेना।”

“ठीक है, शीला, जाते-जाते तुझसे एक बात पूछ लूँ, बड़ी देर से मन में आ रही है।”

“हाँ, पूछ न! मुझे जल्दी नहीं है। गुड्डू तो छह बजे से पहले नहीं आता। चार बजे तो उसका स्कूल ही खत्म होता है। मैं छह-सात बजे तक ही आती हूँ इसलिए उसे डे-स्कूल में डाला है, ताकि ज़्यादा देर तक बच्चा घर में अकेला न रहे। स्कूल के बाद वह म्यूज़िक क्लास में जाता है। ये तो आते हैं रात को देर से अपनी रातें रंगीन करने के बाद। हाँ-ऽ पूछ, क्या पूछ रही थी?”

“मैं सोच रही थी शीला, तू इतनी स्मार्ट है, ऑफिस में दस लोगों से मिलती है। इतनी अच्छी है तू-वह रुकी थी, “तू मेरी बात का बुरा तो नहीं मानेगी? शक नहीं कर रही। पहले बता दूँ। बस मेरे मन में बात आयी है इसलिए पूछ रही हूँ।”

“कह न, इतनी भूमिका क्यों बाँध रही है?”

“शीला, आदमी भी तो औरतों के पीछे लग जाते हैं। जब तेरा आदमी ऐसा है तो कभी कोई आदमी तुझे अच्छा नहीं लगा?”

“तोषी, आदमी की तो ज़ात से ही मुझे चिढ़ हो गयी है। सब एक जैसे कुत्ते हैं। जब अपना आदमी जिसने मेरे साथ सात फेरे लिए, साथ रहने, दुख में साथ रहने की क़सम खायी, वह मेरा नहीं हुआ तो दूसरा कोई कैसे होगा? औरतों का सभी फ़ायदा उठाना चाहते हैं।” वह रुकी थी-“तोषी, आदमी के साथ सम्बन्ध बनाने के सौ इंज़ट! बीस तरह की मुसीबतें! देख न-ऽ तू दुर्गा के मन्दिर जाती है न?”

“हाँ-ऽ जाती हूँ।” तोषी हैरान थी।

“तू जिस रास्ते से वहाँ जाती है, उस रास्ते से मैं वहाँ नहीं जाती। मैं झीलवाले रास्ते से जाती हूँ। वहाँ जाने का कोई तीसरा रास्ता भी होगा। लोग उस रास्ते से भी जाते होंगे। पहुँचते तो सारे दुर्गा के मन्दिर में ही हैं। है न-ऽ! फिर क्या है! कोई किसी भी रास्ते से जाये! हमें जीवन में अपनापन चाहिए, प्यार-दुलार चाहिए, मन की खुशी चाहिए।

थोड़ी-सी खुशी, थोड़ा-सा सुख मिले और हमारी इच्छा पूरी हो। यही चाहती हैं हम। कहीं से भी मिले, इससे क्या फ़र्क पड़ता है?”

“हाँ-ऽऽ।”

“और सुन तोषी, बाज़ार से तुझे कोई अपनी चीज़ चाहिए हो तो बता दिया कर। रोज़ ही तो दफ़्तर जाती हूँ। रास्ते में उतरकर ला दिया करूँगी।”

“तू भी शीला, गुड्डू की चिन्ता न किया कर। तेरे आने तक मेरे घर आ जाया करेगा। जो चाहे खाये, जो चाहे खेले-कह देना उसे। मैं तो घर पर ही होती हूँ।”

“कह दूँगी! अच्छा तो अब चलूँ। छह बजने वाले हैं।” वह रुकी थी, उसके कान के पास मुँह ले जाकर फुसफुसाई थी, “तोषी, जब भी तेरा मन होगा, सुबह ही बता देना। दोपहर में बच्चे घर पर नहीं होते। मैं हाफ-डे लेकर आ जाया करूँगी। और सुन, अगली बार तू ऊपर आ जाना मेरे घर।”

तोषी मुस्करायी थी-“ठीक है।” दो सखियाँ एक-दूसरे के गले मिली थीं।

“अच्छा तो जाऊँ अब।” शीला दरवाज़ा खोलकर बाहर आ गयी थी। तोषी उसे सीढ़ियाँ चढ़ते देखती रही। फिर दरवाज़ा बन्द करके अन्दर आ गयी। उसका मन उमड़ रहा था। उसका चेहरा खिला था। वह जल्दी-जल्दी घर समेटने में लग गयी थी।

माया

-अंकिता जैन

“हैल्लो माया, मैं महु बस स्टैंड के मोहन पीसीओ पर बैठी हूँ...प्लीज़ मुझे यहाँ से आकर ले जा।”

“झल्ली सब ठीक तो...” माया कुछ पूछ पाती इससे पहले फ़ोन कट गया।

रात आधी बीतने को थी। माया किताबों में सर खपाते हुए ऊँघ रही थी। झल्ली के फ़ोन से थोड़ा सकपकायी-सी इन्दुमती के कमरे की तरफ़ भागी। अगले कुछ मिनटों में दोनों महु की ओर रवाना हो चुकी थीं। इन्दौर से महु ज़्यादा दूर नहीं है। किन्तु माया का मन बेचैन हो उठा है इसलिए ज़रा-सी दूरी भी बहुत लग रही है। ऐसी क्या वजह रही होगी कि झल्ली बस स्टैंड आकर रात ग्यारह बजे उसे फ़ोन करे और साथ ले जाने के लिए कहे?

“मैं जीजाजी और मौसाजी को फ़ोन लगाती हूँ”, माया ने मोबाइल स्क्रीन पर उँगलियाँ घुमाते हुए कहा।

“अभी नहीं...एक बार हम वहाँ पहुँचकर देखें क्या मामला है”, इन्दुमती ने सख्त हिदायत देते हुए फ़ोन करने से मना कर दिया।

“माँ, वो इतनी रात को वहाँ अकेले...” माया बेचैन थी। उसकी कल्पनाएँ उस हद तक नहीं पहुँच पा रही थीं जहाँ से वह झल्ली कि हालिया सूरत का कोई अनुमान लगा पाती। महु तक की मात्र पच्चीस किलोमीटर की दूरी उसके लिए सन्त्रास का पर्याय बन गयी थी।

कार की लाइट पड़ने से जब सामने लगे बोर्ड पर महु-25 किलोमीटर चमका तो माया को बहुत कुछ याद आने लगा। ये नाम कुछ ही महीने पहले तो एक अनजान शहर से पहचान में बदला था। कोई करीबी रिश्तेदार किसी शहर में बस जाये तो यदा-कदा उस शहर का नाम भी हम यूँ लेने लगते हैं मानो रिश्तेदारी इन्सान से न होकर शहर से ही हो। माया के लिए भी महु पहले मात्र एक शहर था, अब उसकी चहेती बहन का सासरा।

उस दिन दो-तीन बार दरवाज़ा खटखटाने पर जब माया ने दरवाज़ा खोला तो रमेश मौसाजी हड़बड़ाहट में अन्दर आये, “अरे माया बेटा, जा अपनी मौसी से कह दे, झल्ली को तैयार कर दें, मेहमान आ रहे हैं...” फिर अन्दर जाने को कुछ आगे बढ़े और रुक गये, “अरे सुन माया...जब मेहमान आयें तो तू उनके सामने मत आना।”

“जी”, कहते हुए माया भीतर मौसी को इत्तिला देने पहुँची तो वे पहले से ही उम्मीद की पोटलियाँ बाँध रही थीं। मौसाजी न भी आते तो वे झल्ली को सजाने का पूरा सामान पसारे बैठी थीं।

तीन सालों से ये ‘बाहर न आने वाली बात’ माया हर साल तब सुनती थी जब भी उसके शहर में शादी-सम्मेलन होता। मौसाजी, मौसी उसके घर अपनी तशरीफ़ जमा लेते। इस उम्मीद में कि शायद इस साल झल्ली को कोई लड़का पसन्द कर ले।

माया यूँ तो झल्ली से छह साल छोटी थी मतलब उस वक़्त महज़ 12 बरस की। शादी के लायक भी नहीं थी। फिर भी मौसाजी को उसमें खिलती नहीं वरन् पकी काया वाली खिल चुकी कली ही नज़र आती। गठीला डील-डौल देखकर शंका रहती कि कहीं उसके आगे कोई लड़का झल्ली को नापसन्द न कर दे।

झल्ली को लड़के वालों के आगे परोसने के लिए सजाना-सँवारना थोड़ी टेढ़ी खीर थी। परोसना इसलिए क्योंकि घर-भर के लिए झल्ली सामान ही थी। हर कोई उसे अपने मुताबिक़ इस्तेमाल करता। जब ज़रूरत ख़त्म हो जाती तो झल्ली कहकर परे हो लेता। झल्ली सबके बस में नहीं आती थी इसलिए उसे सजाने की ज़िम्मेदारी माया की माँ इन्दुमती को सौंपी जाती। इन्दुमती थोड़ी कड़क मिज़ाज थीं किन्तु स्नेहिल भी। एक वही थीं जो झल्ली को क़ाबू कर लेतीं। उनका नाम सुनते ही झल्ली विस्मयकारी ख़ौफ़ से भर जाती। वह ख़ुश होती है या दुखी, ऐसे भाव प्रकट करने की या तो उसमें बुद्धि नहीं थी या लोगों में उसके भाव समझने की लगन नहीं थी। ‘इन्दुमती’ नाम सुनते ही झल्ली कुछ यूँ बर्ताव करने लगती मानो इन्दुमती उसकी मौसी न होकर आमुर्ज़गार हो, जिसके इशारों पर नाचना झल्ली नाम की एक कठपुतली का काम। इन्दुमती को अपने इस हुनर पर ख़ूब वाहवाही मिलती। झल्ली के माँ-बाप का मन करता कि इन्दुमती के पाँव धो-धो पियें। उन्हें तो लगता झल्ली इन्दुमती की नाक का बाल है जिस पर वो वारी-वारी जाती है। वरना और किसमें इतनी कुव्वत थी कि यूँ एक आवाज़ में झल्ली को टीक की गुड़िया बना सके? दूसरों को तो वो ऐसा नाच नचाती जैसा पागलखाने से फ़ुर्र हुआ कोई पागल उसे फिर से जकड़ने की कोशिश करने वाले डॉक्टरों को नचाता है।

“एक जगह ठीक से बैठ, कितनी बार समझाया है। बार-बार बाल मत ख़राब कर, और इसे आम किसने पकड़ा दिया? अभी पूरे कपड़े, मुँह सब ख़राब कर लेगी”, अपनी झुँझलाहट झल्ली की चोटी पर उतारते हुए इन्दुमती ने कहा।

इन्दुमती कभी-भी झल्ली की शादी के पक्ष में नहीं थीं-“अरे पढ़ा-लिखाकर किसी लायक बनाने की जगह बाँध दो गैय्या के जैसे दूसरे खूँटे से”, इन्दुमती बड़बड़ाना शुरू करती तो सब इधर-उधर हो जाते, “अरे मर्द को क्या चाहिए जो इसमें है...सिवाय हाड़-मांस के? अरे गृहस्थी चलाने लायक अक़ल होती इसमें तो मैं क्या रोकती? अभी लिख के ले लो, ब्याह के बाद चार दिन में आदमी तुम्हारा पैसा और इसकी देह चूस के न फेंक जाये

तो।” इन्दुमती बड़बड़ाती रहती लेकिन किसी के कान पर जूँ न रेंगती। सब जानते थे कि इन्दुमती कटु-सत्य कटुता के भाले फेंक-फेंककर मारती है जो चुभते हैं लेकिन कोई उनकी चुभन से सबक नहीं लेना चाहता। ग्यारह बरस की थी झल्ली जब इन्दुमती के पास रहने आयी। यह भी एक कारण था कि इन्दुमती के कड़वे बोल सबको झल्ली के लिए मोह और बिछोह की आह लगते जिन पर सब कभी मुँह बनाते तो कभी धीमी मुस्कान छोड़ देते।

झल्ली के पिता ने कभी झल्ली को पागल नहीं माना। वे मानते थे कि झल्ली मन्दबुद्धि है लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं कि उसे दुनिया की दूसरी लड़कियों-सा जीवन जीने का हक़ नहीं। वे उसके कन्यादान के सपनों को क्राफ़ूर नहीं होने देते, कस के जकड़े रहते। जिसका नतीजा था ये सब शादी-सम्मेलन। इन्दुमती ने बहुत कोशिश की कि यह शादी टल जाये, लेकिन अड़ियल जीजा के सामने यह सम्भव न हो सका। मन मसोसकर रस्मो-रिवाज का हिस्सा बनने का दिखावा करने लगी।

“जीजाजी आपने लड़के के बारे में सब पता तो कर लिया न?” झल्ली की चोटी में खड़ से एक और गाँठ लगाते हुए इन्दुमती ने पूछा।

“हाँ सब पता कर लिया है, महु के रहने वाले हैं, लड़का मोज़े बनाने की फैक्टरी में काम करता है। सात-आठ हज़ार कमा लेता है महीने के। महु में अपना छोटा-सा दो कमरों का घर है। आधा-कच्चा है अभी। पिताजी घर के आगे वाले कमरे में ही गोली बिस्कुट की दुकान करते हैं।” कहते हुए लड़के का पूरा ब्योरा दे दिया था मौसाजी ने।

“अरे, इसे भी कोई पड़ताल कहते हैं? न घर-द्वार देखा न नौकरी का अड्डा,” इन्दुमती ने ब्योरा सुनते ही सेंध लगायी, “अरे इतनी ही भारी लग रही है लड़की तो मैं रख लूँगी! तुम्हें इतनी जल्दी क्या पड़ी है इसे नरक में धकेलने की? मैंने लाड़-दुलार में कोई कमी रखी हो तो बताओ,” कहते हुए इन्दुमती सुबकने लगी। माया ने देखा तो माँ को समझाने आ गयी-

“अब बस भी करो माँ। तुम जितना कर सकती थीं किया। मौसाजी नहीं मान रहे तो क्या कर सकती हो?” माया की आवाज़ में झल्लाहट थी। चाहती वह भी थी कि झल्ली का ब्याह न हो। वह और पढ़े, कोई नौकरी कर ले। मन्दबुद्धि लोग भी तो जीवन में कुछ कर सकते हैं। कुछ बन सकते हैं। कितनी बार मौसाजी को समझा चुकी थी। लेकिन जब उसने देख लिया कि उसकी आवाज़ सुनने वाला कोई नहीं, उसने सब ऊपरवाले पर छोड़ दिया।

उसे इन्दुमती में भी विचित्र बदलाव दिख रहा था। उन्हें दुख है यह वह जानती थी किन्तु झल्ली के ब्याह से एक अलग क्रिस्म की बेचैनी वह अपनी माँ में महसूस कर रही थी। रह-रहकर इन्दुमती का झल्ली को फुसलाना। उसे कोने में ले जाकर समझाना। यह सब माया को किसी गुत्थी-सा लगता लेकिन वह समझ नहीं पाती। वह देख रही थी कि इन्दुमती की इतनी कोशिशों के बाद भी झल्ली कैसे कुर्सी पर सर झुकाये, चुपके-चुपके आम की गुठली चूसते हुए बाहर के कमरे से अपने बुलावे का इन्तज़ार कर रही है।

थोड़ी देर बाद झल्ली बाहर गयी तो मौसी ने उसे आगे करते हुए बोला था, “ये है हमारी बिटिया लता।” झल्ली का यह नाम उस मेज़पोश के जैसा था जिसे मेहमान आने की भनक लगते ही जर्जर टेबल पर बिछा दिया जाता है ताकि घर के माली हालत कूक न दें।

लड़के ने एक नज़र नीचे से ऊपर तक झल्ली को देखा। गुलाबी रंग की साड़ी में, चार फिट की झल्ली, दो घण्टे पहले सम्मेलन वेन्यू पर दिखायी गयी तस्वीर से अलग तो लगी थी उसे। थोड़ी देर बाद ड्राई फ्रूट्स की प्लेट से बिना किसी के कहे मुट्ठी-भर काजू उठा लेना, फिर लड़के को देखकर बार-बार मुस्कराने से उसके असामान्य होने की झलक भी शायद लड़के को दिख गयी थी। माया मन-ही-मन मुस्कायी थी कि इन हरकतों के बाद यह लड़का भी रिजेक्ट कर देगा। उसने सोच लिया कि इस बार रिजेक्शन हुआ नहीं कि वह ज़िद करके, लड़कर कैसे भी मौसाजी को मना लेगी कि झल्ली की शादी न करें। उसे पढ़ने दें और किसी क़ाबिल बनने दें।

मौसी ने झल्ली के हाथ में धीरे से चिमटी काटी तो उसने झट से सारे काजू वापस प्लेट में डाल दिये और फिर-‘खाना बनाना आता है’ से शुरू हुए कई सारे सवालों के जवाब झल्ली ने सिर्फ़ ‘जी’ में ही दिये थे। पन्द्रह मिनट बाद झल्ली अन्दर चली गयी, और आधा घण्टे बाद रिश्ता पक्का हो गया। माया हैरान थी। वह लड़के के चेहरे से ब्याह की उत्सुकता और कोई लड़की मिल जाने की ख़ुशी भाँप सकती थी। उसे यक़ीन होने लगा था कि हो न हो लड़के में कोई खोट तो अवश्य है। वरना एक ठीक-ठाक सा लड़का झल्ली को जीवनसाथी के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता।

“तो फिर कल से शादी की तैयारियाँ शुरू कर लें”, लड़के के पिता ने कहा तो मौसाजी ख़ुशी से फूलें नहीं समा रहे थे। लेकिन माया हताश थी और इन्दुमती के मन में जैसे भूचाल आ गया था। देखते हुए भी मक्खी निगलने की मजबूरी उन्हें अन्दर तक कचोट रही थी।

उसने झल्ली को भीतर ले जाकर कुण्डी अटकायी और गुस्से से उसका हाथ पकड़कर बोली, “तू मेरी बात मान ले...वो आदमी रात होते ही तुझे नंगा करके नाच नचाया करेगा... कह दे अपने पापा से नहीं करनी तुझे शादी।” झल्ली ने खौफ़ज़दा आँखों से इन्दुमती को देखा। वह कसमसा रही थी। दूसरे हाथ से इन्दुमती से हाथ छुड़ाने की कोशिश कर रही थी। जब जकड़न मज़बूत लगी तो उसने इन्दुमती के हाथ पर काटा और छूटते ही फुर्र से कमरे के बाहर भाग गयी।

इन्दुमती ने माहौल की नज़ाकत और गुस्सैल जीजा के डर से झल्ली को दोबारा शादी से इनकार करने के लिए नहीं कहा। वह समझ गयी थी कि झल्ली अब शादी करके ही मानेगी। जब से शादी की बात पक्की हुई थी झल्ली के हाथ में गुड़िया थी। आज कोई उसे

गुड़िया पकड़ने पर डाँट नहीं रहा था। सब यही चाहते थे कि झल्ली के मन में यह भरम बना रहे कि शादी गुड्डे-गुड़िया का खेल होता है। इस भरम के टूटने से पहले ही उसकी विदाई करने की साँठ-गाँठ में सब लगे थे।

इन्दुमती और माया मन मारकर शादी के काम में हाथ बँटा रहे थे। माया के चेहरे से उदासी टपक रही थी। उदास होने की वजह भी थी। झल्ली और माया में उम्र का फ़ासला था अक़ल का नहीं। दोनों बचपन से साथ खेलकर बड़ी हुईं। खेलती तो दोनों साथ थीं लेकिन पिटती झल्ली अकेली थी।

“अरे शान्ति, दुनिया-भर को रसोई का ज्ञान बाँटती हो, कुछ अपनी झल्ली को भी सिखा लो...अब गुड्डे-गुड़ियों से खेलने की उम्र गयी इसकी,” अक्सर ही पड़ोसिनें झल्ली के लिए उसकी माँ पर तंज कसतीं। शान्ति जब ग्यारह बरस की झल्ली को गुड्डा हाथ में लिए, नाक पोंछती, गन्दी फ़ॉक और बिखरे बालों के साथ देखती तो चोटी पकड़कर अन्दर ले जाती। उस दिन झल्ली के गाल और बदन लाल हो जाता। कुछ देर वह रोती फिर खेलने को मचल उठती। बच्चे ऐसे ही तो होते हैं।

माया को बहुत बाद में समझ आया था कि गुड्डे-गुड़िया से खेलने पर सिर्फ़ झल्ली ही क्यों मार खाती है। झल्ली एक नॉर्मल बच्ची नहीं थी। उसका नाम भी झल्ली इसलिए ही रखा गया था। झल्ली उन ‘स्पेशल चाइल्ड’ में से थी जो दिखने में तो नॉर्मल जैसे ही लगते हैं लेकिन उनके मस्तिष्क का विकास उनके शरीर के विकास से धीरे हो पाता, यानी उनकी उम्र और समझ का तालमेल नहीं बैठ पाता। यह और बात है कि झल्ली के माता-पिता को इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था। उन्हें तो बस ब्याह-ब्याह की धुन सवार थी।

शाम को बन्नो बनी झल्ली को हल्दी लग रही थी। दादरे गाये जा रहे थे। पाटे पर बैठी झल्ली को देख लगता था मानो लाली-पाउडर की डिबिया उसके ऊपर उड़ेल दी हो। लाल रंग का गोटा लगा थान ही उसके बदन पर लपेट दिया हो। वह सजी थी लेकिन सज्जा का सुन्दर रूप नहीं लग रही थी। सब कुछ उस पर थोपा हुआ लग रहा था। वह जिस हल्दी और सुन्दर कपड़ों के लिए चहक रही थी उनके माने उसे नहीं मालूम थे। वह नहीं जानती थी कि शादी का लालच देकर उसे फुसलाया जा रहा है। माया बार-बार शादी के बाद क्या होगा? झल्ली कैसे व्यवहार करेगी? समझ भी पायेगी या नहीं? यही सब सोच रही थी। वह जानती थी कि शादी का अर्थ सिर्फ़ सजकर फेरे ले लेना नहीं है। असली कहानी तो विदाई के बाद शुरू होती है।

झल्ली की कहानी का रंग भी विदाई के बाद बदला। विदाई के कुछ ही दिनों बाद जब देर रात उसका फ़ोन आया तो माया हैरान थी और इन्दुमती-उसकी तो जैसे मुँहमाँगी मुराद पूरी हुई हो। माया के सामने वह बेचैन होने का स्वाँग ज़रूर रच रही थी लेकिन मन-ही-मन खुश थी कि आखिर वही हुआ जिसका उसे अन्दाज़ा था। वह यह तो नहीं जानती थी कि

क्या हुआ, लेकिन झल्लू एक दिन खुद इस शादी से भाग आयेगी या उसका पति उसे छोड़ जायेगा ऐसा कयास उसने भी लगाया था और मुराद भी माँगी थी।

बीप...बीप...पों...पों...रात के बारह बजने को थे। महु बस स्टैंड पर अब भी काफ़ी लोग दिख रहे थे। “ये मोहन पीसीओ कहाँ होगा”, इन्दुमती ने माया से पूछा।

“किसी से पूछ लेते हैं”, माया ने इधर-उधर देखते हुए कहा। वे दोनों ही पहली बार महु आये थे। पूछने पर कुछ ही देर में उन्हें मोहन पीसीओ मिल गया।

वहाँ गाड़ी रोक माया नीचे उतरकर आगे बढ़ती इससे पहले ही झल्लू आकर उससे लिपट गयी।

“मुझे बचा ले माया, मुझे यहाँ से ले चल”, उसकी सूजी हुई आँखें, आँसुओं से निचुड़ता आँचल, बिखरे बाल, लिथड़ती साड़ी देखकर माया घबरा गयी।

“क्या हुआ है झल्लू, तू घर से भागकर यहाँ क्यों आयी? लाला जी कहाँ हैं? क्या हुआ है?” इन्दुमती ने उसे गले से लगाते हुए पूछा। माया ने महसूस किया कि झल्लू इन्दुमती की बाँहों से छूटकर उसके गले लगना चाहती थी। वह अधूरी-सी नाराज़गी इन्दुमती पर ज़ाहिर कर रही थी जो पूर्ण उजागर न होकर, नाराज़गी न लगते हुए बस क्षणिक पीड़ा लगे। माया ने सोचा शायद वह झल्लू को ज़्यादा प्यारी है इसलिए वह उसके पास रहना चाहती है।

इन्दुमती ने सवाल दोहराया तो झल्लू बिफर पड़ी।

“तुम लोग मुझे यहाँ से ले चलोगे या नहीं? वरना मैं खुद कहीं भाग जाऊँगी”, इन्दुमती की बात का जवाब देने की जगह झल्लू चीखते हुए बोली। उसके आँसू एक धार में बहे चले जा रहे थे।

“मुझे यहाँ से ले चल माया! उस औरत ने मुझे बेच दिया माया...और वो आदमी... अपनी माँ के साथ मिलकर मेरे बदले गड़्डी लेना चाहता है”,

माया की बाँहों में निढाल होते हुए उसने कहा।

झल्लू का शरीर तप रहा था। मन की पीड़ा का तो खैर हिसाब ही नहीं। वह बेहोश थी। उसे लेकर वे लोग घर पहुँचे। माया और इन्दुमती ने झल्लू को विश्वास दिलाया कि वे अब उसे किसी क्रीमत पर वापस नहीं भेजेंगे। जल्द ही उसके तलाक़ का केस दायर किया जायेगा। इन्दुमती झल्लू को अपनी गोद में लेकर सहला रही थी, “चाहे कुछ भी हो जाये मैं तुझे उस नरक में नहीं जाने दूँगी...तू चिन्ता मत कर।”

इन्दुमती जितना उसे पुचकारती झल्लू उतना ही उससे कुढ़ती, दूर भागती। झल्लू का यह रवैया माया के लिए नया था। कई शंकाएँ मन में उमड़ रही थीं। वह समझ ही नहीं पा रही थी कि इन्दुमती के प्रति बदले व्यवहार की वजह क्या है। शादी से पहले तक तो सब ठीक था।

माया ने महसूस किया कि इन्दुमती झल्ली की वापसी से परेशान नहीं बल्कि खुश थी। जैसे झोली में माँगे का फल आकर गिरा हो। झल्ली इन्दुमती की लाड़ली है यह तो माया समझती थी किन्तु उसका मायके लौट आना भी इन्दुमती को खुशी दे सकता है यह माया की हैरानी का कारण था-

“आप खुश हैं कि झल्ली की शादी इस तरह बर्बाद हुई?” माया एक दिन इन्दुमती से पूछ बैठी। इन्दुमती को इस सवाल का अन्देशा नहीं था। वह झल्ली के कमरे की तरफ बढ़ रही थी जब माया ने उसे पीछे से आकर टोका।

“न...न...नहीं...” सकपकायी-सी इन्दुमती ने कहा, “मैं तो इस बात से खुश हूँ कि वह कितनी हिम्मती है जो वहाँ से भाग आयी...वरना सोच वे लोग उसका क्या हथ्र करते?” इन्दुमती जानती थी कि अपनी बारह साल की बेटि को कैसे बहलाना है।

“हम्म...मुझे तो सोचकर ही नींद नहीं आती...” माया ने कहा, “आप देखें उसे मैं सोने जा रही हूँ। मुझसे नहीं सँभलती”, कहते हुए माया अपने कमरे की तरफ बढ़ गयी। उसके जाते ही इन्दुमती ने रोकी हुई साँस छोड़ी। उसके माथे पर पसीने की नन्ही बूँदें चमक रही थीं। इन्दुमती का सच माया के सामने आ जायेगा ऐसा खयाल भी उसे हिला जाता। “सच? कौन-सा सच? माया तो अभी बच्ची है...वह क्या समझेगी यह सब?” इन्दुमती के काले मन ने खुद को हौसला दिया और झल्ली के कमरे की तरफ बढ़ गयी।

इन्दुमती शादी के छह साल बाद ही विधवा हो गयी थी। गोद में थी तीन बरस की माया। मायके वालों ने इन्दुमती की इच्छा जान समाज के खिलाफ़ जाकर बहुत कोशिश की कि उसका दूसरा ब्याह हो जाये लेकिन इन्दुमती की किस्मत में साथी का सुख नहीं था। इन्दुमती नौकरी वाली थी इसलिए मायके से दूर अपनी नौकरी पर रहती थी। ‘अकेली है’, यह सोचकर झल्ली को उसके पास छोड़ दिया गया। झल्ली तब दस-ग्यारह बरस की थी जब वह इन्दुमती के पास रहने आयी। वह रहती-पढ़ती यहीं थी लेकिन उसके माता-पिता ने खुद को कन्यादान से मुक्त नहीं किया था।

इन्दुमती का अकेलापन और जवानी में उफान मारती शारीरिक ज़रूरतों ने कब झल्ली को उसकी सहायिका बनाया वक्त को भी नहीं मालूम। झल्ली की मूर्खता और नासमझी का पूरा फ़ायदा उठाते हुए इन्दुमती ने उसे अपने शारीरिक सुख की पूर्ति के लिए दासी बना लिया। हर रात वह झल्ली को सिखाती कि कैसे बदन को पोसा जाता है...कैसे उसके अंग-अंग से सुख भोगा जा सकता है।

‘छि: मौसी...कैसे गन्दे काम कराती हो’, शुरू-शुरू में झल्ली की मासूम अक़ल को जब इन्दुमती के इरादों का पता नहीं था तब झल्ली कहती। इन्दुमती हँसती फिर कहती, ‘ये गन्दा काम नहीं है बेटा। ये तो बड़ों की सेवा है। देख तेरी मौसी दिन-भर नौकरी करती है। घर के काम करती है। बदन टूट जाता है बेटा। अब तुझसे बदन दबवा लेना कोई गन्दा काम हुआ भला?’

झल्ली मासूमियत से न में सर हिला देती और जैसे-जैसे, जहाँ-जहाँ इन्दुमती हाथ रखवाती जाती, झल्ली रखती जाती। शुरू में इन्दुमती ने उसे भरोसे में लेने के लिए सीमाएँ बाँधे रखी थीं। पर सीमाएँ कब तक बँधी रहतीं? जिस सुख की लालसा में इन्दुमती ने झल्ली को सेविका बनाया था उस तक पहुँचने की ख्वाहिश में एक दिन उसने सारी सीमाएँ तोड़ दीं। और झल्ली? वह तो कितने दिनों तक अपने हाथ रगड़-रगड़कर धोती रही थी। धीरे-धीरे जब झल्ली ने न-नुकुर शुरू की तो इन्दुमती ने स्नेह की चादर हटाकर अपना रौद्र रूप झल्ली को दिखा दिया। मूढ़ लड़की के मन में डर ने इतने गहरे पैठ बना ली कि इन्दुमती के बारे में सोचते ही उसके कण्ठ में बोल अटक जाते।

झल्ली के साथ यह असामाजिक कु-कृत्य अब मौसी-बहोतिया के मोहसिक्त रिश्ते की चादर में ढँककर मध्यरात्रि में होने लगा। माया ने झल्ली के व्यवहार में कुछ बदलाव महसूस किये लेकिन तब वह उन्हें समझने के लिए बहुत छोटी थी। उसे लगता झल्ली को अपने घर की याद आती होगी। माँ-बाप की याद आती होगी। कभी वह पूछने की कोशिश भी करती तो इन्दुमती कह देती आज स्कूल में मार पड़ी है। आज इसने होमवर्क नहीं किया। अपनी बालमन बेटी को फुसलाने के इन्दुमती के पास हज़ार बहाने तैयार थे।

वह रात में झल्ली से जितना प्रेम सोखती, दिन में उसे उतना ही डराती, धमकाती, खिलौने देकर रात की बातों को कभी किसी से न कहने की हिदायत देती। झल्ली में अपनी तो कोई समझ थी नहीं। उसे लगता शायद ऐसे ही जीवन जिया जाता होगा। शायद ऐसे ही अन्य लोग भी रहते होंगे। समय बीतता गया और झल्ली अठारह की हो गयी। उसके घरवालों को लगता कि उसे इन्दुमती से अच्छी परवरिश कोई दे ही नहीं सकता था। आखिर झल्ली जैसी मन्दबुद्धि को भी इन्दुमती ने दसवीं पास करा ही दी थी। भले पासिंग मार्क्स से ही सही लेकिन ब्याह के लिए जब रिश्ता खोजने जायेंगे तो लड़की दसवीं पास ही कहलायेगी न। हुआ भी वही, ब्याह भी हुआ और वापसी भी।

इन्दुमती के शरीर में हो रही हलचल माया देख नहीं पा रही थी लेकिन उसकी माँ में कुछ तो बदला है यह महसूस कर रही थी। उस रात जब माँ को झल्ली को सँभालने कहकर माया अपने कमरे में गयी तो बहुत देर तक सो नहीं पायी। बीती बातें, झल्ली की तकलीफ़ें, माँ का बदला रूप उसे सोने न देता। वह यह सोचकर उठी कि आज झल्ली के पास ही सो जाये, शायद मन हलका हो जाये। कमरे से निकलने को ही थी कि उसे झल्ली और इन्दुमती के झगड़ने जैसी आवाज़ें सुनाई दीं। वह दबे पाँव उस ओर आगे बढ़ने लगी। जैसे-जैसे आगे बढ़ रही थी, टूटी आवाज़ें साफ़ शब्दों में बदल रही थीं। कमरे के पास पहुँचकर उसे जो सुनाई दिया उससे उसे लगा वह दारुल आखरित की सीढ़ी पर खड़ी है। न यह घर उसका है, न यह माँ उसकी है, और न यह दुनिया उसकी है।

साँप

-विपिन चौधरी

आज के समय में तो क़तरई नहीं, पर कभी रजनी को साँप से इतना भय लगता था कि साँप की तस्वीर या उसके ज़िक्र मात्र से ही मानो उसकी देह से रूह अलग हो गयी हो। हाथ-पाँव सुन्न और शरीर बर्फ़ का ठण्डा गोला बन जाता था। बचपन ने उसे साँप से भय का यह लाइलाज रोग सौंपा था जिससे निजात पाने के लिए उसे बरसों-बरस लगे। लेकिन उस समय इस गुमसुम और मासूम बालिका रजनी को देखकर भला कौन जान सकता था कि यह बच्ची सर्प-दंश से पीड़ित है। साँप की नज़दीकी ने बालसुलभ नटखट शैतानियों को परे धकेल कर, उसके अन्तस में परिपक्व हृदयों के हाथ लगने वाली बेचैनियाँ भर दी थीं।

शाम के वक़्त जब रजनी की सहेलियाँ उसके घर के बड़े से मेन-गेट के उस पार से उचक-उचककर उसे पुकारतीं, तब छोटी बच्ची रजनी दौड़ती हुई रसोईघर में जाती जहाँ उसकी माँ अपनी देवरानियों के साथ रात के भोजन की तैयारी में व्यस्त होतीं। वह अलमारी से अपनी पसन्द का फ़्रॉक लाकर अपनी माँ को सौंपते हुए उसे पहनाने की ज़िद करती और फिर उसे पहन ठुमकती हुई अपनी सहेलियों के साथ पार्क की तरफ़ चल देती। मगर रात का भोजन निपटने के बाद जब सब अपने-अपने बिछौने लेकर उनींदे और उबासी लेते हुए छत की राह पकड़ते तब रजनी के नज़दीक भय का एक बेडौल साया मँडराने लगता। उसके नन्हे से हृदय के भीतर डर का कुकुरमत्ता उग आता। अँधेरा होते ही फिर अपने बिल से बाहर निकल आता वही काला साँप। बिना किसी आवाज़ के वह रजनी के नज़दीक सरक आता और आकर उस बच्ची के सुन्न पड़े हुए ठण्डे शरीर को अपनी देह का शिकार बनाने लगता। पिछले कुछ दिनों से नित्य उसके बगल में जगह बनाने वाले इस साँप ने अपनी आदत के अनुसार रजनी की पीठ पर वार किया। बच्ची रजनी की देह पर देर रात तक साँप की देह की सरसराहट रेंगती और उसके विकृत मुँह से फिर वही हिस्स-हिस्स की आवाज़ आने लगती और वह लगभग मूर्च्छित-सी बिना करवट एक तरफ़ पड़ी रहती। उसकी बालसुलभ नींद, आकाश में टिमटिमाने वाले अनगिनत सितारों के लम्बे-चौड़े जाल में उलझ जाती। इस बड़ी-सी छत पर सोने वालों में सिर्फ़ छोटी-सी बच्ची रजनी ही है जिसकी नींद में ख़्वाब नहीं, साँप है और साँप की लिजलिजी देह की शूल-सी चुभन है। रोज़ की तरह दादा के बड़े से घर की बड़ी-सी छत पर सब बेखबर सो रहे हैं, कई गढ़े

फ़र्श पर बिछे हैं और कुछ चारपाइयाँ पंक्तिबद्ध लगी हुई हैं घर के बड़े-बुजुर्गों के लिए। नींद में कोई अपने खर्राटों से सीटी जैसी आवाज़ें निकाल रहा है तो किसी के खर्राटे, डफली की तरह सुनाई पड़ रहे हैं। कोई बुरे सपनों की गिरफ्त में आकर हलकी चीख जैसी ध्वनियाँ निकाल रहा है तो कोई किसी सपने में डूबकर मन्द-मन्द मुस्करा रहा है। इस बड़े से संयुक्त परिवार में पाये जाने वाले लोगों में सभी गुण-दोष शामिल हैं, सब अपने स्वार्थों की गठरी पर बैठे हैं, सबके अपने-अपने जीवन के उतार-चढ़ाव, खुशियाँ, दुख-दर्द और परेशानियाँ हैं लेकिन सब एक-दूसरे से इसे साझा कर खुद को हलका कर लेते हैं, मगर रजनी ही है जो अपनी पीड़ा को अपने भीतर ही दबोचे बैठी है। दादा-दादी, ताई-ताऊ उनके तीनों बच्चे, चाचा-चाची उनके चार बच्चे, मम्मी-पापा, रजनी और उसका छोटा भाई। सभी बच्चे बड़ों की चारपाइयों से कुछ दूर के कोने में एक साथ नीचे सोते हैं और साँप भी। नौ साल की रजनी बच्चों में सबसे बड़ी है। रजनी के अतिशय भोलेपन और भावुकता का फ़ायदा उठाते हुए साँप ने अपनी जगह बनायी है। हर रात रजनी, साँप को अपनी आत्मा पर ढोती है। पीछे से वार करता साँप भोर होते ही गायब हो जाता है। साँप जाते-जाते अपनी केंचुली वहीं छोड़ जाता है और फिर दिन-भर रजनी को उसकी वह केंचुली डराती-रुलाती है। स्कूल में रजनी की सहेलियाँ रात में देखे सपनों के बारे में बतियातीं, जिनमें अक्सर खूबसूरत परियाँ होतीं, या फिर वे ढेर सारे बच्चों के साथ बहुत सारे झूलों वाले पार्क में खेल रहे होतीं। एक रजनी ही थी जिसकी नींद में किसी सपने ने अपना घर नहीं बनाया था। उसके लिए तो रात उस डर का नाम था जिसे उसकी अपनी माँ के आँचल का आश्वासन भी दूर नहीं कर सका। रजनी को इस डर से मुक्ति उस समय मिली जब उसके माता-पिता और छोटा भाई दादा के घर को छोड़कर उस गाँव में आ गये जहाँ उसके शिक्षक पिता का तबादला हुआ था। गाँव एक बड़े शहर के साथ लगने के कारण गाँव-सा नहीं दीखता था। रजनी साँप से दूर चली आयी। मगर बरसों उसकी नींद में वही कलमुँहा साँप अपनी केंचुली छोड़ता रहा और वह बरसों तक उससे मुक्ति पाने के मानसिक द्वन्द्व में उलझती रही।

जब-तब साँप उसके वर्तमान में उतर आता, रजनी की स्मृतियों को ज़हरीला करने। उम्र की परिपक्वता आने के साथ-साथ उसने साँप से दूर जाने के बहुत प्रयत्न किये। वह नये-नये शौक ईजाद करती और उनमें डूबने की कोशिश करती, मगर अब भी यदा-कदा साँप अपनी राह से भटककर उसके क़दमों के नज़दीक आ धमकता। कितने बरस बीत गये पर उसकी स्मृति में लौटने वाला वह साँप बूढ़ा नहीं हुआ। उसके आने की सरसराहट रजनी के भीतर वही बचपन वाली कँपकँपी छोड़ती रही और रात में अचानक से उसकी नींद खुलती रही।

इंजीनियरिंग की प्रवेश परीक्षा के लिए महानगर आने पर भी रात के किसी-न-किसी पहर में जब-तब उतर आता वह साँप, तब रात उसके लिए बोझ बन जाती और उसे नींद

की गोलियों का सहारा लेना पड़ता। रजनी देख रही थी महानगर का जीवन उसके क़स्बेनुमा गाँव के जीवन से कितना अलग था। कहाँ गाँव में दिन ढलने के साथ ही रात के खाने की तैयारी शुरू हो जाती और कहाँ उसके हॉस्टल की लड़कियों के लिए रात जैसे शाम का ही विस्तार थी, अधिकतर लड़कियाँ सुबह चार-पाँच बजे सोतीं, दस बजे उठतीं और फिर हड़बड़ाते हुए बिना नहाये ही कॉलेज की राह पकड़तीं। अनुशासनरहित अस्त-व्यस्त दिनचर्या में साँस लेती लड़कियाँ अपने-अपने परिवेश की जकड़न से छुटकारा पाकर इस नयी दिनचर्या का भरपूर आनन्द उठा रही थीं। समय पर घर आने के निर्देश और मनचाहे कपड़ों के पहनने की पाबन्दी से दूर मुक्त जीवन में साँस लेती लड़कियाँ और उनके बीच में गाँव से सीधे चली आने वाली रजनी। रजनी को बहुत समय लगा महानगर की लड़कियों के मिज़ाज से क़दमताल करने में।

मगर वह भी बदली और इरादतन बदली, वह अपने आप को इसलिए भी बदल रही थी क्योंकि उसे बहुत दूर जाना था, पुरातन रीति-रिवाजों की दुर्गन्ध से बहुत दूर चले जाना था। उसे अपना जीवन अपनी माँ, नानी, ताई, चाचियों जैसा चुप्पा नहीं बनाना था। यह लड़ाई आसान नहीं थी।

सबसे बड़ी लड़ाई तो खुद को उस बदसूरत साँप की स्मृतियों से दूर धकेलने की थी। धीरे-धीरे उसे पता चला कि हॉस्टल की कई लड़कियों को अपने बचपन में साँपों का सामना करना पड़ा था और साँप भी अजनबी नहीं क़रीब के परिचित ही थे, इतने क़रीब कि कोई उनके असली रूप पर आसानी से विश्वास ही न कर सके कि ये क़रीबी साँप बनकर मासूमों को डस भी सकते हैं और उनके पूरे जीवन में ज़हर भर सकते हैं। इतना ही नहीं कुछ लड़कियों का सामना तो अजगरों और भेड़ियों से भी हुआ था। उन लड़कियों की कोमल देह पर उन वहशी जानवरों के नाखूनों और दाँतों के निशानों की कल्पना करते ही रजनी भीतर से सिहर उठी थी। कितनी हिम्मती हैं ये लड़कियाँ जो अपने जीवन की नाव को खेते-खेते यहाँ तक चली आयी थीं। उसे भी साँप को मार देना होगा, उसकी स्मृति के फन को कुचल देना होगा। मगर कड़वी स्मृतियाँ भी इतनी आसानी से कहाँ पीछा छोड़ती हैं।

रजनी के पेइंग गेस्ट हॉस्टल की छत पर डिनर के बाद लड़कियों की सैर शुरू हो जाती है। उसके हॉस्टल में फ़ैशन डिज़ाइनिंग का कोर्स करने वाली लड़कियाँ ही अधिक हैं, इन फ़ैशनबल लड़कियों की सैर, सैर न होकर कैटवाँक ही अधिक लगती। अपने-अपने फ़ोन पर परिवारवालों के साथ या अपने-अपने बॉयफ्रेंड्स के साथ हँसती- गपियाती, लड़ती-झगड़ती पी.जी. हॉस्टल की इन लड़कियों की सैर में अब रजनी भी शामिल हो चली है। पिछले दिनों रात के भोजन के बाद आधे घण्टे की सैर उसकी दिनचर्या में शामिल हो गयी है।

इस हॉस्टल की मकान मालकिन के पास दो बिल्डिंग्स हैं, जिनकी छतें एक साथ हैं। एक इमारत में हर मंज़िल पर फ्लैट हैं और दूसरी इमारत में होटल की तरह कमरे और लम्बा-सा कॉरिडोर। कुछ दिन हुए रजनी ने कॉरिडोरनुमा कमरे से कनकलता के साथ वाली इमारत के तीसरे माले के एक फ्लैट में शिफ्ट किया है। आज भी दोनों इमारतों की छतों पर रोज़ रात की तरह लड़कियों की टहल की गहमागहमी है। इस चहल-पहल भरे समय में भी रजनी बहुत उदास और खिन्न-सी लग रही है, दोपहर बाद से ही उसका मूड कुछ उखड़ा हुआ है।

जीवन भी एक बार तो दूसरी तरफ़ करवट लेता है।

कनकलता और रजनी में एक पीढ़ी का अन्तर है मगर दोनों के बीच स्नेह की कोंपल उगने में थोड़ी-सी भी अड़चन नहीं आयी। कनकलता को आज भी अच्छे से याद है, उसके रूम में आते ही अपने दोनों कन्धों से दो-चार छोटे-बड़े बैग उतारते हुए रजनी ने कहा था,

‘दीदी जानती हैं मैं अक्सर आपको छत पर टहलते हुए देखती थी। किसी ने बताया कि आप राइटर हो तो मुझे लगा आपके फ्लैट में शान्ति होगी, पढ़ने-लिखने का माहौल होगा। इसलिए मैंने हॉस्टल की मालकिन से कहकर यहाँ शिफ्ट किया।’

सुनकर मुस्करा भर दी थी कनकलता।

इस फ्लैट में न जाने कितनी ही पेइंग गेस्ट लड़कियाँ आयीं और गयीं। उँगलियों पर इसका हिसाब-किताब करे तो सबको याद करना भी मुश्किल है। पूरे दस साल हो गये कनकलता को यहाँ टिके हुए। इस हॉस्टल में वही सबसे पुरानी भूत है।

कनक को भी जैसे कोई चीज़, जगह या प्रसंग पकड़ लेता है तो उससे छुटकारा पाना उसे कठिन लगता है। इस हॉस्टल ने जैसे उसे पकड़ लिया था, यहाँ की आबोहवा उसे रास आ गयी थी। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। इस जगह से उसके अखबार का दफ़्तर भी नज़दीक ही है और साहित्यिक गतिविधियों के केन्द्र भी उसके हॉस्टल से अधिक दूर नहीं। कनकलता ने अभी-अभी एक कविता लिखकर पूरी की थी। उसे दिल्ली रेप की पीड़िता ‘निर्भया’ के परिवारवालों द्वारा दिल्ली में आयोजित कार्यक्रम ‘निर्भया के लिए’ में शामिल होना था।

रजनी ने भी उस कविता को पढ़ने की इच्छा ज़ाहिर की, उसने कविता को सस्वर पढ़ा-

“यह देह की नहीं

आत्मा की बात है

जिसके बारे में ख्यात है-

‘नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः’

यानी आत्मा को कोई शस्त्र या आग नष्ट नहीं कर सकते
हाँ वही आत्मा

जो सूई के छेद के उस पार आसानी से चली जाती है
बर्फ़ीले पर्वत के शिखर पर भी जिसे ठिठुरन नहीं होती
वही आत्मा कुछ कह रही है,
ध्यान से सुनो

‘जिस तरह मच्छर
तुम्हारी मर्ज़ी के बिना तुम्हारी देह का लहू ले उड़ा
उसी तरह से उस काली रात को भी देखो
जिस चीज़ में तुम्हारी हामी नहीं
वह एक प्रतिशत भी तुम्हारी नहीं
तुम्हारा तो आने वाला कल है
जिसके सर पर लगी है सुनहरी कलगी
जिसकी नज़रें सदा आगे की ओर देखती हैं’

कविता पढ़ने के बाद कागज़ को मेज़ पर रखकर कुछ पल वह ठिठकी खड़ी रही जैसे किसी दूसरी दुनिया में उलझ गयी हो। उसका कोमल चेहरा पत्थर की तरह कठोर हो गया था।

‘रजनी, क्या सोचने लगीं,’ कनकलता ने पूछा।

‘नहीं, कुछ नहीं दीदी,’ उसकी आवाज़ जैसे गहरे कुएँ से निकली थी।

पर कनकलता ने उस ‘कुछ नहीं’ के भीतर के ज़हरीले संसार की थोड़ी-बहुत थाह उसी रोज़ पा ली थी जिसका राज़ उस उमस भरी रात को खुला जब भोजन के बाद टहलते वक़्त रजनी फिर कुछ परेशान-सी दिखी।

याद है कनकलता को जून माह का वह दिन बेहद गर्म था।

पहले से टहल रही थी कनकलता कि अचानक कुछ सोचने में गुम रजनी चुपचाप आकर कनक के विपरीत दिशा में टहलने लगी। अपनी दुनिया से बाहर निकलने पर उसने कनक को घूमते हुए पाया। कनक फ़ोन पर थी, फ़ोन से निपटने के बाद अपने साथ क्रदमताल करती उदास रजनी को देख उसने तुरन्त ही उसकी उदासी की थाह पा ली थी।

“क्या बात है रजनी?”

“कुछ नहीं कनक दीदी।”

“कुछ तो है।”

“मन कुछ ठीक नहीं।”

“क्या हुआ मन को?”

“आज मुझे मेरा बचपन परेशान कर रहा है।”

“बचपन और परेशानी-यह बात समझ में नहीं आयी। बचपन तो मस्ती और हँसी-खुशी का नाम है।” कनक ने रजनी की तरफ़ चेहरा करते हुए कहा। रजनी की गर्दन नीचे की तरफ़ कुछ झुकी हुई थी वह फ़र्श की तरफ़ देखते हुए धीरे-धीरे अपने क़दम आगे की ओर रख रही थी।

“दीदी, मगर मेरा बचपन ऐसा खुशगवार नहीं रहा।”

कनक के थोड़ा-सा कुरेदने पर ही रजनी ने अपने बचपन में उस साँप की मौजूदगी की बात बता दी और साथ ही आक्रोश में भरकर यह भी कह डाला कि मैं इस बार घर जाऊँगी तो अपनी माँ से पूछूँगी कि आपने मुझसे रात को इतनी दूरी क्यों बना ली कि साँप को आने की जगह मिल गयी। आपकी असावधानी ने ही साँप को मेरे जीवन पर लाद दिया। आज भी वह साँप बार-बार मेरी आत्मा से लिपट जाता है।

कनक समझ रही थी रजनी के भीतर का गुस्सा, उसके भीतर की बेचैनी।

“कनक दीदी, आज भी धीरेश के साथ निजी पलों में भी कभी-कभार वह साँप रेंगते-रेंगते सामने आ जाता है और मैं गठरी-सी बन जाती हूँ। कुछ पल रुकने के बाद रजनी आगे बढ़ी, पिछले दिनों मैंने धीरेश को यह सब बताया था जिसे सुनकर वह बहुत हैरान, परेशान और गुस्से में भर गया था। साँप का क्रिस्सा मेरे भीतर एक अजीब-सा आक्रोश भर देता है।”

“लेकिन क्या तुम उस समय किसी के इतने नज़दीक नहीं थीं कि अपनी बात किसी से कह सकतीं,” पूछा कनक ने।

मुझे अपने घर के बड़ों से डर लगता था, कई बार बच्चों की लड़ाई में बड़े भी हिंसक हो उठते थे, और फिर अपने सभी नये-पुराने हिसाब निकालने लगते थे इससे घर के सभी बच्चे बुरी तरह से सहम जाते थे। जाति-पाँति में घोर विश्वास करने वाला परिवार और गाँव हर दूसरे दिन किसी जातिगत झगड़े में शामिल होता।

मेरी सबसे छोटी बुआ का पड़ोस के कुम्हार टोले के लड़के से प्रेम हो गया। एक दिन जब इस ख़बर ने घर में प्रवेश किया तो मेरी दबंग दादी और माँ ने उसके टोले में ही जाकर ख़ूब पिटाई की जिससे वह अधमरा हो गया था। उस पर भी पंचों ने लड़के और उसके परिवार को ही सज़ा दी। हम सब बच्चे ज़्यादा कुछ न जानते हुए भी डर गये थे और यह डर मेरे भीतर घर कर गया था कि यदि मैं साँप के बारे में दादी या माँ को बता दूँगी तो साँप की भी वही गति होगी। और मुझे कई बार ख़्यालों में साँप के मुँह से निकलता सफ़ेद झाग दिखता और मेरा मन एकदम से कच्चा हो जाता।

कुछ बड़ी होने पर युवा लड़कियों की तरह अपनी देह से मेरा मोह जाता रहा, बनाव-सिंगार के प्रति भी मैं लापरवाह रही। मेरा परिवेश मुझे हर क़दम पर संकुचित करने लगा। मुझे लगता था मैं वह गुनाह गार हूँ जिसे अपना ही गुनाह मालूम नहीं। यह कहकर रजनी बेहद उदास हो गयी।

फिर मेरे जीवन में सहपाठी रमेश का आगमन हुआ, वह जब मेरे करीब आता मैं भाग खड़ी होती। तब मैं खुद को लेकर इस क़दर संशयग्रस्त थी कि मुझे नहीं लगता था कि मैं रमेश जैसे प्रतिभाशाली लड़के के योग्य हूँ। मैं उसे अपने भीतर के ज़हर से दूर रखना चाहती थी। और मैंने अपने को उससे बहुत दूर कर लिया।

यह महानगर ही था जहाँ पर आकर मैंने खुद को समझा। अपनी देह, अपने मन, अपनी आत्मा को पढ़ना शुरू किया और जीवन में घुलना-मिलना शुरू किया। अब मैं खुद को बिल्कुल अलग इन्सान पाती हूँ। मगर फिर भी कहीं से उदासी का एक काला बादल आकर मुझ पर बरसने लगता है। और सचमुच उस दिन रजनी की उदासी के बादल कनक के लाख दिलासा देने के बाद भी न छूट सके थे।

उस रात रजनी के बचपन ने कनकलता की नींद छीन ली। कई बार उसके सामने रजनी का बाल रूप आया जो साँप से डरकर गठरी-सा बन जाता था। उसके पास कई लोग थे सबके हाथ बँधे हुए थे। आज के समय में जो रजनी है, वह बचपन की उस भयग्रस्त रजनी से कहीं अलग है। कनकलता को भी कभी-कभी लगता है यह वह रजनी नहीं है जो नाइट सूट पहने सकुचाते हुए उसके कमरे में आयी थी। और कनकलता की बनायी चाय का कप जल्दी से सुड़क कर उसकी कविता पढ़ने के साथ ही स्टडी टेबल साफ़ करके उस पर किताबों को सजाने लग गयी थी। कुछ ही दिनों में कनकलता ने जान लिया था पढ़ाई में औसत से भी नीचे, पर लगन की पक्की रजनी नाम की इस लड़की को, जो अक्सर बड़े जोश में भरकर कहती, 'कनक दीदी, देखना मैं कुछ ही दिनों में अपना वजन कम कर लूँगी और इस साल इंजीनियरिंग की प्रवेश परीक्षा भी...।' वह सुबह-शाम योगा करती और कई घण्टे अपनी स्टडी टेबल पर सिर झुकाये बैठी रहती, पर यह सिलसिला कुछ ही हफ़्ते चला। कनक के फ़्लैट के दूसरे कमरे में रहने वाली फ़ैशन टेक्नोलॉजी की छात्रा रश्मि के रहन-सहन और उसकी विलासिता से प्रभावित होकर रजनी ने कुछ ऐसी छलाँग लगायी कि सब उस गुमसुम और सहमी-सी रहने वाली पुरानी रजनी को भूल गये। अब तो उसका आईना भी उसे इसी बदले रूप में देखना चाहता है, जिसमें वह खिलखिलाती है। अक्सर रश्मि की तरह ही रजनी की उँगलियों में भी सिगरेट फँसी रहती है, उसके मुँह से झरते डबल मीनिंग जोक्स और फिर बाक़ी लड़कियों के ठहाके अब कनकलता के आसपास गूँजते हैं।

कई दिनों से कनक देख रही है कि साँप रजनी से दूर है। कल ही रजनी ने कनकलता की सबसे बड़ी बहन की बेटी की शादी में राजस्थान के एक पिछड़े इलाक़े में बसे गाँव में जाने का प्रस्ताव मंज़ूर किया है और शादी में ले जाने वाले कपड़े प्रेस कर रही है। कनकलता के घर में रिश्तेदारों की चहल-पहल थी। सुनीता के हाथों-पैरों पर मेहँदी लगायी

जा रही थी। उसके आसपास कई बुजुर्ग व युवा महिलाएँ और बच्चियाँ बैठी हुई थीं और समवेत स्वर में साजों की सरगमों के साथ राजस्थानी विवाह-गीत गा रही थीं-

मेहँदी बाट सिलावटां जी रंग बाट्या रंग आय।

मेहँदी द्यो न जी, बहू गुड्डी दे रे हाथ। मेहँदी राचणी।

मेहँदी द्यो न जी, बहू सुनीता रे हाथ। मेहँदी राचणी।

मेहँदी द्यो न जी, बहू सुशीला दे रे हाथ। मेहँदी राचणी।

हाथों मेहँदी राचणी, चन्द्रबाई रो चूड़लो हाथ।

गीत-संगीत, हँसी-चुहल और खानपान के बाद कनकलता और रजनी ने भी अपने दोनों हथेलियों पर आगे और पीछे की ओर मेहँदी लगवायी और सोने ऊपर छत पर आ गयीं। उस घर की बड़ी-सी छत भी रजनी के दादा के घर की छत जैसी थी, वैसे ही बड़े चारपाइयों और बच्चे थोड़ी दूर उस कोने में सोने की तैयारी कर रहे थे। रजनी को अपना कड़वा बचपन याद आ गया और साँप भी। एक सिहरन-सी उसके भीतर दौड़ गयी। रजनी और कनकलता का बिस्तर एक साथ ही लगा था। रजनी को अजनबी जगह में नींद आने में परेशानी होती है उस पर दोनों हथेलियों पर लगी मेहँदी उसे असहज कर रही थी उसका मन हो रहा था कि वह अपने हाथ धो ले, मगर इतनी मेहनत से लगी मेहँदी कैसा गाढ़ा रंग लेकर आयेगी, उसे यह देखना है और ऊपर से कनक दीदी का हाथ न धोने का निर्देश भी है। अचानक उसने देखा एक महीन-सी परछाई कुछ दूर सोयी हुई एक छोटी बच्ची की तरफ आयी और उसके बगल में टिक गयी।

‘ओह फिर वही साँप’-एक हलकी चीख के साथ उसने कनक को उठाया, शोर सुनकर कई लोग उठ गये। कोई कुछ कहता इससे पहले ही रजनी पास पड़ा एक डण्डा लेकर उस काले साँप पर पिल पड़ी। तभी कनक के मामा ने रजनी के हाथों से डण्डा ले लिया। पाँव पर मार लगने से साँप साथ लगने वाली छतों को टापता हुआ लोप हो गया। उसकी खोजबीन करने गये घर के पुरुष लौट आये, उसी गली में कुछ घरों की दूरी पर रहने वाले नौकर की पहचान के साथ। इस बार साँप को हवालात में जगह मिली, सबने चैन की साँस ली और सब फिर से शादी की गहमागहमी में गुम हो गये। सबसे अधिक सुकून जैसे रजनी महसूस कर रही थी। उस दिन उसने गहरी नींद ली और दोपहर तक सोती रही। शाम को घर के छोटे बच्चों को एक बड़े से गोल दायरे में बिठाकर साँप को मार डाले जाने की कहानी भी सुनायी जिसका मॉरल था कि साँप से कभी डरना नहीं चाहिए और अपने बड़ों को तुरन्त ही इसकी जानकारी देनी चाहिए। वापिस महानगर लौटते समय पूरे रास्ते रजनी के चेहरे पर एक चमक देखी कनकलता ने। आने के तुरन्त बाद ही कनक को एक प्रोजेक्ट के सिलसिले में तीन महीने कोलकाता रहना था। आज ही महानगर लौटी कनक सफ़र की थकान उतारने के बाद चाय का कप लेकर बालकनी में बैठी ही थी कि रजनी ने भी एक कुर्सी उसके नज़दीक खींच ली। कनक ने गौर से रजनी के चेहरे को देखा वहाँ पीलापन

दिखा। रजनी ने सिगरेट जला ली थी, “कनक दीदी, आपको मालूम है पिछले महीने ही मैंने एबॉर्शन करवाया है।”

सुनते ही कनक धड़ाम से नीचे गिरी-

“क्या कह रही है तू!”

“हाँ दीदी, यह सब धीरेश की असावधानी का ही परिणाम है। डॉक्टर ने साफ़ कहा है, अपने शरीर का खयाल तुम्हें खुद रखना है। इस तरह एबॉर्शन से आगे के वैवाहिक जीवन में तुम्हें खतरा हो सकता है आगे से ऐसा नहीं होना चाहिए।”

कनक जानती है धीरेश और रजनी के बीच साफ़ है कि वे शादी नहीं करेंगे। रजनी से पाँच साल छोटा है धीरेश और उसके चार भाई-बहन भी अविवाहित हैं पहले उनकी शादी होगी और फिर जाति का भी पंगा है। जबकि रजनी की शादी इस साल नहीं तो अगले साल निश्चित है, मगर रजनी को जब तक हो सके धीरेश का साथ मंजूर है। उससे दस साल बड़ी कनक को नयी पीढ़ी की रिश्तों को लेकर यह लापरवाही काफ़ी अजीब लगती मगर उसने बहुत पहले ही किसी के निजी जीवन में हस्तक्षेप न करने का मन बना लिया था और आज भी वह उसी पर क़ायम है।

“दीदी, हमारा रिलेशन बहुत साफ़ है, पर्सनल भी फ़िज़िकल भी। मैं तो कई बार धीरेश से कहती भी हूँ कि मैं अपने पति से सैटिस्फाइड नहीं हुई तो मैं तुम्हारे पास आ जाऊँगी। और हर बार धीरेश थोड़ा डरते हुए कहता है- नहीं, प्लीज़ ऐसा मत करना।”

हमेशा की तरह अपने निजी जीवन को बिन्दास अन्दाज़ में शेयर कर रही थी रजनी और कनकलता उसकी बातें सुनकर हमेशा की तरह विस्मित थी-रजनी सचमुच बहुत बदल गयी है। अगले दिन शाम के समय कुछ लिख रही थी तभी करीब एक आइट ने उसका ध्यान भंग किया। कनकलता ने सिर उठाकर देखा-सामने अपने दोनों हाथों में चाय के कप लिए रजनी खड़ी थी।

“लो दीदी चाय, मैंने आपसे बिना पूछे ही बना ली। मुझे पता है चाय के लिए आप कभी मना नहीं करतीं।”

सुनकर कनक मुस्करायी और उसके हाथों से कप लेकर साइड टेबल पर रख दिया।

“यह क्या लिख रहे हो आप?”

“मेरी फ़ेवरेट इतावली कवयित्री की कविता का अनुवाद किया है अभी।”

“आपकी फ़ेवरेट”, फिर तो पढ़ना होगा, रजनी ने कविता को पढ़ना शुरू किया-

और करो फिर से प्रेम

यौन-क्रिया नहीं, केवल प्रेम

और मेरा इरादा मेरे चेहरे पर हौले-धीमे वेग के

गर्दन पर, पेट पर, पीठ पर,

तुम्हारे दिये चुम्बनों से है

काट डालो ये होंठ, लाँघ डालो सारी देह अपने
इन दो हाथों से
और जोड़ो अपनी आँखों में आँखें मेरी
मैं कहना चाहती हूँ समेट लो एक बेहद घनिष्ठ प्रेमालिंगन में
दोनों को कर लो एक
देह के हर हिस्से में व्याप्त हो जायें और टकराने लगें
एक-दूसरे से हमारी आत्माएँ,
एक-दूसरे की खरोंचों पर करें दुलार, संवेग से उतारें
एक साथ
अपने-अपने वस्त्र
जीवन-संकेतों की दुर्बलताओं पर
चुम्बनों की कर डालें बौछार
जब तक कि ये पल थोड़े
होने लगें ग़लत
खुशबू को समेट लें दोनों की साँसें
दोनों के हृदय धड़कें एक ही समय में
चाहती हूँ कि मेरे शरीर पर तुम्हारी उँगलियाँ बना डालें
नक्षत्र
एक ही समय में धड़कें दोनों के हृदय
एक ही लय के साथ यात्रा करें दोनों की आहें
और मुस्कान

अन्त में ईमानदार रहें इन
कुछ पलों के प्रति
जब ये पल नहीं होंगे साथ हमारे

हाँ, प्यार करें हम और करें प्रेम निस्संकोच
चूँकि प्रेम एक कला है और
हम तुम कृतियाँ

कविता खत्म कर डायरी को बन्द करते हुए रजनी, कनकलता को देखकर मुस्कुराते
हुए बोली-

“दीदी आप कब से ऐसी बोल्ड कविता पसन्द करने लगे।”

“जब से तेरी सोहबत मिली है मुझे।”
यह सुनते ही ज़ोर से हँसी रजनी और सिगरेट के कश लेते हुए धुएँ के छल्ले बिखराने
लगी।

अनगिनत परिधियों वाला वृत्त

-गौतम राजऋषि

“की कोरछिश, पुनू मियाँ? क्रिकेट खेलने नहीं चल रहे?”...सुदीप भैया का पुकारना और निखिल का किलकती हँसी के साथ कॉमिक्स बन्द करते हुए उछल पड़ना, स्विच ऑन होने और बल्ब जलने की प्रक्रिया जैसा ही हुआ। दोपहर और शाम के बीच का कोई वक़्त था, जब निखिल अपने घर के बरामदे में स्कूल से वापस आने के बाद बैठा कॉमिक्स पढ़ रहा था। सुदीप भैया तभी निकले थे पड़ोस वाले अपने घर से हाथ में क्रिकेट का बल्ला घुमाते हुए।

“की बोय पोढ़छो..कौन-सी कॉमिक्स है? ओ...फैंटम और जलदस्युओं का हमला? ठीक आछे, ताहोले बोलो, फैंटम की कॉमिक्स में सबसे अच्छा क्या लगता है तुमको?” सुदीप भैया वहीं उसके बगल में बैठ गये।

“तीन चीज़...फैंटम का डॉगी शेरा, फैंटम का घोड़ा तूफ़ान और...और...” सकुचाते हुए निखिल ने अपना मुँह कॉमिक्स में छुपा लिया।

“हाँ, हाँ...बोलो...की होलो? और तीसरी चीज़ क्या?”

“वो...वो फैंटम की पत्नी डायना...”, लगभग फुसफुसाकर ही कहा निखिल ने, जिस पर सुदीप भैया ठहाके लगाकर हँस पड़े और उसे ज़ोर से गुदगुदाते हुए चिढ़ाने लगे-“ओ तो आमार जान को डायना पसन्द है। केनो...क्यों पसन्द है? बहुत सुन्दर लगती है तुमको?”

बेचारा निखिल संकोच से गड़ा जा रहा था। उसे सुदीप भैया बहुत अच्छे लगते थे। उसे क्या, कॉलोनी के उसके ग्रुप के सारे बच्चों के हीरो थे वो। कॉलोनी के सारे भैया लोगों में सबसे हैंडसम...कॉलोनी की क्रिकेट टीम के कैप्टन...जितना अच्छा डांस करते थे, उतना ही अच्छा गाते भी थे। दूर्गा पूजा के पण्डाल में हर साल अष्टमी को होने वाले डांस-कॉम्पटीशन में फ़र्स्ट प्राइज़ पर सुदीप भैया का नाम ही लिखा होता था। नगाड़े की डम-डम के साथ ही दोनों हाथों में बड़े वाले दीये उठाकर वो जब थिरकना शुरू करते, तो पूरी कॉलोनी सम्मोहित हो उन्हें देखती रह जाती थी या फिर किसी शादी-विवाह या ऐसे ही किसी अन्य अवसर पर उनका 'आय एम ए डिस्को-डांसर' गाते हुए मिथुन चक्रवर्ती के स्टेप करना तो ऊह-आह की सरगोशियों का तूफ़ान खड़ा कर देता था।

निखिल बड़ा होकर सुदीप भैया जैसा बनना चाहता था।

रंग-बिरंगी तितलियों से उड़ते बचपन के उन दिनों में बीहड़ वन के बौने बंडारों का रक्षक फैंटम, जनाडू का मालिक जादूगर मैड्रेक, दुश्मनों के छक्के छुड़ाने वाले जासूसों की जोड़ी राजन-इक्रबाल और डिस्को-डांसर सुपर-स्टार मिथुन चक्रवर्ती के साथ-साथ सुदीप भैया भी उसकी हीरो वाली फ़ेहरिस्त में शामिल थे और इन सबसे परे, इतराने वाली बात जो थी वो ये कि कॉलोनी के अन्य बच्चों के बनिस्बत निखिल को सुदीप भैया का अतिरिक्त स्नेह प्राप्त था। अन्य बच्चों का इस बात पर जलना और उसका इतराना, समानुपातिक था। यहाँ तक कि सुदीप भैया का छोटा भाई प्रदीप, जो उसकी ही क्लास में पढ़ता था, से उसकी कई बार इस बात पर लड़ाई भी हो चुकी थी। उसे प्रदीप ज़रा भी पसन्द नहीं था... एक तो वो हमेशा बांग्ला ही बोलता और दूसरा, क्लास में हमेशा उससे ज़्यादा मार्क्स लाता था। जबकि उससे ठीक उलटे, प्रदीप के घर के सब लोग उसे बहुत मानते थे...चाहे वो सुदीप भैया हों, उनकी छोटी बहन और प्रदीप की दीदी-मिनी दी या फिर चट्टोपाध्याय अंकल-आंटी। मिनी दी तो उसकी अपनी सलोनी दी की ही क्लास में पढ़ती थीं और सलोनी दी की सबसे पक्की सहेली थीं। ख़ूब छनती थी सलोनी दी और मिनी दी में।

तितलियों से इत-उत मँडराते वो दिन जितने बेफ़िक्र और उन्मुक्त थे, उतने ही उलझन और दुविधाओं भरे भी। तेरह बरस के निखिल के मन में कई सवाल थे, लेकिन जवाब देने वाला कोई न था। पापा ट्रेन के पिछले डब्बे में लाल और हरा झण्डा उठाये यात्रा में ही रहते थे और हफ़्ते में एक बार आते थे घर...बस। मम्मी शहर के सुदूर कोने में किसी स्कूल में टीचर थीं जो सुबह-सुबह निकल जाने के बाद देर शाम ही वापस आती थीं। सलोनी दी का ही साथ रहता था बस दिन-भर या स्कूल से बचे समय में, और सलोनी दी से उसकी ज़रा भी पटरी नहीं बैठती। जब देखो तब उस पर हुक्म जो चलाती रहती थीं वो। छह महीने बाद दी की दसवीं बोर्ड की परीक्षा शुरू होने वाली थी, तो मम्मी का आदेश था कि इन छह महीनों में उसे दी की सब बात माननी है...क्योंकि दी को टॉप करना है पूरे बोर्ड में। बेचारा निखिल स्कूल से आने के बाद और छुट्टी वाले दिन, कभी दी की फ़रमाइश पर ठण्डा पानी भर के लाता गिलास में उनकी स्टडी-टेबल तक तो कभी उनकी सहेलियों रूबी दी या मिनी दी के घर से नोट्स या किताबें लाता। वैसे रूबी दी या मिनी दी के घर जाने में उसे मज़ा ही आता था। रूबी दी की छोटी बहन मोना उसकी क्लासमेट थी और उसे बहुत अच्छी लगती थी...वहीं मिनी दी के घर सुदीप भैया से मुलाक़ात हो ही जाती थी, जिनसे उसे हर बार खाने को टॉफ़ी या पढ़ने को नयी कॉमिक्स मिल जाती थी।

शहर की छोटी-सी वो रेलवे कॉलोनी मुख्यतः दूसरी और तीसरी श्रेणी के रेल-कर्मचारियों के सरकारी क्वार्टरों से अटी पड़ी थी, जिसमें अधिकांश परिवार बंगाली समुदाय के थे। निखिल के पापा और उन जैसे एक-दो और लोगों के परिवार बस हिन्दीभाषी थे। सलोनी दी तो यहाँ आने के बाद से ख़ूब फरटिदार बांग्ला बोलने लगी थीं,

लेकिन निखिल को अभी बस टूटी-फूटी समझ ही थी बांग्ला की। मुख्य सड़क से निकलती हुई ईंट बिछी हुई पतली-सी एक गली के दोनों ओर बने छोटे-छोटे दो कमरे और एक बैठकखाने वाले सरकारी क्वार्टर उस रेलवे-कॉलोनी को एक अलग ही खूबसूरती देते थे।

कॉलोनी की उस छोटी-सी दुनिया के अन्दर एक अलग ही अबूझ और रहस्यमयी दुनिया में खोया रहता था इन दिनों आठवीं क्लास में पढ़ने वाला निखिल, जिसमें उसके लिए नयी-नयी उलझनें थीं...नयी-नयी दुविधाएँ थीं। उलझनों और दुविधाओं का अनगिनत परिधियों वाला एक वृत्त कब उसे अचानक से यूँ घेरे रहने लगा, उसे नहीं पता। शुरुआत पेट में एक अजीब-सी उमड़न-घुमड़न से हुई थी और बाद में उस उमड़न-घुमड़न ने एक स्थायी निवास ही बना लिया उसके नन्हे से पेट के अन्दर। सुदीप भैया से ही माँग कर लाया था वो फैंटम का खज़ाने के लुटेरे वाला कॉमिक्स, जिसने उसकी नन्ही दुनिया को अचानक से उलट-पुलट कर रख दिया था। लुटेरों के द्वारा जंगल के खज़ाने पर हमला किये जाने के दौरान लुटेरों से मुकाबला करते हुए एक बौना बंडारा गोली लगने से घायल हो जाता है और उसे प्राथमिक उपचार देने के क्रम में फैंटम की पत्नी डायना अपनी शर्ट फाड़कर उसकी मरहम-पट्टी करती है। वहीं...बस वहीं, उसी क्षण से...कॉमिक्स के उस एक दृश्य ने निखिल की दुनिया को जाने क्या तो बना के रख दिया था। वो दृश्य...वो डायना की बगैर शर्ट वाली, सफ़ेद रंग का कुछ बहुत ही छोटा-सा पहने हुए वाली तस्वीर, कॉमिक्स के पन्नों से उभरकर निखिल के दिलोदिमाग़ में पैठ गयी थी। वो वाली कॉमिक्स और उस कॉमिक्स का वो खास पन्ना उसका सबसे कीमती सामान हो गया था...उसका अपना खज़ाना। सुदीप भैया को झूठमूठ का सॉरी बोल दिया था उसने कि कॉमिक्स तो गुम हो गयी। एक बौखलाहट-सी थी, जो अब हर वक़्त उस पर हावी रहती थी...एक कोहरे जैसा था कुछ जो छाया रहता था अब हमेशा निखिल के नन्हे मन पर। जब-तब समय मिलते ही वो अपने कॉमिक्स के ढेर में से बस उस कॉमिक्स को निकालता...झटपट एक झलक उस पन्ने-विशेष को पलटाकर देख लेता। स्कूल, होमवर्क, क्रिकेट...सब कुछ से जैसे एक विरक्ति-सी हो गयी थी। हर वक़्त ...हर दफ़ा...खासकर सोते समय बन्द आँखों के सामने डायना ही रहती थी उसी छोटे से सफ़ेद रंग वाले कुछ को पहने हुए। उनींदी आँखों से देखे जा रहे दिवास्वप्नों में अक्सर कॉमिक्स के उस दृश्य का हिस्सा होता...कभी वह खुद घायल बौना बंडारा बना हुआ होता जिस पर झुक डायना अपने उसी बहुत छोटे से सफ़ेद रंग वाले कुछ को पहने हुए उसका उपचार कर रही होती उससे एकदम सटकर...या कभी खुद ही फैंटम बना होता डायना को थामे हुए...उसे उसी छोटे से कुछ में निहारते हुए। इन समस्त दिवास्वप्नों के चरम पर वो अक्सर उस छोटे से सफ़ेद कुछ के बिना भी डायना को देख पाने के पागलपन और...और डायना को वहाँ छू लेने की अनियन्त्रित इच्छा के मध्य डोलता फिरता था। निखिल के इस डोलते फिरने के दौरान एक विशालकाय वृत्त जैसे उसे अपनी अनन्त परिधियों में कस लेता और उस वृत्त की कसावट में जहाँ एक असीम आनन्द की

अनुभूति थी, वहीं एक अपराध-भाव...एक डर-सा भी था कि जैसे वो कुछ ग़लत कर रहा हो।

यह वृत्त उससे कैसी-कैसी तो अजीब-अजीब हरकतें करवाने लगा था। अभी उस दिन ही तो कॉलोनी में आइस-पाइस खेलते हुए, वो और मोना साथ ही छुपे थे बनर्जी अंकल के क्वार्टर की बन रही बाउंड्री वॉल के निकट, बजरी और ईंटों के ढेर के पीछे...जब अचानक से उसका मन किया कि वो मोना की फ्रॉक के ऊपर वाले बटन से अन्दर झाँककर देख ले कि उसने भी कुछ पहना है क्या डायना जैसा ही वो सफ़ेद रंग वाला छोटा-सा कुछ। झाँकते हुए कुछ दिखा तो सही उसे और वो एकदम से पसीने से भीग आया था। उसका मन करने लगा था कि हाथ बढ़ाकर उस ऊपर वाले बटन को तोड़कर उधर छू ले मोना को। विवश-सा हाथ उठ भी गया था उसका उस जानिब जैसे कि उसके अपने ही हाथ पर उसका कोई नियन्त्रण न रहा हो...और मोना ने चिढ़कर पूछा था, "कि कोछिस तुमि? भालो भावे बोसो ना!" वो सकपकाकर कुछ भी कहाँ बोल पाया था...बस किसी तरह नन्हे से पेट में मची हुई उमड़न-घुमड़न के हाहाकार मचाते हुए शोर से डरकर भाग गया था वहाँ से। कोई विचित्र-सी एक परत आकर जम गयी थी उस नन्हे वजूद पर, जो समझ की छोटी पहुँच से बहुत ऊपर थी...वहीं दूसरी ओर एक बेताबी थी, जो नासमझी की उन परतों को बस उधेड़कर रख देना चाहती थी।

इन अजीब वारदातों का सिलसिला ऐसा नहीं था कि उसकी इस अनगिनत परिधियों वाले वृत्त से ही जुड़ा हुआ था बस...इस वृत्त के बाहर की भी चन्द बातें निखिल की उलझनों का विस्तार बनती जा रही थीं; जैसे कि यूँ सुदीप भैया तो उसे बहुत अच्छे लगते थे, लेकिन उनकी कुछ बातें उसे बिल्कुल समझ में नहीं आतीं। एक तो उनका जब देखो तब सलोनी दी का हालचाल पूछते रहना उसको ज़रा नहीं भाता था। दूसरे, कॉमिक्स वो उसे देते थे और नाम सलोनी दी का लिख देते थे। सलोनी दी को तो कॉमिक्स-वॉमिक्स में ज़रा भी रुचि नहीं थी। सलोनी दी से इन दिनों उसे इसलिए और भी चिढ़ मची रहती थी। जलन...ईर्ष्या जैसी कोई चीज़ जो भी होती थी, निखिल के बालमन को उसकी परिभाषा गढ़नी आ गयी थी।

उस शाम भी अटपटा-सा ही कुछ हुआ था। सुदीप भैया की छत पर भैया लोगों का ग्रुप इकट्ठा हुआ था, अगले दिन बगल वाले मुहल्ले की टीम के साथ होने वाले क्रिकेट-मैच की तरतीब बनाने के वास्ते। निखिल, प्रदीप और उसके ग्रुप के बच्चों को भी शामिल किया गया था इस बैठक में। कॉलोनी में होने वाली क्रिकेट-प्रैक्टिस के दौरान निखिल, प्रदीप और बच्चा-पार्टी का काम फ़्रीलडिंग में सहयोग देने का होता था, जिसकी भरपाई प्रैक्टिस समाप्त होने के बाद उन्हें एक-एक ओवर की बैटिंग कराकर की जाती थी। इस भरपाई में निखिल को हमेशा से तरजीह मिलती थी सुदीप भैया के अतिरिक्त स्नेह की बदौलत एक-दो बॉल ज़्यादा खिलाकर। बैठकी में चल रही बहस के दौरान अचानक से सुदीप भैया

कलाई-घड़ी को देखते हुए उठ खड़े हुए और ये कहकर नीचे चले गये कि- "आमी एखोनी आस छी", जिसके प्रत्युत्तर में बाक्री भैया लोगों का कुछ हँसते हुए कहा गया जुमला था- "हैं! हैं! कोरते तो पारो किछू ना तुमि...खाली देखते थाको...!!!" और फिर सारे भैया लोग उठकर छत की रेलिंग के पास इकट्ठा हो गये। निखिल भी आ गया था रेलिंग के पास माजरे को समझने के लिए। नीचे गली के किनारे सुदीप भैया को बनर्जी अंकल के क्वार्टर की बन रही बाउंड्री वॉल पर बैठा देख उसे बड़ी हैरानी हुई थी। तभी सामने से उसे सलोनी दी, मिनी दी और रूबी दी का ग्रुप आता दिखा था। भैया लोग अचानक ऊपर छत पर से सुदीप भैया का नाम लेकर ज़ोर-ज़ोर से पुकारने लगे थे और बदले में सुदीप भैया बार-बार उन लोगों को चुप रहने का इशारा कर रहे थे। यह सारा माजरा निखिल को ज़रा भी समझ में नहीं आ रहा था। थोड़ी देर बाद ही आ गये थे वापस छत पर सुदीप भैया। निखिल के भेजे में इक रत्ती का कुछ न घुसा। वो खुद को रोक नहीं पाते हुए पूछ ही बैठा एकदम से..."सुदीप भैया, आप क्यों जाकर वहाँ बैठ गये थे नीचे?"...और जवाब में सारे भैया लोगों के समवेत ज़ोरदार ठहाके से गूँज उठी थी वो छत। निखिल का मुँह रुआँसा-सा हो आया था और तभी सुदीप भैया ने उसे गोदी में उठाते हुए ज़ोर की पप्पी ली उसके गालों पर और बाक्री भैया लोगों को डाँट लगाते हुए कहा..."तोमरा ओके विरेक्तो केनो कोरो... क्यों तंग करते हो तुम सब मेरे निक्की बाबा को? एटा आमार जान...जान है मेरी ये, समझे! कोई इसे छेड़ेगा तो भालो होबे ना!"

"ओ बाबू मोशाय, आर तोमार जान....की भालो...बब्बा रे!" भैया लोगों में से किसी ने आँखें नचाते हुए कहा था जवाब में।

उस रात देर तक सोचता रहा था निखिल, सुदीप भैया और शाम वाली घटना पर। उसका बहुत मन कर रहा था कि सलोनी दी से पूछे इस बारे में। लेकिन हिम्मत नहीं पड़ रही थी। एक तो दी की बोर्ड की परीक्षाएँ करीब आ गयी थीं और वो हर समय मगन रहती थीं किताब-कॉपी के साथ, दूसरा उसे इन दिनों दी अच्छी नहीं लगती थीं। पहले दी उसे भगाया नहीं करती थीं, जब भी मिनी दी और रूबी दी आती थीं गप्पें लड़ाने या साथ पढ़ाई करने। आजकल भगा देती थीं उसे यह कहकर कि जाओ अपने दोस्तों के साथ खेलो, जबकि निखिल का बड़ा मन करता था मिनी दी और रूबी दी के साथ सटकर बैठने का। उसे सलोनी दी की दोनों सहेलियाँ बहुत अच्छी लगती थीं। सलोनी दी के हाथ जहाँ उसे रूखे-रूखे और कड़े से लगते थे...कई बार तो थप्पड़ भी खा चुका था वो उन हाथों से... वहीं मिनी दी और रूबी दी के हाथ इतने मुलायम और गुदगुदे से थे कि उसका मन करता बस उन्हें छूता ही रहे। विशेषकर उस अनगिनत परिधियों वाले रहस्यमय वृत्त की बढ़ती हुई कसावट में लिपटा हुआ निखिल बस मिनी दी और रूबी दी से चिपककर बैठे रहना चाहता था, जब भी वो घर आती थीं उसके।

उसी अटपटी-सी शाम के चन्द दिनों बाद ही उस कसमसाते वृत्त की परिधियों का एक अलग ही विस्तार हुआ था, जब वो प्रदीप के घर गया था चिलचिलाती दोपहरी में सलोनी दी का कोई नोट्स लेकर मिनी दी को देने। बैठकखाने में मिनी दी दिखीं उसे...सोफ़े पर बेसुध सोयी हुई, चित, तेज़ आवाज़ के साथ घूमते टेबलफ़ैन की हवा में। अकबकाये से निखिल की आँखें जैसे किसी सम्मोहन के वशीभूत टकटकी लगाये हुई थीं, पलकें तक झपकना भूल गया था वो। मिनी दी की धीमे-धीमे चढ़ती-उतरती साँसों का वो साक्षात दृश्य जाने क्यों उसे डायना की उस कॉमिक्स वाली तस्वीर की याद दिला रहा था...वो बगैर शर्ट वाली डायना...बस छोटा-सा सफ़ेद रंग का कुछ पहने हुए। उसके मन का अँधेरे में डूबा हुआ एक भयभीत कोना उसे विवश कर रहा था कि आगे बढ़कर वो झाँक ले मिनी दी की चढ़ती-उतरती साँसों के नीचे...कि क्या उन्होंने भी डायना की तरह वो सफ़ेद-सा कुछ पहना हुआ है अपनी कुर्ती के अन्दर। एक अजीब-सी सनसनी उठी थी उसके नन्हे वजूद में, जो उस भीषण गर्मी में भी उसे सिहरा रही थी। कैसे तो अकड़-सा गया था उसके शरीर का पोर-पोर। मन्त्रचालित-सा धीमे-धीमे बढ़ा वो सोफ़े की ओर...कुछ भी तो नियन्त्रण में नहीं था उसके। काँपते हुए उसके हाथ गहरी नींद में सोयी हुई मिनी दी की चढ़ती-उतरती कुर्ती को गले के पास से उठा रहे थे और दिखा था उसे वही डायना जैसा ही सफ़ेद-सा कुछ भीतर...वो बस भीतर...बहुत भीतर पूरा का पूरा खुद ही घुस जाना चाह रहा था उस वक़्त। बायें हाथ ने कुर्ती का खुला भाग उठाया था और दायें हाथ आहिस्ते से उस सफ़ेद से कुछ के भीतर प्रवेश कर स्पर्श की अब तक की लापता अनुभूति से परिचय बढ़ा रहा था। निखिल की नन्ही उँगलियाँ जैसे नितान्त नये-नौसिखिए पर्वतारोही की तरह सामने उत्तुंग पहाड़ की चोटी तक एक ही साँस में दौड़कर पहुँच जाना चाह रही थीं। बदहवास-सा निखिल अपनी बेसुधी में और-और छोटा होकर अपने दायें हाथ के साथ खुद भी प्रवेश कर ही जाता गले से होते हुए भीतर...बहुत भीतर कि मिनी दी ने करवट बदली। बदहवास बेसुध निखिल को होश आया एकदम से...और भाग आया निखिल वहाँ से, नोट्स वहीं टेबलफ़ैन के पास रखकर।

कसमसाते हुए वृत्त की परिधियों से अब डायना की गुमशुदगी का ऐलान हो चुका था और पर्वतारोही उँगलियों के नये स्पर्श ने उन परिधियों में अपनी जगह बना ली थी। दिन बस उड़ते जा रहे थे। सर्दी की अलसायी-सी दोपहर थी वो, जब सलोनी दी अपनी दोनों सहेलियों के साथ किताबों में उलझी हुई थीं और निखिल स्कूल से वापस आया था। दरवाज़े के बाहर उसने सुनी थी फुसफुसाकर कही गयी मिनी दी की बात...‘सुदीप भैया बहुत लाइक करते हैं तुमको, सलोनी।’ जिस पर रूबी दी खिलखिलाकर हँस पड़ी थीं और सलोनी दी ने अपने लाल हो आये चेहरे के साथ-‘चुप रहोगी तुम दोनों’ की फुँफकार भरी थी, निखिल को अन्दर आते हुए देखकर।

एक पर एक करके उलझन की परतें मोटी होती जा रही थीं निखिल के नन्हे से मन पर। कितनी ही बातें थीं...क्यों सलोनी दी एकदम लाल-सी हो गयी थीं उस दिन मिनी दी की बात पर? सुदीप भैया तो उसे भी लाइक करते हैं, लेकिन मिनी दी ने उससे तो कभी नहीं कहा ऐसे फुसफुसाकर? वो क्या था, सर्द-सर्द सा अहसास कि मिनी दी की वो नींद में चढ़ती-उतरती साँसों वाला दृश्य और वो स्पर्श अब उसे डायना की तस्वीर देखने की ज़रूरत नहीं महसूस होने देता? क्या होता था रह-रहकर सुदीप भैया को कि वो उसे दुलार करते हुए अपने से चिपटा लेते और बुदबुदाते, "जान हो मेरी तुम"? या फिर ऐसे ही वो दिन-भर में क्यों दसियों बार सलोनी दी का हालचाल पूछते रहते थे? ऐसे जाने कितने ही सवाल थे जिनका कोई जवाब तो उसे मिलता नहीं...हाँ, उसे असहज, बहुत असहज ज़रूर कर देते थे।

उन्हीं पहेलियों से उलझे-फुलझे दिनों में गाँव से दादा जी के देहान्त की खबर आयी थी और अगले ही दिन निकल गये थे वे लोग गाँव के लिए। दादा जी के दाह-संस्कार के बाद देखते-देखते कितने दिन गुज़र गये और महीनों बाद गाँव में डेरा डाले जब उसका एडमिशन वहीं के स्कूल में करा दिया था मम्मी ने, तब निखिल को पता चला कि वे लोग अब वापस नहीं जा रहे। दादी के अकेले रह जाने और गाँव में खेतीबारी की देखभाल के लिए पापा ने वहाँ से तबादला करवा लिया था। सलोनी दी को एक साल ड्रॉप करना पड़ा बोर्ड के लिए और वो बड़ी उदास-उदास सी रहने लगी थीं इन दिनों, लेकिन नये माहौल और नये स्कूल में ढेर सारे दोस्त बन गये थे निखिल के। शहर से आया हुआ निखिल अपने गाँव की हमउम्र बिसात में किसी हीरो से कम न था और अब तो भूल भी गया था वो ईंट बिछी वाली गली के इर्द-गिर्द बसी उस रेलवे कॉलोनी में गुज़रे दिनों को।

बीतते वक़्त की ऊपर जाती सीढ़ी पर चढ़ता हुआ किशोर हो चुका निखिल, उम्र की कैंची से पुराने गोल-गोल अनगिनत परिधियों वाले वृत्त की कई परतें काट चुका था अब तक, और तन-मन से जुटा हुआ था आने वाली मैट्रिक परीक्षा की तैयारी में। उधर सलोनी दी का ग्रेजुएशन सम्पन्न होने वाला था और उनकी शादी के लिए लड़के देखे जाने लगे थे। नयी उमंगों और नये उल्लास से भरे उन्हीं दिनों की चमकती रोशनी में मिली थी रजनी उसको, अपनी साँवली-सी शीतल छाया लिए। अभी ही आये थे रजनी के परिवार वाले बगल के गाँव से, जब उफनती नदी अपने किनारे तोड़ती हरहराती हुई आ गयी थी एक रात एकदम से उनके गाँव में और उस गाँव के कई परिवारों समेत रजनी के परिवार को भी आश्रय लेना पड़ा था निखिल के गाँव में...रजनी, रजनी के मम्मी-पापा, उसका छोटा भाई अंकित। कैसा तो एक उत्सव का-सा माहौल हो गया था अचानक से गाँव में, जब नये परिवारों को बसाने और उनकी मदद के लिए समस्त गाँव वाले एकजुट होकर उमड़ पड़े थे। बारी-बारी से गाँव के लोगों ने उन विस्थापित परिवारों को खाना खिलाने का ज़िम्मा ओढ़ लिया था। कोई जलती-सी दोपहर थी वो, जब रजनी के परिवार वालों को खाना

खिलाने की बारी निखिल की मम्मी की थी। मम्मी और सलोनी दी के साथ वो भी गया था रोटियों की परात उठाये। वहीं देखा था उसने पहली बार रजनी को और कैसा-तो हो गया था वो...जैसे अचानक से गाँव के किनारे वाला आम का बगीचा अपनी पूरी-की-पूरी छाँव लिए वहाँ से उठकर चलता हुआ इधर आ गया हो उसके ऊपर।

गरम लू से छटपटाता मौसम अब उसे बार-बार ले जाता रजनी की ओर शीतल छाँव के लिए और उसी छटपटाते मौसम की कोई पिघलती-सी शाम थी, जब अपने दोस्तों के साथ क्रिकेट खेलते हुए निखिल ने नन्हे अंकित को देखा था चुपचाप मैदान के एक कोने में बैठे उन्हें खेलते देखते हुए। उसने बुलाया था अंकित को पास और पूछा था उससे “बैटिंग करोगे?” ...और किलकते से अंकित की नन्ही मुण्डी को उल्लसित हामी में हिलते देख शाम की तरह निखिल भी तो पिघल ही गया था। तमाम दोस्तों की नागवारी के बावजूद अंकित को एक ओवर फेंकने के बाद, जब निखिल का मन किया कि उसको और बैटिंग करवाये...उसी क्षण, ठीक उसी क्षण, भक्क से उसे सुदीप भैया याद आये थे।

दिव्य ज्ञान जैसा कुछ, जो भी होता है, जो गौतम बुद्ध को बरगद की छाँव तले प्राप्त हुआ था...पन्द्रह साल के निखिल को उस रोज़ बॉलिंग करते हुए हुआ।

देर शाम गये जब घर लौटा तो जश्न का-सा माहौल था आँगन में। मम्मी ने देखकर गले से लगा लिया उसे। सलोनी दी का रिश्ता पक्का हो गया था। दादी सबको लड्डू खिला रही थीं।

और सलोनी दी को छेड़ता हुआ निखिल उनसे सुदीप भैया के बारे में पूछने की हिम्मत जुटा रहा था।

हंटिंग ज़ोन

-अणुशक्ति

तड़ाक...तमाचा मिनी के गाल पर पड़ा था। पाँचों उँगलियों के निशान छप गये थे। आईने के सामने खड़ी मिनी की आँखों से आँसू टप-टप टपक रहे थे। सुबह से यह उसकी पहली हरकत थी। बड़ी मेहनत लगी थी उठकर आईने तक जाने में। कमरे में सब यूँ ही बिखरा पड़ा था। कल रात पहनी हुई नीली ड्रेस ज़मीन पर गिरी हुई थी। सैंडल कोने में फिंका हुआ था। वह औंधे मुँह बेड पर पड़ी थी। तकिये में मुँह छुपाये। कामवाली कॉलबेल बजा-बजाकर वापस चली गयी थी। दो-चार लोग और आये थे लेकिन दरवाज़ा एक बार भी नहीं खुला। मोबाइल फ़ोन का डेटा ऑफ़ था। कोई व्हाट्सएप नहीं। कोई मैसेंजर नहीं। वह अकेली थी...अकेली रहना चाह रही थी। दुनिया से दूर। खुद में।

शाम के पाँच बजने वाले थे। उसके शरीर में थोड़ी हरकत हुई। वह उठी और आईने तक गयी। अपना चेहरा गौर से देखा। आँखें सूज गयी थीं। बाल बिखरे हुए थे। कल शाम में लगाया गया आँखों का काजल, आज गाल पर फैला हुआ था। नहीं! ऐसी तो नहीं थी वह कल शाम...खुद को देखते-देखते वह कुछ सोचने लगी।

हाँ, पहली नज़र में वह ख़ूबसूरत लगा था। बस...अमित और शिखा की पार्टी में आया था। उन दोनों ने मिलवाया तो हलके से हैलो कह दिया था। आई कैन्डी...मन-ही-मन उसके बारे में सोचते हुए मुस्करायी थी। बहुत ख़ूबसूरत था वह। तक़रीबन छह फीट लम्बा, एकदम गुलाबी होंठ। ख़ूबसूरत आँखें। रंगत जैसे किसी ने केसर मल दिया हो। व्यक्तित्व कुछ ऐसा कि उसके सामने शायद रणबीर कपूर की आभा भी खो जाये।

सबसे बात करते-करते थोड़ा उसके बारे में भी पता चला था। सिंगल था। यह सबसे पहली बात थी जो उसके बारे में पता चली थी। उसने नज़र घुमाकर इधर-उधर देखा था। बातों में मशगूल औरतों की कनखियाँ रह-रहकर उसकी ओर उठ रही थीं। किसी फ़ाइनेंस कम्पनी में अच्छे पद पर था। किसी बड़े बिज़नेस स्कूल से डिग्री लेकर हासिल की गयी नौकरी और आई प्लीज़िंग चेहरे के सम्मिश्रण ने उसे उस गैदरिंग का मोस्ट एलिजिबल बैचलर बना रखा था। एकाध बार उसकी नज़र भी गयी थी उस पर और एक बार देखते हुए चोरी भी पकड़ी गयी थी, जब उसे खुद की ओर देखता पाया था।

अच्छा लगा था उसका यूँ खुद की ओर देखना। आह! जिस पर सबकी निगाह है उसकी नज़र मुझ पर। कुछ पलों के गर्विले अहसास से भर गयी थी मिनी। वह उसकी ओर ही आ रहा था कि शिखा उसे खींचकर उसकी ओर ले आयी। इससे मिलो, 'ये है मिनी, मेरी दोस्त। कॉलेज में लेक्चरर है।' और 'ये....है अमित का दोस्त, लड़कियों का फ़ेवरेट है।' शिखा ने आखिरी लाइन जिस तरह से खत्म की थी उस पर तीनों हँस पड़े थे। तब तक कोई उसे डिनर के लिए बुलाने चला आया था और वह चली गयी थी।

कुल मिलाकर उस दिन ज़्यादा बात नहीं हुई थी। फिर अचानक से दो दिन बाद मैसेंजर चमका। उसका 'हैलो' आया था। शुकुराना भी कि मिलकर अच्छा लगा।

उसने भी एक छोटा-सा जवाब भेज दिया था। फिर उधर से कोई मैसेज आया। और इधर से जवाब गया। थोड़ी देर में यह सिलसिला डेन्स होता गया। पूरी रात शायद मैसेज पढ़ने और भेजने में बीती थी। एक मुस्कान होंठों से चिपक गयी थी। चलते-फिरते, आते-जाते, मेल भेजते-पढ़ते, आँखें फ़ोन से हटने का नाम ही नहीं ले रही थीं। उम्र कई साल पीछे छूट गयी थी। इश्क़ हो गया था। उस प्यारे से शायराना मिज़ाज वाले इन्सान से। परफ़ेक्ट! ऐसे ही किसी के बारे में तो सोचती आयी है वो हमेशा। उफ़! सब तो था उसमें। जैसे हॉलीवुड की सबसे प्यारी प्रेम कहानियों का नायक खड़ा हो। उतना ही तमीज़दार। बच्चों-सा स्वीट। ग़ालिब और फ़ैज़ की बातें करने वाला। और क्या चाहिए था? दिल बल्लियों धड़क रहा था। पाँच दिन...पूरे पाँच दिन लगातार बात हुई। ऐसा लगा जैसे सब जान लिया हो। सब समझ लिया हो। फिर मिलने की बात हुई।

दिमाग़ फ़ना हो चुका था। दिल दीवानगी की हद पर था। उसने कहा कि मिलते हैं। वह एक बार हिचकिचायी, पर फिर सोचा मिलने में क्या बुराई है। दोस्त ही तो है। उसे थोड़े ही पता है कि मेरे दिल में क्या है। उसे पता चलने ही कहाँ दिया था। उसने कहा तब भी हँस कर चुप रह गयी थी। अच्छा लगता जब भी वह रोमांटिक बातें करता था। फिर उसकी बातों को टाल देना और भी अच्छा। ये उम्र इश्क़-विशक की नहीं है। बस दोस्त हैं दोनों। मिलना भी होगा तो बस दोस्त की तरह।

फिर सोचती कि दोस्त की तरह कैसे मिलते हैं लोग। उसके नाम से दिल धड़क उठता था। एक खयाल अक्सर ही तंग कर जाता कि काश किसी जगह दोनों साथ चलें। एक तस्वीर हो दोनों की साथ, दीवार पर टँगे फ़्रेम में। कितना दूर तक सोच लेती है वह। और चिढ़कर फिर खुद को ही एक झटका देती। ताक़ीद करती कि यह बस दोस्ती है।

उससे मिलने जाना था। दो शामें यह तय करने में बीती थीं कि क्या पहनेगी और क्या नहीं। नीली ड्रेस पहनते हुए वह एक बार खुद पर मुग्ध हो गयी थी। ऐसी लड़की को कौन इग्नोर कर सकता है। दोस्ती की सीमारेखा खींच देने के बाद भी यह कैसी चाहत थी मर्जेंटा कलर की लिपस्टिक उसे बचपन से पसन्द थी। इस रंग में कुछ खास बात है। न यह सुर्ख लाल की तरह चिल्लाता है, न ही फीके गुलाबी की तरह छिप जाता है। लिपस्टिक लगाने

के बाद कैब भी तो बुक करनी थी। काश कि कैब का ड्राइवर आने से मना कर दे! काश की टायर पंकचर हो जाये।

उसने उससे बता दिया था कि वह पन्द्रह मिनट से ज़्यादा नहीं रुकेगी। कॉफ़ी पियेगी और वापस चली आयेगी। वह पहुँच चुका था। हल्की नीली टी-शर्ट और डेनिम पैट में उतना ही दिलकश लग रहा था जितना हर रोज़ लगता था।

कैब से उतरते ही उसने उसे कमर से थाम लिया था। थोड़ा अजीब भी लगा था यूँ थाम लेना। दिल उस वक़्त किलका था। इस अजीब लगने में भी एक ग़ज़ब-सा रूमान था। उसे कॉलेज में अपने स्टूडेंट्स की याद आ गयी। कितनी बिन्दास हो गयी है आज की जेनरेशन। एक उसका वक़्त था, लुका-छिपी खेलने में ही टाइम चला जाता था। वैसे वह भी कम बिन्दास नहीं थी। कॉलेज के दिनों में कॉफ़ी हाउस की सीढ़ियों पर जब उसने अपने बॉयफ़्रेंड को किस किया था तो बेचारा कितना डर गया था। अब भी उसकी खिंचाई करती है उस बात पर।

कैफ़े में बैठते हुए उसने उसके लिए चेयर खींची थी- 'आह जेंटलमैन!'

बैठने के साथ ही पूछा था उसने- "एक मसाला चाय। और आप तो ग्रीन टी ही लेती होंगी। है न!"

"हाँ, पर आपने कैसे जाना।"

"आपका फिगर कह रहा है।"

"हा हा..."

"वैसे, उस दिन बात करते हुए पता चल गया था कि आपको ग्रीन टी काफ़ी पसन्द है।"

"पर इतनी बातें तो हमने की ही नहीं।"

"वेल! सच कहूँ?"

"हाँ! बिल्कुल!"

"आपको स्टॉक किया मैंने सोशल मीडिया पर। अर्ल ग्रे के साथ आपकी दो-तीन तस्वीरें देखीं तो समझ गया कि आप ग्रीन टी की मुरीद हैं।"

"अच्छा!"

और कोई होता तो वह सोशल मीडिया स्टॉकिंग के सौ क्राइम इम्प्लिकेशन सुना डालती, पर उसकी बातें न जाने क्यों अच्छी लग रही थीं। कॉफ़ी का ऑर्डर देते-देते उसने पूछा, "कुछ खायेंगी?"

"नहीं..."

"ठीक है। घर चलकर कुछ खाया जायेगा। मेड से बहुत कुछ कहा है बनाने को। पता नहीं आपको पसन्द आयेगा भी या नहीं?"

"घर, घर क्यों? मुझे वापस जाना है। मैं आज नहीं जा सकती।"

“ओहो...कितना घबराती हैं आप। शरीफ़ आदमी हूँ मैं। बाहर खाना अवॉयड करता हूँ और डिनर आपके साथ करना चाहता था। बस...अगर आप जाना चाहती हैं तो मैं आपको रोक्कूंगा नहीं।”

‘कमीना...’ उसने मन-ही-मन कहा, पर मना नहीं कर पायी।

चाय और ग्रीन टी फ़िनिश होते ही दोनों कॉफ़ी हाउस से बाहर निकले और उनकी गाड़ी हाईवे की भीड़ में गुम हो गयी। इसी हाईवे के पास की इमारतों में से किसी एक में उसका घर था।

उसका हाथ पकड़कर वह कमरे में दाखिल हुआ था जबकि वह कहीं और खोयी थी। कितने सारे खयालों में। कल कॉलेज में आनन्द से मुलाकात हो पायेगी या नहीं। ये आनन्द इतना चुप-चुप सा क्यों रहता है? वो साइकोलॉजी वाली बनर्जी आनन्द को मैसेज भेजती है क्या? यूँ तो मेरी दोस्त बनती है पर साली पक्का आनन्द के पीछे पड़ी है। कोई किसी की इतनी खोज-खबर यूँ ही नहीं रखता। ओह आनन्द! कभी मुझे भी तो देख लिया करो। बीच-बीच में एक खयाल इस साथ वाले सम्भावित प्रेमी के हाथ से अपना हाथ छुड़ाने का भी आ रहा था। पर उसके मन में तो कुछ और ही चल रहा था शायद। उसने अब उसकी उँगलियों से खेलना शुरू कर दिया था। उँगलियों और कानों से होते हुए उसके हाथ वहाँ तक पहुँच गये थे, जहाँ वह अपना नियन्त्रण खुद खो देती है। उसकी देह के शिखरों और गर्तों को टटोलती उसकी उँगलियों ने जाने कब उसके स्तनों को ब्रा की क़ैद से आज़ाद कर दिया। हालाँकि अब भी गाउन का झीना पर्दा दो बदनों के बीच मौजूद था। वह प्रेम का चतुर खिलाड़ी था। वह एकदम ठीक-ठीक जानता था कि सहमति की कुंजी स्त्री-देह के किन हिस्सों में बसती है। उसकी उँगलियों ने अपनी चतुराई से इस खेल की रानी और मोहरा दोनों ही उसे बना दिया था। वह भूल गयी थी कि इनकार जताने की जगह वह उसकी शर्ट खींचकर उतार चुकी थी और उत्तेजना के इन परम क्षणों में कुछ इस क्रदर हावी हो गयी थी जैसे यह उसका अधिकार क्षेत्र हो और वह अपने उस गुलाम की मलिका हो। क्रीड़ा के उन पलों में उसने उसकी आँखों में देखा था, कितनी मादक मुस्कान थी उन आँखों में कि शरीर अपनी पराकाष्ठा बार-बार चाह रहा था। पूरे चालीस मिनट तक दोनों संग रहे थे, कभी वह उसकी आँखों में झाँक रहा होता तो कभी उसकी आँखें मादकता पी रही होतीं। इन चालीस मिनटों में बहुत कुछ बदल चुका था। उसका ध्यान आनन्द पर से हट चुका था। वह अब यहीं थी, पूरी तौर पर। वह उसके कानों में मेहदी हसन साहब की गायी हुई कोई ग़ज़ल गुनगुना रहा था। बाई दो बार कमरा खटखटाकर बता चुकी थी कि खाना तैयार हो गया है।

दोनों उठे। डिनर टेबल पर बहुत कुछ था, पर उसे कुछ भी रुचिकर नहीं लग रहा था। उसका जाने का इरादा फीका पड़ गया था। फिर भी उसने एक फ़ॉर्मैलिटी की-“मैं कैब बुक कर रही हूँ।”

“रहने दो। मैं छोड़ आऊँगा।”

“तुम”

इस नये सम्बोधन पर उसके चेहरे पर एक मुस्कान खेल गयी।
हाईवे की झमकती बत्तियों में उसकी गाड़ी भागती जा रही थी।

“इतनी चुप क्यों हो?”

“कुछ तो बोलो...”

“क्या बोलूँ?”

“तुम ही कुछ सुनाओ।”

“क्या?”

“वही गज़ल जो तब गुनगुना रहे थे।”

वह ठठाकर हँसा था-

“ओहो...मैडम को सब याद है। कहीं प्यार तो नहीं हो गया मैडम आपको।”

“उसका दिल धक् से रह गया था।”

“क्यों भला?”

“अरे, मैं हूँ ही इतना अच्छा कि लड़कियों को मेरे साथ समय गुज़ारते ही इश्क़ हो जाता है।”

यह पहला झटका था।

“होता होगा बाक़ियों को। मुझे प्यार-व्यार नहीं होता।”

“उफ़! काश किसी आप जैसी को मुझसे प्यार हो जाता।”

“फिर क्या होता?”

“देखता कि आप जैसी लड़कियाँ दिल टूटने पर क्या करती हैं।”

“कमीना...” इस बार दिल ने ज़ोर से कहा था। शब्द जुबाँ तक आ गये थे।

गाड़ी घर तक पहुँच चुकी थी। उसने औपचारिक ‘बाय’ भी नहीं कहा। बस इतना बोली कि माफ़ कीजियेगा ऊपर नहीं बुला पाऊँगी, आसपास सब जानते हैं मुझे। उसने शायद सर हिलाकर कुछ कहा था। क्या? सुनने से पहले वह दूसरे तल की सीढ़ियों तक पहुँच चुकी थी।

शिकारन बुलाते थे सब उसे। पता नहीं क्यों किसी का दिल तोड़ना नहीं चाहती थी। हाँ, बस अपना सँभाले रखती थी।

आज इस कमबख्त ने किस ख़ूबसूरती से उसे अपना शिकार बनाया था। न-न प्यार-व्यार नहीं हुआ था। बस इतनी गधी कैसे हो सकती थी कि किसी अपने जैसे की फ़ितरत नहीं जान पायी थी। प्यार करे न करे मेरी बला से। उसने सीधे-सीधे दिल तोड़ने की बात की थी।

हीरो, तुमने ग़लत जगह चोट पहुँचायी यार। दिल का टूटना तो फिर भी ठीक था। तुमने गुरुर को चोट पहुँचायी थी। लो मिनी सज़ा भुगतो...खुद को मारे गये तमाचे की आवाज़ अब भी उसके कानों में गूँज रही थी।

छत, सेक्स और साबुन

-नरेन्द्र सैनी

(ये कहानी 1985-90 के दौर की है। क्रिस्सा रेलवे कॉलोनी का है। मोंटू की उम्र यही 13-14 साल रही होगी।)

शाम के सात बज रहे थे। लाइट चली गयी। रेलवे कॉलोनी के सारे बच्चे फिर गली में जुट गये।

शुरू हो गया छिपन-छिपाई का खेल। सब बच्चे छिप गये।

मोंटू का इरादा आज छत पर छिपने का था, ताकि कोई पकड़ ही न सके।

गेम शुरू होते ही मोंटू ने छत की ओर दौड़ लगा दी, उसके साथ निशा भी थी।

निशा ने आज मोंटू के साथ गेम खेलने का प्लान बनाया था।

मोंटू और निशा अँधेरी छत पर पानी की टंकी के पीछे छिप गये।

निशा मोंटू (13 साल) से 2 साल बड़ी थी, और उसका साँवला रंग मोंटू को बहुत अच्छा लगता था।

दोनों तेज़ रफ़्तार से छत की सीढ़ियाँ चढ़े थे, और दोनों की साँस फूल गयी थी।

पानी की टंकी के पीछे जगह ज़्यादा नहीं थी, इसलिए उस तंग-सी जगह में दोनों फँस गये।

दोनों के शरीर से टप-टप पसीना बह रहा था और निशा के बाल मोंटू के चेहरे पर पड़ रहे थे।

मोंटू ने थोड़ा कम्फ़र्टेबल होने के लिए खुद को सीधा किया, और अब उसका मुँह निशा की गर्दन से टच होने लगा।

मोंटू और निशा दोनों ही हाँफ रहे थे, और अब मोंटू की तेज़ साँसें निशा की गर्दन पर पड़ रही थीं।

मोंटू की गर्म साँसों से निशा के शरीर में झुरझुरी दौड़ रही थी।

निशा ने धीरे-धीरे अपनी पोज़ीशन बदली और अब उसका और मोंटू का मुँह एकदम आमने-सामने थे।

निशा ने धीमे से मोंटू का हाथ पकड़ा, तो उसके शरीर में सिरहन दौड़ गयी। फिर निशा धीमे से मोंटू के पास आयी और उसके गाल को चूम लिया।

मोंटू मोमबत्ती की तरह पिघलता जा रहा था और उसके शरीर में कुछ ऐसा अहसास हो रहा था, जो उसने पहले कभी महसूस नहीं किया था।

निशा ने उसका हाथ पकड़कर अपनी छाती पर रख दिया। मोंटू ने एकदम से हाथ झटक लिया और हकलाते हुए बोला, "यह क्या..."

निशा ने उसके मुँह पर हाथ रख दिया और फुसफुसाते हुए बोली, "कोई सुन लेगा, हम पकड़े जायेंगे, तुम्हें तो जीतना है न।"

निशा ने एक बार फिर मोंटू के हाथ को अपनी छाती पर रख दिया और उसे दबाने लगी।

मोंटू की समझ से यह सब बाहर था। लेकिन उसके अन्दर एक अजीब-सी उत्तेजना आ रही थी।

अब मोंटू निशा के इशारे पर उसकी छोटी-छोटी छातियों को तेज़ी से दबा रहा था, निशा के शरीर में भी ऐंठन आ रही थी और उसके मुँह से हलकी आवाज़ें निकल रही थीं। सब मोंटू की समझ से परे था।

निशा ने अपने गर्म होंठ जैसे ही मोंटू के होंठों पर रखे तो उसके शरीर में बहुत तेज़ी से सिरहन होने लगी। लेकिन वह गेम हारना नहीं चाहता था। निशा का जो मन आ रहा था, वह करती जा रही थी।

मोंटू के होंठों से थोड़ी देर खेलने के बाद, निशा ने वहीं टंकी के पीछे संकरी जगह में मोंटू को कुछ पीछे धकेला और वहीं अधलेटी अवस्था में आ गयी। उसने धीमे से अपनी फ्रॉक उठायी और मोंटू को अपने ऊपर खींच लिया।

मोंटू वहाँ से भाग जाना चाहता था लेकिन उसका दिल बैठ-सा रहा था और उसके अन्दर कुछ ऐसी फ़ीलिंग्स आ रही थीं, जो उसे और आगे ले जाना चाहती थीं।

निशा ने धीमे से मोंटू की निक्कर के बटन खोले और उस जगह को छुआ जो आज तक मोंटू को सिर्फ़ एक बच्चा होने का अहसास देती थी। मोंटू के शरीर में हज़ारों वोल्ट का करंट दौड़ रहा था।

मोंटू का वर्जित प्रदेश अब, वर्जित नहीं रहा था। किशोरावस्था में क्रदम रख रहे मोंटू को अभी जवानी की दहलीज़ में क्रदम रखना था।

निशा जानती थी कि मोंटू उस अवस्था में क्रदम रख चुका है, जो उसकी ज़रूरत को शान्त कर सकता है।

निशा ने अब मोंटू को अपने ऊपर खींच लिया लेकिन मोंटू चाहकर भी अपने आप से वह सब कुछ नहीं कर पा रहा था जो निशा चाह रही थी।

निशा ने एक बार फिर कमान सँभालते हुए बाज़ी अपने हाथ में ली और थोड़ी-सी कोशिश के बाद मोंटू उस अनजान दुनिया में क़दम रख चुका था, जो उसके लिए अभी तक अनजान थी।

मोंटू को हलका दर्द हुआ लेकिन फिर निशा के मूव कराने के बाद उसका बदन खुद से ही हिल रहा था। मोंटू को यह सब अच्छा लग रहा था।

न जानते हुए कि कैसा अच्छा, लेकिन अच्छा लग रहा था।

अचानक मोंटू की साँसें तेज़ होने लगीं, उसे लगा जैसे उसके शरीर से आग निकलने वाली है। उसके शरीर में कम्पन होते देख, निशा ने उसे अलग झटक दिया।

मोंटू खुद पर क़ाबू नहीं रख पा रहा था, और उसकी समझ से बाहर था कि यह क्या हो रहा है। उसे लगा जैसे रात को उससे बिस्तर गीला हो जाया करता था, ऐसा ही कुछ आज भी हुआ है, लेकिन क्या...

वहीं निशा ने अपनी अंडरवियर ऊपर की और फ़्रॉक को झाड़ते हुए चली गयी। उसने जाते हुए इतना ही कहा, “किसी को बोला तो तुम्हारी ही शामत आयेगी...वैसे भी तुम मुझे छिप-छिपकर नहाते देखते थे...”

अँधेरे में टंकी की संकरी जगह में पड़े मोंटू को वो अहसास तो अच्छा लगा, लेकिन उस अहसास के बाद वह अच्छी नहीं लगी...

जुलाई की दोपहर थी। गर्मी की छुट्टियाँ चल रही थीं।

रेलवे कॉलोनी के अधिकतर घरों में कूलर और पंखे के नीचे लोग ऊँघ रहे थे।

मोंटू को नींद नहीं आ रही थी। उसे तो इन्तज़ार था, साढ़े चार बजने और क्रिकेट मैच शुरू होने का।

मम्मी को सोता देख चुपचाप दबे पाँव वह घर से बाहर आकर पेड़ के नीचे लेट गया।

अभी सिर्फ़ तीन बजे थे। मोहल्ले में पूरी तरह से सन्नाटा था।

तभी उसने देखा रश्मि दीदी घर से बाहर निकल रही हैं।

रश्मि ने मोंटू को बाहर देखा तो इशारे से बुलाया। मोंटू रश्मि के पास गया और पूछा, “हाँ”।

रश्मि की मम्मी किसी रिश्तेदार के घर गयी थीं और पापा ड्यूटी।

उसने मोंटू को घर के अन्दर बुलाया और पास ही कुर्सी पर पड़ी किताब दिखायी।

किताब पर ‘अंगड़ाई’ लिखा था, और एडल्ट फ़ोटो छपी थी।

मोंटू ने ऐसी कई किताबें निशा वाले क्रिस्से के बाद अपने दोस्तों के साथ देखी थीं।

रश्मि उसे पुराना भोला मोंटू समझ रही थी। लेकिन दुनिया बदल चुकी थी।

रश्मि ने किताब खोली और मोंटू को एक शब्द दिखाया ‘सेक्स।’

13 साल के मोंटू ने भोला बनते हुए पूछा, “दीदी यह क्या होता है।”

रश्मि मुस्करा दी और हल्के से उसकी निक्कर के ऊपर हाथ रख दिया।
मोंटू ने घबराते हुए रश्मि का हाथ हटाने की कोशिश की।
लेकिन रश्मि ने मोंटू की उस दुखती रग पर हाथ रख दिया था, जिसे निशा ने छेड़ा था।
मोंटू चाहकर भी हाथ नहीं हटा पा रहा था और रश्मि का दबाव बढ़ता ही जा रहा था।
रश्मि 16 साल की थी और मोंटू को हमेशा भोंदू बुलाती थी, और समझती भी थी।
कई बार मज़ाक़ भी बनाती।

मोंटू सरेंडर कर चुका था। रश्मि ने धीरे से अपने कुर्ते के बटन खोल दिये।
अब रश्मि ने सिर्फ़ शमीज पहन रखी थी और रश्मि के सभी अंगों का सही ढंग से विकास भी हुआ था।

मोंटू इससे पहले कुछ सोच पाता रश्मि ने शमीज भी खोल दी, और वह हक्का-बक्का। इससे पहले उसने औरत के सीने को इतने करीब से पहले नहीं देखा था। रश्मि ने उसके हाथों को अपने सीने पर रख दिया और मोंटू के हाथ खुद-ब-खुद चलने लगे।

रश्मि के मुँह से भी वैसी ही आवाज़ें निकलने लगी थीं, जैसी निशा के मुँह से निकली थीं।

रश्मि अपने घर की ज़मीन पर लेट गयी थी और मोंटू को अपनी गिरफ़्त में कसे जा रही थी।

अब मोंटू और रश्मि का संगम हो चुका था, लेकिन मोंटू किसी गुलाम की तरह रश्मि के इशारों पर नाच रहा था।

वह आनन्दलोक में डूबता ही जा रहा था, लेकिन मन-ही-मन सोच रहा था कि मुझे भोंदू कहती थीं न। आज दिखा दूँगा।

मोंटू चाहकर भी खुद को रोक न सका, उसके शरीर में सिहरन होने लगी।

मोंटू को यह गेम अच्छा लगने लगा था। उसे लगा उसने भोंदू कहने का रश्मि से बदला ले लिया है।

तभी रश्मि कुर्ता पहनते हुए बोली, “चल जल्दी कर अब और निकल। वैसे निशा ने सही कहा था, भोंदू पर बौर आ गये हैं...” और ठहाका लगाकर हँस दी...मोंटू खिसियाना-सा उसे देखता रहा...

मोंटू के जीवन में ऐसे दो हादसे हो चुके थे, जिनमें गेम ऑफ़ प्लेयर उसके लिए गेम ऑफ़ थ्रोन्स में तब्दील हो चुका था। रश्मि अब जब चाहे बुला लेती थी, और बहुत ही बेरुखी से व्यवहार करती थी। निशा को तो हर बात छत पर ही अच्छी लगती थी। फिर धमकी अलग से।

इस सबके बीच मोंटू का क्रिकेट का शौक़ भी चल रहा था। सर्दियों की शाम के पाँच बजे थे और मैच पूरे ज़ोरों पर था। लेकिन अब गेंद कम दिखने लगी थी और आज अँधेरा

भी जल्दी होता दिख रहा था। राजू बैटिंग कर रहा था। मोंटू विकेटकीपिंग।

राजू ने कसकर शॉट मारा और गेंद कोठी में चली गयी। सब लोग तो अपने घर को खिसक लिए, लेकिन गेंद मोंटू की थी। इसलिए मोंटू फँस गया।

मोंटू कोठी में गेंद ढूँढ़ने लगा, लेकिन झाड़ियों में गेंद नहीं मिल रही थी। कोठी के अन्दर ही सर्वेंट क्वार्टर्स में रश्मि के दादा का घर था।

मोंटू गेंद ढूँढ़ रहा था तो उसने पीछे कुछ आहट सुनी। देखा तो रश्मि की बुआ चंचल खड़ी थी। उम्र यही 22 साल। लेकिन बहुत ही मुँहफट, साथ ही बहुत ही आकर्षक क़द-काठी। शादी कमउम्र में हो गयी थी और पति अक्सर शराब पीकर धुत् रहता था।

मोंटू ने बताया गेंद ढूँढ़ रहा हूँ। इस पर चंचल बोली, “गेंद मैं ढूँढ़वा दूँगी। तुम मेरा एक काम कर दोगे।”

मोंटू ने हाँ में सिर हिला दिया। चंचल ने उसका हाथ पकड़ा और कमरे के साथ वाले गुसलखाने की तरफ़ चलने का इशारा किया।

मोंटू बोला, “वहाँ क्यों?”

चंचल ने हँसते हुए कहा, “मेरी पीठ पर साबुन मल दोगे...”

मोंटू बोला, “यह क्या बात हुई...”

चंचल बोली, “जब निशा के साथ छत पर गये थे, तब तो नहीं पूछा...”

मोंटू का दिमाग़ घूम गया। निशा किस-किस को इस बारे में बता चुकी थी।

अब वह चुपचाप से गुसलखाने की तरफ़ गया। हल्की ठण्ड पड़ रही थी और चंचल को नहाने की।

जैसे ही मोंटू गुसलखाने में घुसा चंचल शिकार की तरह उस पर टूट पड़ी।

चंचल ने अपना ब्लाउज़ खोला और अपनी छाती को मोंटू के मुँह में डाल दिया और उसे तेज़-तेज़ काटने के लिए कहा। मोंटू एकदम जैसा वह कह रही थी, करता जा रहा था। चंचल तेज़ आवाज़ में कराह रही थी। और तभी अचानक वह मोंटू पर बैठ गयी, और अपनी इच्छा पूर्ति करने लगी।

मोंटू के आगे निशा का चेहरा कौंध रहा था और वह गुस्से में तमतमा रहा था। हालाँकि आनन्द उसे भी कम नहीं आ रहा था, लेकिन सब कुछ मनमुताबिक़ नहीं हो रहा था।

तभी फिर से मोंटू के शरीर से लावा निकलने लगा था। मोंटू को इतनी जल्दी ख़त्म होते देख, चंचल झल्ला गयी और उसने घुमाकर उसको झापड़ रसीद कर दिया। मोंटू ख़त्म हो चुका था, लेकिन चंचल रुकने का नाम नहीं ले रही थी।

चंचल बोल रही थी, “भोंटू ख़ुद को होशियार समझता है, मैं जानती हूँ उस दिन गेंद लेने के बहाने तू अन्दर आया था, मैं लेटी थी तो मेरे पेटीकोट में झाँक रहा था।”

वो मोंटू को मसले जा रही थी और मोंटू का सिर घूमे जा रहा था, सबको सब कुछ पता था...

खेल

-सोनी सिंह

मैं और 'जान' जैसे एक-दूसरे के लिए ही बने हैं। जिसे कहते हैं न कि 'मेड-फॉर इच अदर' या 'परफ़ेक्ट मैच'। अगर इस बात को थोड़ी नफ़ासत से बोलें तो कहना पड़ेगा कि हमारा दिल, दिमाग़ और आत्मा सभी एक हैं। दिल इसलिए कि किसी भी बात पर हम एक ही तरह से 'रिएक्ट' किया करते हैं और दिमाग़ इसलिए कि हम दोनों 'सिमोन-द-बोउवार' और 'सार्त्र' से प्रभावित हैं। हमारी उम्र भी एक है, यहाँ तक कि क्रद-काठी भी एक है। इस बात को मैं किसी एक की कमी नहीं मानती बल्कि एकता के रूप में ही देखती हूँ, जो यहाँ भी हमारे रिश्ते को बराबरी का अहसास करवाता है। उसने कई बार, इस बात पर मेरा मन टटोलना चाहा। मैं हर बार उसके गले में बाँहें डालकर यही कहा करती, "एकदम परफ़ेक्ट हैं हम दोनों। पूछो क्यों?" "क्यों?" "क्योंकि बग़ैर ज़्यादा ऊपर-नीचे किये, आसानी से हमारे होंठ-से-होंठ, सीने-से-सीना और कमर-से-कमर मिल जाते हैं।" फिर हिन्दी फ़िल्मों की सेक्सी खलनायिकाओं की तरह मुँह बनाकर दबे दाँतों से मैं कहती, "बाक़ी तो तुम्हारा एकदम 'स्टैंडर्ड साइज़' है।" कहकर दोनों ठहाके लगाकर हँसने लगते। और मैं देखती कि उसके चेहरे पर गर्व का सन्तोष हुआ करता। सोचती हूँ कि आख़िर ऐसी और क्या वजह थी, जिसने मुझे शारीरिक तौर पर इतना खोल दिया कि मैंने बिन्दास सेक्स की शुरुआत की। वजह सिर्फ़ सिमोन-द-बोउवार तो नहीं हो सकती क्योंकि कोई भी व्यक्ति सिर्फ़ दूसरे की सोच को पूरी तरह नहीं जी सकता। शायद शारीरिक ढाँचा कहीं-न-कहीं अपने आप में हमें 'डिफेन्सिव' होने का विश्वास तो दिलाता ही था कि मैं उसे कहीं भी रोक सकती हूँ, पर मेरे खुद रुकने की सारी वजहें जर्जर लगतीं। किसी से इतना सुख पाने के बाद शरीर की क्रीमत शाश्वत सच की तरह समझ आने लगी थी। दुनिया के सारे शरीरों में मुझे उसकी परछाईं नज़र आती। मेरे लिए सारे शरीर मूल्यवान हो उठते। जाने विश्वास की वो कौन-सी पकड़ थी कि लगता था कि एक-दूसरे को चाहकर भी नहीं खोया जा सकता। पता नहीं कौन-सी जगह एक-दूसरे में जीत लेने का तोष हुआ करता, जहाँ कोई दूसरा पहुँच ही नहीं सकता। यह विश्वास तो हमारे रिश्ते में इतना खुलापन ले आया था कि हम आसानी से एक-दूसरे से कुछ भी कह-सुन लिया करते। यह खुलापन सिर्फ़ आपसी बातचीत तक ही नहीं बल्कि बिस्तर पर भी उतना ही था। हमारे बीच सेक्स सम्बन्ध बनने के पहले ही वह

समझ चुका था कि मैं निष्क्रिय होकर सन्तुष्ट होना पसन्द नहीं करती। इसलिए हम दोनों एक-दूसरे को पूरी छूट दिया करते, अपनी-अपनी पारी खेलने की। मैं भी उसे पूरा 'एक्सप्लोर' किया करती। वह भी अपनी इच्छाओं को खुलकर कहता और पूरा करता और मैं माँ की तरह बच्चे का आग्रह पूरा करने के लिए लालायित हो उठती।

एक-दूसरे की गहराइयों को भाँप लेने के बाद इतनी आश्वस्ति और उत्सुकता तो रहती ही है कि आगे की गहराइयाँ भी साथ मिलकर ही तय करेंगे। हर व्यक्तित्व की एक गहराई होती है, जो किसी के लिए फूलों की महक भरी घाटी या खाई दोनों बन सकती है।

ऐसे ही एक दिन हम दोनों प्रेम में लिप्त बिस्तर की चादर पर 'सिलवटों की लकीरें' खींच रहे थे। प्रेमलिप्त नागों के जोड़े की तरह आपस में लिपटे बिस्तर के एक छोर से दूसरे छोर को नाप रहे थे। बिस्तर के बगल में चलता टेलीविज़न शर्मसार था, शायद हमारे कार्यक्रम के समक्ष उसे अपने कार्यक्रम फीके लग रहे थे।

अचानक टीवी से उड़ता हुआ एक शब्द हमारे कानों से आ टकराया, 'रेप'। वो मेरे पैरों की उँगलियों और अँगूठे से खेल रहा था, अपनी जीभ से। इस शब्द ने उस पर जादुई मन्त्र (मैजिक वर्ड) जैसा असर किया। उसके चेहरे पर शरारत भरे भाव उभर आये और उसकी हथेलियों की पकड़ कसती चली गयी। उसने बड़े रोमांच भरे अन्दाज़ में कहा, "जान! आओ आज तुम्हारा रेप करें?"

मुझे उसकी बात पिछली बातों-सी लगी। वो अक्सर मुझे प्यार में नये रास्ते खोजने के लिए कहता रहता, हमेशा कुछ नया ट्राई करने को कहता। कभी ब्लू फ़िल्मों से तो कभी कामुक पत्रिकाओं से, कभी दोस्तों के अपने अनुभवों की शेखियों से तो कभी अपनी वाइल्ड फैंटेसी से रोमांचित हो मुझे लेकर प्यार और सेक्स के नये रास्ते टटोलता रहता। वो उन सब काममुद्राओं में लिप्त औरतों में मेरा चेहरा भरना चाहता था। मुझे भी उसकी यह तड़प रोमांचित करती थी और मैं भी खुद को उन रूपों और मुद्राओं में ढालने के लिए लालायित रहती, पर गाड़ी से बढ़िया प्रदर्शन लेने के लिए उसे चलाने से पहले गर्म करना ज़रूरी होता है, इसलिए मैंने हँसते हुए उसकी गर्दन को अपनी जाँघों में जकड़कर अपने क़रीब लाते हुए कहा, "करो न प्लीज़, करो न रेप।" उसने झुँझलाकर, झट से मेरी जाँघों से अपनी गर्दन छुड़ाकर मुझे दूसरी तरफ़ झटक दिया और खुद मुँह घुमाकर बैठ गया। शायद मैंने 'प्रतिरोध' ख़त्म करके उसकी बात को बचकाना बना दिया। मैं थोड़ी देर हँसती रही और उसकी झुँझलाहट बढ़ती रही। ऐसी नोक-झोंक हम दोनों के बीच अक्सर ही हुआ करती कि कोई एक बच्चे की तरह मुँह फुलाकर अपनी बात मनवाना चाहता हो और दूसरे की यह ज़िम्मेदारी होती कि वह उसे किसी भी तरह मनाये। बात क्या है और क्या नहीं, यह मायने नहीं रखता।

इसके अलावा शर्त यह भी हुआ करती कि मनाया इस तरीके से जाना चाहिए कि सब कुछ 'नैचुरल' लगे। कौन कितना बुद्धिमान है, यह इसी वक़्त पता चलता था। सो यह

ज़िम्मेदारी इस बार मुझ पर आन पड़ी थी और मुझे अपनी क्षमता साबित करनी थी। मैंने मैदान सँभाला। अपनी हँसी रोककर चैलेजिंग आवाज़ में कहा, “हूँ, दमखम तो है नहीं। बड़ा शौक़ चढ़ा है रेप करने का।” मैंने पासा बिल्कुल सही फेंका था। वो चोट खाये शेर की तरह गुर्राया। “क्या कहा? ज़रा फिर से कहना। मुझमें दम नहीं है?”

इस बार मैंने बनावटी हँसते हुए उसे ऐसे उकसाया कि वह और भी रियल लगे, “रहने दो, रहने दो, ज़्यादा दम दिखाने की कोशिश मत करो, मरियल हो?” इस बार वो एक्शन में आ गया। किसी फ़िल्म के विलेन की तरह मेरे बाल खींचते हुए कहा, “अच्छा बताऊँ दम है या नहीं।” मैंने उस बनावटी हँसी को अब भी अपने होंठों पर भर रखा था, “दम होगा तो बताओगे ना।” तभी उसने मेरी कमर पकड़ मुझे बिस्तर पर लिटाने के लिए इतनी ज़ोर से धकेला कि पीछे दीवार से सिर रगड़ते हुए मैं बिस्तर पर ‘धप्प’ से जा गिरी। हँसी खुद-ब-खुद हवा हो गयी। “अरे यह क्या...” तभी अपने ऊपर गिरते हुए उसके शरीर को मैंने रोकना चाहा। उसके सीने को अपनी हथेलियों के सहारे धक्का देना चाहा। मानो अपनी हथेलियों की दीवार से अपने ऊपर होने वाले उस भूस्खलन को रोकना चाहती होऊँ, पर हथेलियों से पहाड़ नहीं थमते, उसने अपना सीना अकड़ाकर मेरे सीने से अड़ा दिया। मेरी पसलियाँ चरमराने लगी थीं, मानो अब टूटीं, तब टूटीं। “जान क्या कर रहे हो, छोड़ो मुझे?” मैं अपने अन्दर की सारी आवाज़ समेटकर बोली, पर उस पर कोई असर नहीं पड़ा। “छोड़ो।” इस बार उसे कुछ याद दिलाने की टोन में मैंने कहा। उसके बदन की मांसपेशियाँ एक-एक करके उभरने लगी थीं। अकड़ता हुआ बदन मुझ पर भारी होने लगा था।

ऐसा लग रहा था मानो किसी हिरण को किसी बड़े अजगर ने अपनी कुण्डली में फाँस रखा हो। “जान, मैं तुमसे कह रही हूँ। मुझे दर्द हो रहा है। जान।” पर वो शायद होश की दुनिया से कोसों दूर था, पहले जब मुझे बाँहों में भरते हुए मेरे बाल खिंच जाते, या उसकी हथेलियों की मसलन का दबाव मेरे फेफड़ों की साँस को रोक देता, हालाँकि वो इन सबसे बिल्कुल अनजान होता पर जब मेरी आवाज़ में मदहोशी की जगह दर्द आ जाता तो वो शायद अचानक उस मदहोश नींद से जाग उठता। उसके आवेश में अचानक पश्चात्ताप का समावेश हो जाता। “जानू क्या हुआ? सॉरी, आई एम सॉरी,” कहता हुआ अपने गर्म होंठों का मरहम वो देर तक मेरे बदन पर लगाता। इतने हलके से मुझे हाथ लगाता जैसे कि मैं कोई फूल या काँच हूँ। मैं बड़े नाज से कहती, “हाँ, हो गया, बस ठीक हूँ।” उस समय उसकी निगाहों से खुद को देखने पर मुझे अपने ही बदन पर प्यार आने लगता।

“ओह! ये क्या...” मैंने देखा वो अपने घुटने से मेरी जाँघों को फैलाने की कोशिश कर रहा था। उसने दोबारा मेरे हाथों को पकड़कर ऊपर की ओर कर दिया, ताकि ज़रूरत पड़ने पर ताक़त का इस्तेमाल किया जा सके। शायद वो यह ‘खेल’ दोबारा शुरू करना चाहता था, इस बार शायद किसी नतीजे तक पहुँचाना चाहता था। “हूँ कहती है दम नहीं है। इस बार बताता हूँ।” यह सब बचपन के किसी ‘खेल’ की ही तरह था, कहीं कोई छोटा-

सा झूठ, कहीं कोई छोटा-सा मासूम धोखा और इस सबको सच मानकर आनन्द लेना, जैसा हम इस 'रेप' के 'खेल' में ले रहे थे।

इस बार मैं चीखकर बोली, "पागल हो गये हो क्या? बन्द करो ये नाटक। सुन नहीं रहे हो क्या।" कहते हुए मैंने खुद को छुड़ाने की कोशिश और तेज़ कर दी। पर हर खेल का अपना नियम होता है, जो किसी को भी बीच में छोड़कर भागने की कोशिश की इजाज़त नहीं देता। उसने अपनी लाल-लाल आँखों से मुझे घूरकर देखा। फिर ज़ोर-ज़ोर से अपने होंठों के शहद से मेरे चेहरे को रँगना शुरू कर दिया। ये भी अजीब प्रक्रिया थी, पहले मेरे चेहरे को गीला किया, फिर उसकी दाढ़ी का रेगमाल मेरे गालों को छीलने लगा। उसके शरीर की अकड़न लोहे की सलाखों में तब्दील हो चुकी थी। अपने एक हाथ से उसने मेरे ऊपर खिंचे हुए हाथों को जकड़ लिया और अपनी दूसरी हथेली से मेरे फेफड़ों पर दबाव बनाने लगा। उसकी हथेली की पकड़ से मेरे सीने का लहू थमने लगा था और पसलियाँ कड़कड़ाने लगीं थीं। इस तेज़ दर्द ने उसके शरीर से मेरे शरीर के संघर्ष को बढ़ा दिया। जिस जिस्म को वो फूल और काँच की तरह छूता था, उसी शरीर की नसों में काँच टूटने और मांस को फूल की तरह मसले जाने को मैं बखूबी महसूस कर सकती थी। वाह! क्या विश्वासघात है इस छुअन में। मैं भी अपनी नसों में बची हुई ताक़त को समेटने लगी, दाँत आपस में पिसने लगे, "स्साला क्या समझता है अपने आपको? बहुत ताक़त है।" मैंने पूरे ज़ोर से उसकी क़ैद से छूटने की कोशिश की, पर थोड़ा-सा हिलने से ज़्यादा कुछ नहीं हो पाया।

अचानक मेरे सीने से उसके हाथ का दबाव हट गया, मेरी साँस को मानो रास्ता मिल गया हो पर ये क्या, वही हाथ अब किसी और कशमकश में लग गया था। वो मेरे जिस्म के निचले हिस्से के आखिरी हिजाब को खींच रहा था। शायद अपनी इस कोशिश में वो चीरहरण करने वाले दुशासन की क्रूरता से भी आगे बढ़ गया था। मैंने अपने द्वार बन्द करने की आखिरी कोशिश में अपनी जाँघों को कसकर आपस में भींच लिया और पैरों को मोड़ लिया। पर्दा हटने की जगह फटने की नौबत आ गयी थी।

उसने अपनी एक टाँग से मेरी एक जाँघ को दबा दिया, मानो बाढ़ बाँध तोड़कर अपना रास्ता बना रही हो। रास्ते में आने वाली हर अड़चन और बाधा को अपने साथ ही समन्दर में ले जाना चाहती हो। मेरा पर्दा वफ़ादार था पर ताक़तवर नहीं। वो फटा तो नहीं, पर बाढ़ के साथ ही अन्दर की गुफा में प्रवेशमान होने लगा। अब मेरा विरोध अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। क्या हो रहा है? क्या समझ रखा है मुझे, कूड़ादान? कुछ भी अन्दर डाल दो। सोचते-सोचते मेरे मुँह से निकला, "हट स्साला, हटते हो या नहीं?" मैं ताक़त से अपने हाथ-पाँव मारने लगी। उस सलाखों के पिंजरे ने मुझे और ज़ोर से जकड़ लिया, जैसे किसी जंगली जानवर को भागने की कोशिश न करने के लिए विवश किया जाता है। मेरा दम घुटने लगा था। मुझे पता ही न चला कि कब मैंने अपने दाँत उसकी गर्दन में इतनी ज़ोर से

गड़ा दिये थे। उसकी नसें फूली हुई नज़र आने लगी थीं। अचानक उसकी जकड़ छूट गयी। वो 'दर्द' से आहें भरता हुआ अपनी गर्दन को सहलाने लगा। मैं झट से उठकर बैठी और कमरे से भागने लगी, उसने पीछे से मेरा पाँव पकड़ लिया। सन्न से डर की एक लहर मुझसे होकर निकल गयी। मैंने कभी सोचा भी न था कि जिन बाँहों में खुद को सौंपकर मैं इतनी बेखबर हो जाया करती थी, कभी उन्हीं की जकड़ से ऐसे डरकर भाग जाना चाहूँगी।

किसी लड़खड़ाते खिलाड़ी की तरह मैंने मन-ही-मन 'स्साला' मन्त्र बुदबुदाया, हिम्मत बटोरी और अपनी एक लात चलायी और फिर दूसरी। मेरी दोनों टाँगों को उसने झपटकर अपने पंजों में जकड़ लिया, शायद वो अपनी जेल से कैदी को भागते हुए नहीं देख सकता था। पीछे मुड़कर इस बार मैंने उसके चेहरे को गौर से देखा, ऐसा लगा मानो वहाँ एक जानवर आ बैठा हो। सुर्ख लाल आँखें, जैसे अपने शिकार को अभी लील जायेगा। धुआँ-धुआँ सा उसका चेहरा अजीब-सा विकृत और डरावना हो गया था। दाँत आपस में पिस रहे थे। नथुने फड़क रहे थे। अचानक उसके मुँह से किसी चोट खाये नाग की तरह फुँफकार निकली, "भागती कहाँ है कुतिया! आज तुझे कोई नहीं बचा सकता।" यह क्या इन शब्दों ने अचानक मेरे चोट खाये सम्मान को फिर से आहत कर दिया। मैंने सामने पड़े फ़ोटो फ्रेम जिसमें मेरी और उसकी तस्वीर लगी थी, घुमाकर उसकी तरफ़ दे मारा। फ्रेम का नुकीला कोना उसके ललाट को घायल करते हुए सीधा निकल गया। इस बार 'आह' की आवाज़ तेज़ थी और अगले ही क्षण वह आँखें मूँदे धराशायी हो गया।

"यह क्या, खून!" मैं एकदम स्तब्ध रह गयी थी और फटी हुई आँखों से उसके बहते हुए खून को देख रही थी। थोड़ी देर में चादर का वह हिस्सा जो उसके सिर के नीचे था, लाल हो उठा। देखते ही देखते मेरा हृदय दो भागों में बँट गया। उसके जिस ललाट को अपनी गोद में रखकर न जाने मैंने कितनी बार चूमा है, सहलाया है, थपथपाया है, सीने से लगाया है, आज उसी को इस तरह लहलुहान कर डाला। "हाय! ये मैंने क्या किया।" मेरी सोच ने फिर उलटी दिशा में करवट ले ली। मन में अपराध-बोध भर गया। सारा गुस्सा आँखों से पिघलकर झरने लगा। दो शरीरों के बीच भी जैसे अपनी ही तरह के सम्बन्धों के गणित होते हैं, एक-दूसरे को आहत भी करते हैं और फिर एक-दूसरे के उन्हीं घावों पर मरहम भी लगाते हैं। मैंने झट से उसके सिर को अपनी गोद में खींचा और पास पड़े तौलिए से खून पोंछने लग गयी। "जानू! सॉरी, सॉरी, सॉरी।" यह क्या हो गया मुझसे। तुम ठीक हो न? कहते हुए मैंने उसका सिर अपने सीने से सटा लिया और उसके सिर पर हाथ फेरने लगी।

"जानू! कुछ तो बोलो। प्लीज़! आई एम सॉरी।" मेरी आँखों में आँसू और याचना आपस में मिल गये थे।

इस बार मैंने उसके सिर को अपने सीने में भींच लिया था और मेरे होंठ खुद-ब-खुद उसके चेहरे पर मरहम लगाने लगे थे। चूमते-चूमते मेरी नज़र अचानक उसके सीने से

फिरते हुए वहाँ आ रुकी जहाँ से उसका आगे फिसलना सम्भव न था। वो लौह स्तम्भ कामाग्नि में जलकर सुर्ख लाल हो उठा था। उसके शरीर के निचले हिस्से में जिन भावों को देखा, उनकी पूर्ण पुष्टि के लिए मेरी नज़र उसी लीक पर उलटी दिशा में दौड़ते हुए उसके चेहरे पर आकर रुकी। सच में एक नये मुखौटे ने उसके चेहरे को ढँक लिया था। दर्द से सिकुड़े होंठ कुटिल हँसी लिए फैल चुके थे। मेरी सोच को अचानक झटका लगा, 'अरे! इसे तो चोट लगी थी! सच में दर्द हो रहा था या मुझे फाँसने के लिए दिखावा कर रहा था।'

मैंने समझ लिया था उत्तेजना में जो उसे चोट लगी भी, उसी ने उत्तेजना को और बढ़ा दिया था। मैं इन समीकरणों के पन्ने उलट-पलट ही रही थी और तभी उसने मुझे पलटकर अपने ऊपर लिटा लिया। मेरी आँखें उसकी आँखों से सीधे टकरायीं। उसकी आँखों में आने वाले तूफान को मैंने भाँप लिया। मेरा बदन सिहर उठा और इस सिहरन में कब मेरा आखिरी पर्दा सरक गया, मैं सँभाल ही नहीं पायी। उसने मेरी टाँगों को दो दिशाओं में जितना दूर हो सके, फैला दिया, मानो एक प्रचण्ड टक्कर की चोट से मेरे कपाट को तोड़कर कोई तूफान प्रविष्ट होना चाह रहा हो। शायद वो खुद भी उस तूफान को बड़ी मुश्किल से थामे हुए था। इसीलिए जोश में थरथरा रहा था। मुझे लगा शायद यह वही तूफान है जो घुमड़कर लौट आया है, जो मुझ पर तब बरसा था, जब पहली बार हमने अपने कौमार्य की सरहद से बगावत की थी। तब वह ऐसे ही थरथरा रहा था और हम साथ-साथ उड़ रहे थे, पर इस बार की उड़ान आखेट में बदल चुकी थी। तूफान का आवेग ऐसा था, मानो वो जड़ से उखड़ जायेगा।

उत्तेजना उसके आगे दौड़ रही थी और वह पीछे चल रहा था, किसी गुलाम की तरह। मुझसे ही नहीं, वह अपने आप से भी बहुत दूर दिखाई दे रहा था। जैसे एक ही पल में उसकी उत्तेजना की सिहरन मेरे अन्दर थी। भीगी पेशियों की फिसलन बादलों की रगड़ जैसी थी, जिससे उत्तेजना की हज़ारों बिजलियाँ मेरे जिस्म की हर नस में कौंध गयीं। इस फिसलन से मैं खुद भी अनजान थी, मुझे पता ही नहीं चला कि बाहर की गर्मी ने मेरे अन्दर के मोम को कब पिघला दिया था जबकि मेरा मन तो किसी और ही विचार-सागर में डूबा हुआ था, तो क्या मेरे साथ भी 'खेल' वैसा ही था जैसा उसके साथ? क्या मेरी उत्तेजना का द्वार भी मेरी मर्जी के बग़ैर ही खुलने लगा था? क्या इसका आकार मुझसे भी बड़ा हो चुका था? मैं अपने ही गर्म चश्मे में नहाने लगी थी? क्या मेरी भी उत्तेजना मुझसे आगे निकल चुकी थी?

जैसे-जैसे वो मेरे अन्दर उतरने लगा, मैं शिथिल पड़ती गयी। सारी सोच खुद-ब-खुद निष्क्रिय और स्थगित होती गयी। अवरोध मन्द पड़ता गया। मैं अपने ही हाथों से छूटती जा रही थी। शायद मैं शरीर की सच्चाई में डूब रही थी। इस अनजाने सुख में मेरी आँखें खुद-ब-खुद बन्द होने लग गयीं। यह सब बिल्कुल वैसा था, जैसे किसी हिरणी ने अपने आखेटक से पहले खूब संघर्ष किया, पर एक बार जब शिकारी के दाँत उसकी गर्दन में गड़

गये तो उसका फड़फड़ाना खुद-ब-खुद मन्द पड़ गया। जैसे वो खुद ही अपने उस आखेटक के सौन्दर्य में डूब गयी, जिसमें एक अपना अस्तित्व मिटाकर भी दूसरे की 'भूख' शान्त करता है।

पर ये शान्ति शायद इस 'खेल' का हिस्सा न थी, इसलिए उसने 'खेल' का रंग फिर से बदला। "जान! अरे जानू! तुम तो सो रही हो, मैं..." ठहरो तुम्हें बताता हूँ और वो अचानक मेरे शरीर के ऊपर से हट गया और फिर उसने ढेर सारे बर्फ के टुकड़े मेरे निर्वस्त्र बदन पर बिखेर दिये। मेरे गर्म जिस्म पर इस ठण्डी बारिश ने एक नयी सिहरन भर दी और मैं झूठा गुस्सा करती हुई नींद से जग गयी। वो उस बिस्तर से दूर खड़ा हँस रहा था। मेरा गुस्सा देखकर वो दोबारा बिस्तर के किनारे पर आ बैठा। मैं उसके बाल खींचती और बदले में वो मेरे कानों को काटता और फिर अचानक एक नया 'खेल' शुरू हुआ। बर्फीले जादू से भरा आइस मैजिक का 'खेल'।

मेरे बदन के धरातल पर बर्फ की एक रोमांचक यात्रा का आरम्भ। इस यात्रा का प्रक्षेपण बिन्दु मेरी दोनों हाथों की हथेलियाँ थीं। दोनों हथेलियों से गतिमान और मेरी नर्म और पतली बांहों की पगडण्डियों से गुज़रती हुई हिमानियों का मिलन स्थल, दो 'गुम्बदनुमा पहाड़ियों' के बीचोबीच था जिनके गर्भ में कहीं मेरा दिल था। मेरे दिल की गर्मी से हिमानियों का पिघलना पहले से तय था। पिघलती हुई बर्फ कभी पहाड़ियों के मध्य से तो कभी उनके किनारों के साथ-साथ जलेबी की तरह घूमती हुई मेरी नाभि के कुण्ड को आकर भरने लगी। वो भी किसी सदियों के प्यासे की तरह अपने गर्म होंठों से कुछ बूँदें, मेरी नाभि से पीने लगा, पर नाभि इस यात्रा का विसर्जन बिन्दु न होकर, मात्र एक पड़ाव थी। हिमस्खलन का एक तूफ़ान धनुष की तरह मेरी लचीली कमर पर उमड़ते हुए, मेरी पीछे की गोलाइयों को गुदगुदाता हुआ सरक गया।

हिमस्खलन का दूसरा हिस्सा मेरी नाभि से नीचे की ओर सरकते हुए, 'गहरी काली घाटी' में विलुप्त हो गया। बर्फ के दो छोटे हिस्सों ने मेरी जाँघों से सरकते हुए, मेरे पैरों के तलवों पर आखिरी साँस ली। इस सारे 'खेल' ने मुझे हिमपात के बाद प्रकृति की तरह तरौताज़ा कर दिया था। मेरी आँखों की चमक लौट आयी। मेरी नसों में बहते लहू की रवानगी और तेज़ हो गयी और हम दोनों 'खेल' के आखिरी पड़ाव के लिए तैयार हो गये। उसने झट से पलटकर अपने समस्त 'तनाव' को मेरी 'गहराइयों' में उतार दिया। वो मुझमें इतना गहरा उतर चुका था जैसे वो हवा की एक लाट भी खुद से नहीं छूने देना चाहता हो। वो अपने होंठों से मेरी 'चोटियों के शिखरों' को मसलने लगा। मेरे अन्दर का मोम पिघलने लगा। मोम की बारिश ने चोटियों की ढलान पर फिसलन पैदा कर दी थी। बदन की गर्मी से रही-सही बर्फ भी पिघलकर फैल गयी। अचानक वो मुझसे अलग हो गया, शायद अपने अन्दर के तूफ़ान को सँभाल न पा रहा हो। वो कामोत्तेजना से भरा हुआ था। उसके शरीर का एक हिस्सा उससे बिल्कुल स्वतन्त्र होकर फुँफकार रहा था। मुझमें डूबने को बेताब। मैं

उसके इस 'हिस्से' का उत्कर्ष अपनी 'घाटी' में महसूस करना चाहती थी। उसके होंठों के बादलों का फैलाव मेरी 'गुम्बदनुमा चोटियों' को लीलने में सक्षम न था। अचानक उसने मुझे कमर से पकड़कर अपनी बालों से भरी छाती पर बिठा लिया। उसके ऊपर के 'लाल होंठ' और मेरे नीचे के 'काले होंठ' एक-दूसरे के सामने थे। एक-दूसरे को चूमने को बेताब। एक-दूसरे का रस पीने की यह प्यास ऐसी थी कि मेरी मस्ती टपकने लगी। अचानक जैसे घाटी में पिघला हुआ लावा भर आया हो। उसके हाथों ने मेरी कमर के नीचे की गोलाइयों को जैसे ही हाथों में भरा, लाल और काले होंठ सट गये, आपस भिंच गये, एक-दूसरे के रसास्वादन का एक क्रम चल पड़ा। मेरी अँगड़ाइयों को, मेरी आँहों के सैलाब को थामना अब नामुमकिन था। उसका सारा चेहरा मेरे मोम से रंजित था।

मैं अपनी मस्ती को सँभाल न पा रही थी। मैं दीवार की तरफ़ मुँह करके उसका सहारा लेकर खड़ी हो गयी और वो मेरे 'कटाव' से रिसते 'शहद' को चाटता रहा। शायद वो इस 'खेल' में अब कोई और रोमांच लाना चाहता था। उसने मुझे सामने पड़ी कुर्सी पर लाकर बिठा दिया। और खुद मेरे सामने खड़ा हो गया। उसने मेरे मुँह में अपने हाथ की उँगलियों को डालना शुरू कर दिया। उसकी उँगलियाँ मेरे गर्म थूक से भीग गयी थीं। मुझे भी उसकी उँगलियों को काटना अच्छा लग रहा था। अचानक उसने इशारा किया। वो हाथ की जगह किसी और 'हिस्से' से मेरे मुँह को भरना चाहता था। इस 'खेल' को स्वीकृति देने से पहले मैंने अपनी ओर से जैसे जाँचना चाहा हो, अपने पैर के अँगूठे से उसके 'तनाव' का मुआयना किया। उसके मुँह से भी आहें तेज़ होने लगी थीं। अचानक उसने मेरे पैरे को एक तरफ़ हटा, खुद को मेरे होंठों के बिल्कुल सामने ला खड़ा कर दिया, शायद उससे भी यह तड़प अब सहन नहीं हो रही थी। मैंने अपने होंठों की गोलाइयों को खोल दिया। अगले ही पल मेरा मुँह गले तक भर चुका था। उसकी आहें और तेज़ होती चली गयीं।

अब यह खेल अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका था। उसकी देह मेरे जिस्म पर रगड़ खाते हुए पूरी तरह मुझे ढँक चुकी थी। हमारे शरीर का हर हिस्सा अपने आपको अपने 'सहकर्मी' से जोड़ चुका था। हाथों से हाथ, होंठों से होंठ, सीने से सीना, जाँघों से जाँघें और वो मेरी 'घाटी' में पूरा उतर चुका था। मुझे उसका दबाव अपनी नाभि तक महसूस हो रहा था। मेरी जाँघों के बीच अँगारे उबल रहे थे। मैं नाच रही थी। कभी मैं पैर बिस्तर पर, कभी उसकी टाँगों पर तो कभी हवा में उछालती। मेरे हाथों के शिकंजों ने उसकी कमर को जकड़ा हुआ था। भूचाल के झटके तेज़ हो रहे थे। उसके मुँह से 'हूँ...हूँ...' से ज़्यादा कुछ नहीं निकल रहा था। साँसें तेज़ थीं, मेरी आहों को आवाज़ मिल गयी थी, आह...और अन्दर...इस्स थोड़ा...अन्दर...आ...जाओ। मेरी पूरी गहराई नापो, थोड़ा ठहरो...थोड़ी देर और...इस्स...थोड़ी देर...और...वो कहीं खो चुका था इस 'खेल' में, अब शायद मेरी कोई आवाज़ उस तक नहीं पहुँच रही थी। मुझे भी पता नहीं था मैं कहाँ थी। अचानक उसका मुँह खुल गया और वो एक लम्बी आह लेता हुआ बिस्तर के दूसरी ओर जा गिरा। मैं भी

बिस्तर पर फैली हुई, निचुड़ी हुई, प्राणरहित-सी पड़ी थी। सुकून से घूमते पंखे पर टिकी मेरी आँखें बन्द होने लगी थीं। “आह! क्या सन्तुष्टि है!”

“कहाँ है सन्तुष्टि?” अचानक मैं चौंककर बैठ गयी। ये सवाल कहाँ से आया था। मैं बिस्तर के एक कोने में ठिठक गयी। मुझे लगा बिस्तर के पास कोई खड़ी थी। जो इस ‘खेल’ की गवाह थी। मुझे उत्तेजना और रोमांच के उन्माद के बराबर की कुशती लड़ते देख कर भी उसके चेहरे पर कोई भाव न था। जब मैं शिथिल होकर पड़ गयी तो उसने फिर पूछा, “बोलो? कहाँ है सन्तुष्टि?” मुझे काटो तो खून नहीं। क्या यह कोई स्वप्न था, यह खूँखार खेल जो मैं खेल रही थी, मात्र मेरी फैंटेसी थी। जिसने कभी पानी न पिया हो, वो प्यास नहीं जानता, पर जिसने अमृत का स्वप्न देख लिया हो, उसे पानी भी न मिले तो कैसा लगता है? स्वर्ग से अचानक धक्का देकर फेंक दिये जाने पर क्या ऐसा ही लगता है?

क्या यह सन्तुष्टि एक कल्पना ही है, जिसका बखान केवल किताबों में, सपनों में या अनुभवियों की शोखियों में है। क्या मेरी सारी दौड़ को इस रेगिस्तान तक ही आना था।

एक चक्रवात था, जिसके गुज़र जाने पर मैंने पाया कि मैं तो वैसी ही हूँ। वीरान, असन्तुष्ट...अतृप्त...वितृष्णा और घिन से लथपथ...मुर्दा...क्या अगली बार भी यह ‘खेल’ अधूरा ही...!

विष्णु ही शिव हैं

-प्रियंका ओम

उसे समझ नहीं आ रहा था कि वह क्या करे?, अपना ध्यान कैसे बँटाये? कहाँ बँटाये। वह आँगन में खेलते बच्चों पर ध्यान भटकाती किन्तु बेचैन मन तुरन्त ही वहाँ से वापस देह के समक्ष नाग की तरह फन फैलाये फुँफकारते हुए खड़ा हो जाता है, पुनः सब्ज़ी के बागीचे में मिर्च की क्यारियों के बीच स्वतः उग आये पपीते के पौधे पर ध्यान ले जाती। मिर्चियों के बीच पपीता कितना अकेला है जैसे बच्चों-बुजुर्गों से भरे परिवार में वह अकेली है।

बस सब्ज़ी का बागीचा उसका अपना है। वह अपना अधिकांश समय सब्ज़ियों के बीच व्यतीत करती है, फली हुई सब्ज़ियों को वह ऐसे निहारती है जैसे कोई माँ अपने बच्चे को, वह उनसे मूक संवाद करते हुए उनके मन की बात समझ जाती है कब किसे पानी चाहिए और कब किसे खाद, किसे छाया किसे धूप। बागीचा भी उसके मन को खूब समझता है, जब वह स्नानादि के बाद पूजा-पाठ से निवृत्त हो बागीचे में पहुँचती है तब उसके चाव की सब्ज़ी हुलस कर सामने आ जाती है।

घर के पिछवाड़े आधा पौन कट्टा भर ज़मीन का टुकड़ा यँ ही बंजर पड़ा था। उसकी तरह अकारथ। बेमंसूबा, बेकाम। कोई खोदे-बोये तो जाने! उसने वहाँ सब्ज़ियों के बीज बो दिये, कुछ दिन में ही वे तमाम बीज धरती का सीना चीर पौधे बन निकल आये फिर देखते-ही-देखते फूलों और फलों से लद गये।

उसने सब्ज़ियों के साथ-साथ एक क्यारी में लौंगिया मिर्च भी उगायी है, मिर्च खाने का शौक उसे आजी से मिला है, आजी तो दूध-रोटी के कटोरे में भी दो मिर्च तोड़कर रख लेती थी। आजी को मीठे से बहुत परहेज़ था। उसे मीठा खाने से कोई गुरेज नहीं लेकिन उसकी थाली में भात-तरकारी परोसने से पहले दो मिर्च उसी तरह विराजमान होतीं जैसे पूजा-हवन में गणेश जी। उसके तरह ही मिर्च खाने का शौक समूचे घर में किसी संक्रमण की तरह फैल रहा था। अम्मा ने बाबू जी की थाली में भी दो हरी मिर्च रख दीं, बाबूजी धीरे से फुसफुसाये, “ऊ तीता खट्टा कम खाये तो बढ़िया रहेगा।”

“ऊ अभागी स्वाद क्या जाने? बेस्वाद पीत पर का खाना के साथ दूगो मिर्चा केतना बिगाड़ेगा?”

अम्मा की इस ममतामयी दलील पर बाबूजी चुपचाप कौर निगलते गये, बोले कुछ नहीं।

अम्मा- बाबूजी के वार्तालाप की यह स्मृति पुनः उसके मन को उसकी देह के गिर्द भूसे की बोरी की तरह पटक गयी। मन जितना ही दूर भागने की कोशिश करता, देह उतना ही खींचती है। दरअसल उसका मन देह से दूर जाता ही नहीं है, दूर जाकर भी देह से ही लिपटा रहता है।

वह बेचैनी में करवट बदलती है, कभी इस पहलू कभी उस पहलू। उसकी रातें अनगिनत करवटों की दास्तान बनती जा रही हैं। ऐसी दास्तान जो कहना और सुनना दोनों ही पाप है। बार-बार करवट बदलने से चद्दर पलंग के किनारे से खिंच उसके मन की तरह उसकी देह के चारों ओर सिमट आयी, तन से लिपटी पतली सूती धोती ऊपर पिण्डलियों पर चढ़ आयी, उजली अनछुई पिण्डली अँधेरे में भी साफ़-साफ़ संगमरमर-सी चमक रही है। उसका जी चाहा इन पिण्डलियों पर कोई अपने होंठ रख दें। तपते गर्म होंठ। इस खयाल से वह सिहर उठी, देह में नामालूम-सा कम्पन हुआ, झुरझुरी की एक लहर समूची देह में दौड़ गयी। उसकी बेचैनी लगातार बढ़ रही थी, कण्ठ सूखा कुआँ हो गया था, उसे लग रहा था आज उसके प्राण निकल जायेंगे। वह झटके से पलटकर चित् लेट गयी और सीने से लिपटे आँचल को ज़ोर से खींचकर दूसरी ओर फेंक दिया। उसे हज़ार चीटियों का टखनों से ऊपर चढ़ते हुए जाँघों तक रेंगना महसूस हो रहा था, उसे लग रहा था बस अब कुछ ही देर में यह चीटियाँ उसकी देह के भीतर घुस जायेंगी। उसका सीना धौंकनी की तरह धड़क रहा था, तीव्रता से ऊपर उठता और फिर धीमे से नीचे बैठ जाता। बेबसी से ब्लाउज़ का ऊपरी बटन टूट गया। चीटियाँ भीतर प्रवेश कर चुकी थीं, टाँगें स्वतः फैल गयीं, हाथ देह पर रेंगने लगी और मुँह खुल गया जैसे भीतर कोई जलस्रोत फूट पड़ा हो जो अन्दर की आग का निर्वासन करता हो।

कुछ क्षण की जद्दोजहद के उपरान्त वह निढाल पड़ी थी, होंठ सूखे हुए और आँखों के कोर गीले। वह अपनी देह से हार गयी थी। हार के प्रतिफल से देह लिज-लिज थी और मन स्वयं के लिए वितृष्णा से भरा हुआ।

नियमतः आँख सूर्योदय से पहले खुल गयी, उठते ही आदतन पलंग के नीचे रखा पानी से भरा ताँबे का लोटा उठाने लगी जो उसने सोने से पहले रात में रखा था। फिर कुछ याद आते ही हाथ खींच लिया- छिः छिः! दुष्कर्म वाले हाथ। वेग से सन्दूक पर रखा चाकू उठाती है, इस चाकू से वह अपने लिए दातुन बनाती है...उसे काटती है छीलती है...वह अपनी हथेलियों की मैली चमड़ी भी छीलकर निकाल देगी...हथेली को खुरचने का प्रयास...गन्दी चमड़ी उतार देगी। फिर हारकर असहाय-सी चाकू दूर फेंक देती है। उसे स्वयं से घृणा होने लगी, हथेलियों को आँचल से रगड़-रगड़कर साफ़ करने की कोशिश करते हुए वह आत्ममन्थन में उलझ जाती है, क्यूँ स्वयं को रोक पाना सम्भव नहीं हुआ,

क्यूँ देह के समक्ष उसकी तपस्या बौनी हो जाती है। भोर होने से पहले गंगाघाट पर स्नानादि से निवृत्त हो ठाकुरबाड़ी को बुहारना, लीपना, फिर कुएँ से पानी खींचकर ठाकुर जी को नहलाना-धुलाना। ताज़े फल काटकर प्रसाद बनाने के उपरान्त कनेर से ठाकुर जी का शृंगार और अन्त में चन्दन निर्मित अगर से अर्चना।

“पता नहीं किस जनम का पाप है जो इस जनम में भोग रही है, सेवा-सुश्रुषा से प्रसन्न हो ठाकुर जी अगला जनम सुफल करें”, कहते हुए अम्मा की आत्मा फट जाती, करुण उद्गार उलीच आता। यह सुन उसका हृदय विह्वल हो जाता, “हे ठाकुर जी! अम्मा की निष्कपट वांछा पूरी करना”, वह मन-ही-मन प्रार्थना में बुदबुदाती।

उसके हाथ अब भी उतने ही गन्दे थे, उसने हथेली को दीवार की खुरदरी जगह पर रगड़ा, कहीं-कहीं से छिलकर खून के पतले रेशे निकल आये। उसकी आत्मा को किंचित-सा आराम मिला। उसने पलंग के नीचे से लोटा खींच हाथ ऊपर उठाया और गटागट सारा पानी पी गयी। लोटा खाली हो चुका था और उसका मन भी पश्चात्ताप से खाली हो चुका था। उसने सन की तरह बँटी हुई साड़ी को खूँटी से उतार बायीं बाँह के बीच दबाया और हाथ में खाली लोटा ले दायें हाथ से बबूल के दातुन को दाँतों पर रगड़ती गंगा की ओर चल दी। सोचा, आज लोटा उजले रेत से माँजेगी। उसके हाथ का गन्द निकल जायेगा, लोटा भी पहले की तरह पवित्र हो जायेगा।

गंगाघाट कोस-भर की दूरी पर है, घर और घाट के बीच ठाकुरबाड़ी। वह भोरे-भोरे उठकर लोटा कपड़ा ले नंगे पाँव गंगा की राह लेती, यह नियम वर्षों से चला आ रहा है। उसे ठीक से याद नहीं कितने वर्षों से। उसे यह भी याद नहीं कि वह कितने वर्ष की है किन्तु स्मृति का द्वार जहाँ से खुलता है वहाँ से उसकी ज़िन्दगी नियमों की अधीन है। कुछ नियम वे, जो समाज ने उसके लिए बनाये कुछ वे, जिसे उसने स्वयं अपना लिया उनमें ठाकुर जी की सेवा का विशिष्ट स्थान रहा! ठाकुरबाड़ी न होती तो उसका जीवन अहैतुक होता। वह ठाकुर जी की सेवा बड़े मनोयोग से करती, अन्तस में मौन मनोरथ पल-बढ़ रहा है-“अगला जीवन सुफल हो”। सम्भवतः बीते जीवन में उसने ठाकुर जी की सेवा निष्ठा से न की हो जिसका कुफल इस जनम भोगना पड़ रहा है।

उसे उसका क्षणिक भी संस्मरण नहीं जिसे ठाकुर जी ने उसकी किस्मत में लिखा था और लिखकर फिर मिटा दिया। हाँ उसे इतना गुमान अवश्य है कि वह ठीक विष्णु जैसा रहा होगा। निश्चल, निष्कपट, निष्कलंक।

दादा को विष्णु चौक स्थित चाय की थड़ी पर दिखा था, फटे-पुराने कपड़ों में सूखी काया, निस्तेज धँसी आँखें और सूखे होंठ। कौन है, कहाँ से आया है कोई नहीं जानता। वहाँ किसी को नहीं मालूम उसका नाम क्या है वह कहाँ से आया है, उसे स्वयं भी कुछ याद नहीं कि वह कौन है उसका नाम क्या है। कुछ पूछने पर विष्णु-विष्णु कहता तो सब उसे विष्णुआ पुकारने लगे। दिन-भर चाय की थड़ी पर बैठा जूठे गिलास खँगालता और बदले

में बची हुई चाय सुरकता। एक-एक घूँट कर दिन में न जाने कितने कप चाय हलक में उतर जाती। अधिक भूख लगने पर पंसारी के यहाँ झाड़ू-बुहारू कर बिस्कुट का भागी होता।

दादा से उसकी यह दुर्दशा देखी नहीं गयी, वह उसे घर ले आये और वह पूरे घर का विष्णुआ हो गया। विष्णुआ पानी ला, विष्णुआ दूगो मिर्चा तोड़ ला, विष्णुआ तनी माथा दाब दे, तो तनी पैर मल दे।

“अम्मा कहती भगवान का नाम है रे, काहे एकार पारते हो, गोर मलवावे से पाप चढ़ेगा।”

“नामे बदल दो, न रहेगा नाम न चढ़ेगा पाप”, छोटका को हँसी-ठट्टा सूझता।

“नाम काहे बदल दें, एकरे बहाना भगवान का नाम तो जपता है सब।”

वह ऐसा कोई पाप नहीं करना चाहती जिसका फल उसे अगले जनम में भोगना पड़े। वह अगले जनम भी अपने भाग्य में लिखित विष्णु से वंचित नहीं रहना चाहती, अम्मा के जैसे ही विष्णुआ उसके लिए भी विष्णु है क्योंकि उसका मन तो आने वाले कल में वास करता जहाँ किसी अन्य का प्रवेश स्वप्न में भी वर्जित है। किन्तु तन? तन क्या करे? तन की पीड़ा किस विधि कहे?

गंगा जी में डुबकी लगाकर देर तक भीतर बैठी रही, हे गंगा मैया या तो लील ले या दावानल को शीतल कर दे। एक के बाद एक अनगिनत डुबकियाँ। गंगा सारे पाप धो देती है, गंगाजल से माँज-माँज आज उसकी देह पवित्र हो गयी।

धवल धोती लपेटते हुए उसका चित्त प्रसन्न था, मन में लेशमात्र भी निर्वेद नहीं। देह पाप मुक्त थी। ज़हन से ग्लानि का निर्वासन हो चुका था। अब वह मुक्त थी। ग्लानिमुक्त।

गंगाघाट से ठाकुरबाड़ी पहुँचते-पहुँचते पाँच माला जय शिव-जय शिव का जाप कर लेती, जो राह में कोई परनाम पाती करे तो प्रतिउत्तर में भी वह जय शिव-जय शिव कहती। भगवान विष्णु भी शिव जी को दिशा-निर्देशक मानते हैं। फिर आजी कहती थी शिव जी बेहद दयालु हैं, वह सबकी सुनते हैं, अगर किसी प्रयोजन वह अपनी आँखें मूँदे रहते हैं तब माँ गौरा उन्हें संज्ञान में लाती हैं। यहाँ तक कि गौरा के हठ से हार शिवरात्रि व्रत करने वाले निस्सन्तान साहूकार को भी पुत्ररत्न प्राप्ति का वरदान दिया था। आजी उसे शिवरात्रि से जुड़े अनेक किस्से सुनाती थी, वह भी शिवरात्रि व्रत करना चाहती है किन्तु उसका शिवाला जाना निषेध है, एक विधवा स्त्री और लिंग पूजा? जघन्य अपराध से कौड़ी-भर भी कम नहीं। कलयुग में भी सम्भाव्य नहीं, वह मन मसोसकर रह जाती है।

शिवरात्रि के दिन बेलपत्र, भाँग, धतूरा और सफ़ेद अपराजिता से भरे बाँस पात्र और कच्चा दूध ले शिवाला जाती गाँव-भर की कुँवारियों को देख उसका मन कितना तो हुलसता। स्त्रियों का ऐसा त्योहार जिसमें कुवारियाँ और सुहागिनें दोनों ही समान रूप से सहभागी होतीं। आसपास के पचास गाँवों में भी शिवरात्रि का ऐसा उत्सव नहीं था, दूर-दूर

के गाँवों से सगे-सम्बन्धी और समीप के गावों से आगुन्तकों की ऐसी भीड़ लगती कि स्वयं के परिजनों को खोजना मुश्किल। एक दिन का मेला वर्ष भर संस्मरण में रहता।

शिवाला की रँगार्ई-पुताई महीने-भर पहले से शुरू हो जाती, दस दिन पहले से घर-घर से नवोढ़ा की राता साड़ी इकट्ठा कर शिवाला को किसी दुल्हन की तरह सजाया जाता। शिवरात्रि के दिन रात-भर भजन-कीर्तन चलता, बुजुर्ग सुहागिनें शाम से शिवाला पहुँच नयी दुल्हन के लिए जगह छेक रखतीं। अम्मा भी अपनी पतोहू के लिए ऐसा करती है। शिव-गौरा विवाह देखने मन्दिर प्रांगण में समूचा गाँव उपस्थित होता। घर में रह जातीं विधवाएँ। अकेली, ढिबरी के प्रकाश में अपने भाग्य के अन्धकार को कोसती।

उस दयालु-कृपालु तक उसकी पुकार भला कैसे पहुँचे?

मन के भीतर संशय की ऐसी उथल-पुथल, प्रेमपाश में बँधी तरुणी की हृदय गति-सी, रात्रि के तीसरे पहर देखे गये स्वप्न-सी विकल वह ठाकुरबाड़ी पहुँच गयी है। उसके क़दम द्वार पर हठात् ठिठक गये, वह किस मुँह से बैकुण्ठ ताकेगी, किस हाथ शृंगार साधेगी। क़दम पीछे हट गये। मन दुश्चिन्ताओं से घिर गया, जैसे उमस भरी दोपहर की किसी सन्ध्या शुभ्र नभ धूम-मेघ से भर आता है।

“ईश्वर निष्कवच हृदय की पुकार सुनते हैं, देह तो माटी है, माटी निर्मित माटी में मिल जायेगा”, अम्मा रामायण जी पढ़कर रखते हुए दोहराती। शुद्ध आत्मा से कलुषित देह भी पुकारे तो अरज पहुँच जाती है।

दिनचर्या से निवृत्त नित्य भाँति उतरी धोती आँगन में झूलते तार पर फैला चहुँओर नज़र घुमायी, ओसारे पर बने मिट्टी के चूल्हे पर चाय उबल रही थी, आदी की तीक्ष्ण गन्ध से घर-आँगन महक रहा था। रोज़ की तरह उसका जी भी ललचा गया। इ चाय की बीमारी भौजी अपने नैहर से लेकर आयी है, कहती है सुबह सकाल उठकर जब तक चाय न सुरक ले तब तक तबीयत से नींद नहीं खुलती और एक गिलास चाय गृहस्थ औरतों को सुबह बीत जाने तक थामे रखने के लिए पर्याप्त होती है। लेकिन इ विष्णु तो जैसे चाय का नशेड़ी है जिसकी लत वह लेकर आया था। दिन में कम-से-कम चार बार चाय सुरकता है तब उसकी आत्मा तृप्त होती है।

वह भी चाय की आदी हो गयी है, अपनी पृथक रसोई में चाय चढ़ा बागीचे का रुख किया, मन रुचने वाली सब्ज़ी तोड़ धोयी और चाय पीते हुए काटकर छौंक लगा दिया।

उसके कमरे से सटा एक छोटा कमरा उसकी रसोई है, कुछ गिने-चुने बर्तन और एक गैस चूल्हा। गैस चूल्हा आने से पहले ओसारे में उसका अपना अलग चूल्हा था, जिसे उसने स्वयं अपने हाथों से बनाया था। गैस चूल्हा दादा ने लाकर दिया था उसकी सुविधा के लिए, प्याज-लहसुन की गन्ध से परहेज़ की खातिर उसने अपनी रसोई कमरे में कर ली। उसका खाना सादा बनता है, सिर्फ़ हल्दी-नमक के साथ। कभी-कभी अम्मा का नेह उलीच आता

है- 'तनी स्वाद तो चखा,' तो कभी-कभी भावजों का प्रेम उमड़ आता, 'आपके हाथ में बड़ा स्वाद है', उस पर विष्णु चिहुँककर कहता, 'प्रसाद जैसन सवाद।'

तुम कब चखा रे झुट्टा? अम्मा ने दुलार से झिरक दिया।

'कराही में तनी लगल था तो चाट लिए,' फिर खुद ही लजा कर आँखें झुका लेता।

उसने देखा विष्णु अब बड़ा होकर हट्टा-कट्टा मरद हो गया है, उसकी देह से मर्दानी महक आती है। उसके ऊपरी होंठों के कोमल रोओं की जगह काले घनेरे बालों ने ले ली है, काँखों में भी घनेरे रोयें उग आये होंगे जो अभी दादा की पुरानी बुशर्ट में छुपे हैं किन्तु बालपन आज भी मुख से ऐसे चूता है जैसे टूटा छप्पर सावन में। सिर्फ उसकी क़द-काठी खिली है, माथा आज भी बालकों जैसा ही है। दरअसल मूर्ख, चपाट, बकलोल। गाँव जावर के लोग अर्द्धविक्षिप्त कहते हैं, मने आधा पागल और इसलिए बाबूजी निश्चिन्त हो उसे घर के भीतर ले आये और वह गृहिणियों के सहायक के साथ-साथ मन बहलाव का भी साधन हो गया। भौजी उसे छेड़ने का कोई मौका नहीं गँवाती।

समय को जैसे किसी ने कटैया बेंत मार दिया हो, कुत्ता जैसन सरपट भागता जा रहा है। जब विष्णु आया था तब वह बालक ही था, लगभग उसकी उम्र का या एकाध साल बड़ा-छोटा। विष्णु की मसं फूट पड़ी थीं और उसकी माहवारी शुरू हो गयी थी।

शुरुआत में विष्णु माथा और गोर दाबने के अलावा घर भर को चाय-पानी पहुँचाता, बाद में चाय बनाने का काम भी उसी को सौंप दिया गया। जब वह गंगाघाट जाती है तब विष्णु उसके कमरे और रसोई की साफ़-सफ़ाई कर देता है, उसकी उपस्थिति में विष्णु का उसके कमरे में प्रवेश वर्जित है।

घर की नींव की अपेक्षा नियम अधिक सख्त हैं, यह नियम पूर्वजों के बनाये हुए हैं, पीढ़ियाँ उन नियमों का पालन करती हैं किन्तु देह इन नियमों को नहीं मानती, कितने तो जतन करती है, ठाकुर जी को पूजना, शिव जाप करना, रामायण जी पढ़ना, किन्तु बाह्य आडम्बरों से क्षणिक-सा विराम मिलता है कि एकान्त में जोगी-सा झोला फैलाये आ खड़ा होता है। कभी-कभी मन होता है ठाकुरबाड़ी के कुएँ में धौंस दे दे, और अनन्त जलकुण्ड में विलीन हो जाये, शायद जलकुण्ड उसकी देह की अग्नि को शान्त कर सके।

छोटका शहर में पढ़-लिख गया तो उसने घर के नियम तोड़ने की कोशिश कर, उसके पुनर्विवाह की बात की थी, तब आजी ने कितना तो प्रपंच किया था।

"गाँव-भर में दस से कम न हैं एकरा जैसन, कौनो का भाई दूसर बियाह का नहीं कहा, बुजुर्ग का अवहेलना करन से सत्यानाश होगा, सत्यानाश।"

बाबू जी ने भी लताड़ दिया था, "पढ़े से लोग पगला जाते हैं का?"

अम्मा का मौन न समर्थन था न विरोध, वह चुपचाप अनन्त में देख रही थी। शायद नियमों में बँधकर काठ हो गयी थी। लेकिन मँझली और छोटका के बखत अम्मा ने खूब उपद्रव किया था। बाबू जी को लगभग चेतावनी देते हुए कहा था, "अब ई घर मा नुनुआन

में कोई के बियाह न होई।” फलस्वरूप मँझली की शादी महीना होने के साल-भर बाद और छोटका का बियाह शहर की पढ़ाई के बाद हुआ।

अम्मा अक्सर उसको करुण भाव से निहारती, मानो कहती हो, “हमको माफ़ कर दो बिटिया, हम तुमरे खातिर कछु न कर सके।”

जब तक आजी जीवित रही उसे अपने साथ गंगाघाट ले जाती, साथ ठाकुर पूजती, साथ खाना पकाती-खाती और साथ सोती। आजी उसका हाथ पकड़कर सोती, कहती, “आजी पोती का किस्मत एक्के जैसन”, वह आजी की इस बात से सहमत नहीं थी, “ब्रह्मा हमरा जैसन किस्मत कौनो दुश्मन को भी न लिखे। आजी को तो तमाम सांसारिक सुख भोगने के बाद बुढ़ापे में वैधव्य का दुख मिला। आजी उसके जैसन बाल विधवा नहीं। उसका तो गौना भी नहीं हुआ था, एक दिन जब वह आँगन में कित-कित खेल रही थी तब ससुराल से नौन दुख का पहाड़ लाकर उसके जीवन में धर गया। उसका विष्णु टाइफाइड की महामारी में...इसके आगे की सोच रास्ता भूल गयी।

वह उसकी सूरत-मूरत भी भूल गयी है, कमरे के सन्दूक में अवशेष रखे हैं, लाल राता साड़ी, सितारा जड़ी ओढ़नी, छोटी-छोटी बिछिया और एक जोड़ी पायल जिसे पहनने की ज़िद उसने बालपन में कई बार की। एक बार अम्मा ने उसके गाल पर थप्पड़ ही रसीद कर दिया और कमरे में बन्द कर दिया तब से वही कमरा उसका घर-दरवाज़ा, उसका संसार बन गया! वह अपने संसार में सिमटकर रह गयी। धीरे-धीरे वह बाहरी संसार से कटती गयी और मिर्ची के बीच पपीते के पेड़-सी अकेली होती गयी।

गोतिया समाज उसकी छाया से भी दूर भागता, घर की सुहागिनें नहा-धो बिना सिन्दूर उसका मुँह नहीं देखतीं, एक बार तो अम्मा ने भी कह दिया था, “सिन्दूर लगावे से पहले तू सामने न आया कर।”

घर में शादी, गौना, गोदभराई, छट्टी, मुण्डन होता रहा लेकिन वह बन्द कमरे से सिर्फ़ शोर सुनती रही, जो कभी वह किसी शुभ कार्य में सामने पड़ जाती तो आजी अम्मा को ख़ूब कोसती, “करमजली को झिझर काहे नहीं चढ़ा रखती, अभगली का नज़र पड़ेगा तो शुभहो अशुभ हो जायेगा।”

भंगेड़ी मौसम की पदचाप सुनाई देने लगी थी, हवा में महुआ महकने लगा था, जाड़ा धीरे-धीरे रज़ाई से निकल मोटे ओढ़ना में सिमट गया था। शिवरात्रि का दिन समीप है। मँझली बाल-गोपाल समेत ससुराल से आ गयी है, एक-दो दिन में पीछे से पाहुन भी आ जायेंगे और होली के बाद ही जायेंगे। इस साल शिवाला सजने छोटका की कनिया का राता जायेगा।

घर में सारा दिन हँसी-मज़ाक़ चलता रहता है, कभी मँझली और पाहुन को लेकर तो कभी छोटका और कनिया को लेकर। भौजी का इस सब में ख़ूब मन लगता, विष्णुआ मौगा औरतन के बीच में घुसा खिखियाता रहता है।

मौगियों के बीच रहकर विष्णुआ स्वभाव से मौगा हो गया है, किन्तु क़द-काठी बेहद कँटीली है। उस दिन जब वह बागीचे में नेनुआ तोड़ रही थी तब वह अचानक ही दूर से आता दिखा था, नग्न देह पर कमर से हरे छींट की लुंगी बँधी थी और कन्धे पर गमछा। वह उसे तब तक एकटक देखती रही जब तक वह आँखों से ओझल न हुआ। उसकी रग-रग से मर्दानगी टपकती है। बड़की भौजी जब-तब उखड़ी ओसारे से अँगना और अँगना से ओसारे कराती रहती है। भौजी उसको कभियो चैन से बैठने नहीं देती, कभी इ काम त कभी ऊ काम कुछ नहीं त तरकारिये काट दे। उसका जी बहुत जलता है। मन-ही-मन वह भौजी को हज़ार उलाहने देती है, तनिक बैठे दो, सुस्ताये दो, बतियाये दो लेकिन नहीं बैल जैसन हाँकते रहती है बीच-बीच में उसे चिरकाती भी है, “कौनो पसन्द है तो बोलो?”

इस बाबत वह क्रोध से भर जाता, हाथ में पकड़ी उखड़ी फेंक देता।

फिर भौजी कितना तो मनुहार करती तब मानता वह।

“ई बुरबक को कौनो पार्वती का योनी मिले तो मगज ठण्डा हो”, मँझली ने उसकी मासूमियत पर कटाक्ष किया जो उस बकलोल के पल्ले नहीं पड़ा।

आज नहाय-खाय है, कल शिवरात्रि की तैयारी घमाघम चल रही है, उसके गंगाघाट से लौट आने से पहले कुल घर झाड़ू-बुहारू के बाद गोबर से लीपा गया है, चूल्हा-चौकी सब चमक रहा है। आज सबका खाना साथ बनेगा बिना प्याज-लहसुन वाला। उसके आते ही विष्णु ने चाय का गिलास पहुँचा दिया।

मँझली और नइकी हँसी-मज़ाक़ में लिप्त हैं, भौजी बीच-बीच में आकर छौंका लगा जाती है, “ए बबनी नहा लीजिए तब न पाहुन भोग लगायेंगे।”

वह दूर घर की भीतरी चौखट पर बैठी अपने भाग्य को कोस रही है। मँझली ने पिछला जनम शिवरात्रि ख़ूब मन से किया होगा, शिवलिंग को हाथों से मल-मलकर पहले गंगाजल से नहलाया होगा फिर दूध, दही और मधु मलकर भाँग औ धतूरा से सजाया होगा। तब ही ऐसा उज्ज्वल भाग्य है, माँग में दमकता लाल सिन्दूर, गोदी में खेलता बालक।

उसे अपनी ही बहन के भाग्य से ईर्ष्या होने लगी, उसका जी चाहा वह उसकी गोदी से उसका बेटा छीन ले उसने वहीं बैठे-बैठे आवाज़ लगायी, “ऐ विष्णु, तनी बबुबा को हमरे गोदी लाना।”

“दिदिया ऐजे आ जो,” मँझली ने लाड़ से पुकारा।

“नैय-नैय, ओजा हमरा लेखा बात नैय, हम दुरे ठीक छी” कहते हुए बबुआ को गोदी में लेवे खातिर उसने पालथी मार ली। बबुआ को गोदी में धरते हुए विष्णु की उँगली उसकी जाँघों को छू गयी। उसे जैसे झटका-सा लगा, पूरी देह झनझना गयी, उसने विष्णुआ को देखा उसके चेहरे से ठीक वैसी ही मासूमियत चू रही थी और आँखों में नबी का नक्श जैसी बालपन में।

वह लम्पटों की नज़र पहचानती है, भौजी का भाई जब भी आता है उसे लिजलिजा लगता, चापाकल के पास गन्दे पानी में टर्-टर् करते बेंग जैसा। उसे देखते ही पान चबाये पीले दाँतों के बीच उसकी लाल जीभ ठीक वैसे ही लपलपाती जैसे कोई पतिंगा देख गिरगिट की। वह उसके समक्ष पड़ने से परहेज़ करती है।

भाइयों की कलाई और पिता के पैर स्पर्श करने के अतिरिक्त उसने किसी अन्य पुरुष का स्पर्श नहीं जाना, पण्डित जी प्रसाद देते हुए हाथ ऊँचा रखते। किन्तु आज विष्णु के स्पर्श से विचित्र-सा कम्पन अनुभव किया, देह में तरंगें दौड़ने लगीं, तलवे में गुदगुदी होने लगी। अभी वह इन अबूझों को समझने का प्रयत्न कर ही रही थी कि बबुआ ने गोदी में पेशाब कर उसके चित्त की दशा बदल दी, “ऐ विष्णु, ले जा एकरा, गोदी में मूत दिया छोरा।”

“ई छौरा जेकरे गोदी में मूतता है उसका मनोकामना सिद्ध होता है दिदिया”, कहते हुए मँझली ने बबुआ को उसकी गोदी से उठा लिया।

शिवरात्रि के दिन निर्जला उपवास रखने वाली सुहागिनें दोपहर तक अलसाई-सी थीं। किन्तु शाम होते ही सक्रिय हो सभी सुहागिनें नहा-धो शृंगार कर तैयार हो गयी हैं, फूल, बेलपत्र औ धतूरा से सजा डलिया ले शिवाला जाने को तत्पर।

वह अपनी अँधेरी कोठरी के निरीह एकान्त में खिड़की से सटे पलंग पर लेटी-लेटी आसमान में टँके चाँद को निहार रही थी। आज चाँद का मुँह टेढ़ा है, चाँद भी कैसा हरजाई है रोज़ रूप बदलता है, भागवन्तियों को महबूब लगता और मुझ जैसी करमजली को पीतल की थाली किन्तु यह क्या आज चाँद में विष्णु की छवि दिखी। उसने झट से आँखें मूँद लीं, उसे तब भी विष्णु की छवि दिखाई दी, विष्णु उसके भीतर बस गया है वह देर तक आँखें मूँदे पड़ी रही, मन के भीतर बसे विष्णु को निहारती रही। उसका भोला मन, उसकी कँटीली देह, उसके चित्त में बस गयी है। उसकी देहकाट के संस्मरण से उसकी देह के तमाम रोम सावधान की अवस्था में खड़े हो गये। ठीक उसी वक़्त दूर शिवाला में बजी घण्टी की त्वरित और स्वरित ध्वनि उसकी तन्द्रा भंग करती है।

ओह, पूजा-विधि शुरू हो गयी, व्रती स्त्रियाँ शिवलिंग पर दूध, दही, मधु मल रही होंगी जो गौरा के योनि मार्ग से निष्कासित हो रहा होगा।

आजी कहती थी औरत की देह तभी शुद्ध होती है जब उसके भीतर पौरुष का निर्वासन होता है, शिवाला में शिवलिंग और गौरा योनि की प्रस्तर मूरत है जिसकी पूजा विधवाएँ नहीं कर सकतीं। शिव-गौरा के संगम की कल्पना उसकी कामनाओं का पृथक संसार रच रही थी। अनदेखा। अनछुआ। अबूझा।

किन्तु अब वह बूझना चाहती है। अपने भीतर तरंगें महसूस करना चाहती है। वह स्त्री होना चाहती है अपने भीतर पुरुष देह को महसूस करना चाहती है। अपनी अनछुई देह का वितान नहीं होना चाहती क्योंकि वह जान गयी है कि विष्णु ही उसका शिव है।

वह विष्णु की कोठरी का दिया बुझाकर उसके बगल में लेट जाती है।

गोवा का पुराना चर्च, रिज़र्व सीट और एक अकेला दिल

-इरा टाक

वो कई सालों बाद दिल्ली से बाहर निकली थी, बड़ी-बड़ी सवालियों से भरी काली आँखें, कमर तक घुँघराले बाल, भरे हुए होंठ, गोरा रंग, नीले रंग की शिफ़ॉन साड़ी में लिपटा तराशा हुआ शरीर और क्रद करीब पाँच फुट चार इंच। नाम...मीमांसा!

गोवा एयरपोर्ट पर बाहर निकलते हुए उसे दूर से ही गौतम नज़र आ गया था, जो बेचैन निगाहों से उसे ही ढूँढ़ रहा था, पर उसने देखकर भी अनदेखा कर दिया और मोबाइल पर अपनी दोस्त लता का नम्बर मिलाने लगी। एयरपोर्ट पर कई जोड़े मिल और बिछड़ रहे थे, खुशी और मायूसी दोनों ही वहाँ की हवा में घुली हुई थी। इक्कीस साल बाद गौतम से मिल रही थी, ऐसे में खुशी से ज़्यादा घबराहट उसके ज़हन पर तारी थी। गौतम और वो तेईस साल पहले उसकी एक खास सहेली रोमा के घर मिले थे, वो रोमा का चचेरा भाई था और मुम्बई आईआईटी से इंजीनियरिंग कर रहा था। उस वक़्त वो बरेली कॉलेज में बीएससी फ़ाइनल इयर में थी। इस मुलाक़ात के बाद गौतम उसको ग्रीटिंग कार्ड्स भेजने लगा, कभी-कभी उसका फ़ोन भी आ जाता। हमेशा से गर्ल्स कॉलेज में ही पढ़ी थी, गौतम ही पहला लड़का था जिससे उसने पहली बार इतनी बातें की थीं। उन्नीस साल की उम्र में मुहब्बत ने दिल पर दस्तक दी थी। पहली मुहब्बत तेज़ नशे की तरह होती है, दिलोदिमाग़ सब बेक्राबू! घर से फ़ोन करना आसान नहीं था क्योंकि उसका छोटा भाई मोहित हर समय उसकी जासूसी में लगा रहता और माँ का कड़ा अनुशासन था। गौतम से बात करने के लिए वो कई-कई किलोमीटर पीसीओ की तलाश में भटकती थी, तो कई बार रोमा के घर से फ़ोन पर उनकी बात हो जाती। साल-भर बाद जब वो बरेली आया तो रोमा के साथ उसके घर ही आ गया था। उनके जाने के बाद पापा चिल्ला उठे थे, “रोमा का चचेरा भाई तुमसे मिलने क्यों आया?”

“दोस्त है”, मीमांसा ने मासूमियत से कहा।

कैसे दोस्ती हुई, कितनी बार मिली हो, कितने साल का है, क्या करता है, हमारी कास्ट का है या नहीं जैसे न जाने कितने सवाल पूछे गये।

लगभग छह महीने बाद गौतम का बोस्टन में प्लेसमेंट हो गया था, वो अमेरिका जाने से पहले मीमांसा से मिलना चाहता था। तब मीमांसा पहली बार उससे एक कॉफ़ीशॉप में अकेले मिली थी। तब मिलने की खुशी से ज़्यादा उसे किसी पहचान वाले द्वारा देख लिए जाने का डर था। वो बहुत कुछ कहना चाहती थी, पर कुछ न कह पायी। गौतम ने चलते समय अपना हाथ बढ़ा दिया था, वो स्पर्श अपनी हथेली पर लेकर घर लौट आयी थी।

“हाय!” गौतम ने एकदम करीब आकर उसकी तरफ़ हाथ बढ़ा दिया।

“हेल्लो”, उसने हाथ मिलाया।

“कोई प्रॉब्लम तो नहीं हुई आने में?”

“नॉट एट आल”, मीमांसा ने कन्धे उचका दिये।

गौतम के पास बड़ी-सी गाड़ी है, गोवा में एक फार्महाउस और रेस्तराँ है, कई साल बोस्टन, अमेरिका में रहने के बाद वो भारत लौट आया है और गोवा को उसने अपना ठिकाना बनाया है। एयरपोर्ट से उसके फार्महाउस तक जाने में करीब डेढ़ घण्टा लग गया। रास्ते-भर मीमांसा लगभग चुप रही और गौतम उसको गोवा और अपने बारे में बताता रहा। दिल्ली की भीड़भाड़ से दूर हरियाली भरा रास्ता, दूर किनारे पर दिखता समन्दर, रंग-बिरंगे कपड़ों में लोग, वो सब अपनी आँखों में भर रही थी।

इक्कीस साल पहले उनका सम्पर्क टूट गया और फिर लगभग छह-सात साल एक-दूसरे से अनजान रहने के बाद वो दोनों पहले मेल से और बाद में सोशल मीडिया पर जुड़ गये, हालाँकि संवाद न के बराबर था। अचानक एक दिन दस साल पहले गौतम ने मीमांसा का नम्बर माँगा और नम्बर मिलते ही उसका फ़ोन आ गया। वो भारत में था और उससे मिलना चाहता था। मीमांसा उस समय जीवन के बेहद ख़राब दौर से गुज़र रही थी तो उसने बहाने से टाल दिया।

“क्यों मिलूँ? वजह भी क्या है मिलने की?” उसने अपने आप से सवाल किया था

वो अवसाद में थी और इस रूप में उसके सामने जाना नहीं चाहती थी, अपनी ज़िन्दगी में संघर्ष कर रही थी। पुराने दौर के सफल साथियों और दोस्तों से घुल-मिल पाना उसके लिए मुश्किल हो गया था।

“घर आ गया”, गौतम ने उसकी तरफ़ आकर कार का दरवाज़ा खोल दिया।

“इतना ख़याल...इतनी तवज्जो...काश तुमने इक्कीस साल पहले दी होती! जब मैं तुम्हारे प्यार में पागल थी और तुमने मुझे छोड़कर...पता नहीं मैंने तुम्हारे पास आकर सही किया या ग़लत?”

मन-ही-मन वो संशय में थी, फिर भी मुस्कराने की कोशिश करते हुए वो कार से उतरी। हरे-भरे नारियल के पेड़ों से घिरा हुआ गौतम का ख़ूबसूरत-सा घर देखने के लिए वो वहीं कार के पास खड़ी रह गयी। गौतम उसका सामान कार की डिक्की से निकाल रहा था।

“तुमने अमेरिका छोड़कर यहाँ गोवा में रेस्तराँ क्यों खोल लिया?”

“क्योंकि एक नये सिरे से ज़िन्दगी जीना चाहता हूँ, बहुत भाग लिया।”

“तुम्हारे माँ-पापा बरेली नहीं बुलाते?”

“बुलाते हैं, पर तुमको तो मालूम है वहाँ की मेंटालिटी...मुझे ऐसी जगह चाहिए जहाँ कोई किसी की ज़िन्दगी में दखल न दें...गोवा इज़ अ कूल प्लेस।”

“हम्म”

“तुम बरेली जाती हो?”

“नहीं..मेरा अब वहाँ कोई नहीं।”

“अंकल-आंटी और मोहित?”

उसने कोई जवाब नहीं दिया और बरामदे में रखी एक आराम कुर्सी पर लेटकर अपनी आँखें बन्द कर लीं। गौतम सामान लेकर अन्दर चला गया।

“आज बयालीस (42) साल की उम्र में अपने पहले प्यार से मिल रही हूँ, गौतम छियालीस (46) का हो चुका है, वो पहले से ज़्यादा स्मार्ट हो गया है, कितनी मिन्नत की उसने मुझसे मिलने को राज़ी करने के लिए...क्या इतना वक़्त लगता है किसी प्रेम कहानी को मुक़म्मल होने में? पर ये मुक़म्मल होना भी कहाँ है! जब मैं उसे चाहती थी, उसने कभी इज़हार नहीं किया, मैं इन्तज़ार करती रही, प्यार में हम सब अपने हिसाब से समझते और देखना चाहते हैं। आँखें उस दिन खुलीं जब वो अपनी शादी का कार्ड बड़े सहज भाव से देने आया था। गौतम से हमेशा चिढ़ने वाले मेरे मम्मी-पापा पहली बार उसके आने पर बहुत खुश थे। उनकी नज़रों में मेरे लिए हिक़ारत थी-क्यों यही है न वो लड़का जिससे तुम बार-बार मिलना चाहती थीं? जिसके लिए तुम अपने छोटे भाई और पेरेंट्स से लड़ाई करती थीं, जिसको चोरी से फ़ोन करती थीं? वो खुश थे कि रास्ते का काँटा हटा, उस दिन उन्होंने गौतम की बहुत खातिरदारी की थी। लड़की कौन है, कैसी है, अचानक उनका इस बात में बहुत इंट्रेस्ट हो गया था और मैं...मेरे कानों तक कोई आवाज़ नहीं गयी। मैं अन्दर-ही-अन्दर बिखर रही थी। दो साल उसको दीवानों की तरह प्यार करने के बाद मेरे हाथ में उसकी शादी का कार्ड और एक मिठाई का डिब्बा था।”

“कॉफ़ी विदआउट शुगर।”

गौतम की आवाज़ जैसे अतीत से आ रही थी, उसने घबराकर आँखें खोल दीं। वो मुस्कराता हुआ सामने था। मीमांसा ने उसके हाथ से कप ले लिया।

“जब से आयी हो एकदम चुप हो, पहले तो ख़ूब बात करती थीं”

“पहले और अब में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है गौतम।”

“सिर्फ़ कुछ सालों का ही तो फ़र्क़ है।”

“वो कुछ साल मेरे लिए इक्कीस साल थे, जब मेरी दूसरी ज़िन्दगी एक बड़े सपने की मौत से शुरू हुई थी”, कहते हुए उसने कॉफ़ी का एक बड़ा घूँट अपने हलक में उतार

लिया।

गौतम ने कुछ नहीं कहा, जैसे उसे खुद ही अपने कहे पर अफ़सोस हुआ।

“जगह बहुत सुन्दर है...तुम्हारा रेस्तराँ कहाँ है?”

“अंजुना बीच पर, पास ही है, शाम को ले चलूँगा। वहाँ बहुत सुकून है तुम चाहो तो वहाँ लिख भी सकती हो एक टेबल परमानेंटली रिज़र्व की हुई है तुम्हारे लिए।”

मीमांसा ने गौतम की ओर देखने की कोशिश की, पर न जाने क्यों उसकी नज़र झुक गयी। उसके अन्दर आज भी उन्नीस साल की उम्र वाली झिझक मौजूद थी। दूसरी तरफ़ गौतम उसको बड़े गौर से देख रहा था जैसे उसके एक-एक भाव को समझने की कोशिश में हो।

“तुम थोड़ा आराम कर लो, फिर लंच पर मिलते हैं।”

“लंच...कौन बनाता है?”

“मैं खुद...इतने साल बाहर रहने के बाद खुद ही आदत हो गयी, दूसरे के हाथ का पसन्द नहीं आता।”

“अच्छा...मुझे खाना बनाने में बहुत आलस आता है या कह लो वक़्त नहीं मिलता। मेरी कुक न होती तो शायद मैं दोनों टाइम मैगी ही खाती।”

“हाँ भई...रानी साहिबा हो तुम।”

पहली बार मीमांसा के चेहरे पर हँसी दिखाई दी। हवा के तेज़ झोंके से उसके घुँघराले बाल माथे पर छिटक आये जिनको उसने तुरन्त जूड़े में बाँध दिया।

“वैसे केमिस्ट्री पढ़ाते-पढ़ाते तुमने इतना अच्छा लिखना कैसे सीख लिया? जब भी तुम्हारे लिखे को पढ़ता हूँ लगता है ज़िन्दगी को बारीकी से महसूस किया है तुमने।”

“चुप रहकर महसूस ही करती आयी हूँ। ज़िन्दगी जिनके हिस्से दुख ज़्यादा लिखती है वो सिर्फ़ ख़्वाबों में ही सुकून पाते हैं। आने वाले सुखों की कल्पना में जीते हैं या फिर पिछले किसी सुख को रिवाइंड और प्ले करते रहते हैं।”

“हो सकता है मैं तुम्हारी तरह इतना नहीं सोचता, मुझे आज में जीना पसन्द है। दुख और सुख की डेफ़िनेशन सबके लिए अलग-अलग है।”

“हम्म...वैसे तुमने मुझे गोवा क्यों बुलाया?”

“क्योंकि मैं कई सालों से तुमसे मिलना चाहता था, बहुत सारी बातें करनी थीं और..”

“और...? काश तुम 21 साल पहले ऐसा सोच पाते।”

“आई कांट मेंड द पास्ट”

“एंड यू कांट हील माय वूंड्स”, मीमांसा की आवाज़ में तल्खी आ गयी।

“बट आई नेवर हर्ट यू।”

“छोड़ो...चलो तुम्हारी हेल्प करती हूँ कुकिंग में।”

मीमांसा का मूड बड़ी तेज़ी से बदलता था। पिछले तेरह सालों से वो अकेली रह रही थी। अपने डाइवोर्स के बाद वो वापस अपने पेरेंट्स के घर नहीं गयी। माँ तो फिर भी कभी-कभी उसके हालचाल पूछ लेतीं लेकिन पिता और भाई उससे बहुत नाराज़ थे। उसने एक छोटा-सा रूम किराये पर लिया और एक प्राइवेट स्कूल में पढ़ाने लगी। सबकी नज़रों में वो ग़लत थी, इसलिए उसने खुद के साथ रहना चुना। बहुत मुश्किल दिन थे, पर उसने हिम्मत नहीं हारी, स्वाभिमान इतना था कि किसी भी दोस्त को जो मदद कर सकते थे अपनी हालत नहीं बतायी।

“मैं बढ़िया हूँ”, कहती रही। एक साल की कड़ी मेहनत के बाद उसने नेट की परीक्षा पास कर ली, इस बार क्रिस्मत उस पर मेहरबान थी। दिल्ली के मिरांडा हाउस कॉलेज में उसको केमिस्ट्री की असिस्टेंट प्रोफ़ेसर के पद पर नियुक्ति मिल गयी। आर्थिक संकट दूर हो चुका था, छूटे हुए नाते-रिश्ते फिर से करीब आने की कोशिश में लग गये, पर उसने अपने चारों ओर दीवार खड़ी कर ली। दिल्ली उसे अच्छा लगता था क्योंकि यहाँ उसे बहुत कम लोग जानते थे, किसी को कोई खास मतलब नहीं रहता था, अपना शहर बरेली उसने हमेशा के लिए छोड़ दिया था।

मिरांडा हाउस कॉलेज में आये दिन साहित्यिक आयोजन होते रहते थे जिनमें उसकी दोस्त लता जोकि हिन्दी पढ़ाती थी, उसको खींचकर ले जाती थी। वहीं से उसकी साहित्य में रुचि जागी और उसने अपने दर्द को कागज़ पर उतारना सीखा। नये दोस्त बनने लगे। धीरे-धीरे उसके नये प्लैट में किताबों से एक बड़ी अलमारी भर गयी। घर में ज़्यादा सामान नहीं था, उसके बेडरूम में मेहरून कालीन बिछा था जिस पर कोने में आठ इंच मोटा सिंगल गद्दा डाला हुआ था जो उसका बिस्तर थाय लैपटॉप, पानी की बोतल, एक डायरी, कुछ पेन, छह-सात किताबें वहीं बिखरी पड़ी रहतीं। दिन कॉलेज में केमिस्ट्री लैब में केमिकल्स और स्टूडेंट के बीच और रात ख्वाबों, म्यूज़िक और कुछ आँसुओं के साथ गुज़रती, कभी-कभी लता के साथ शॉपिंग करने निकल जाती। रात की खामोशी की उसे आज भी आदत नहीं पड़ी थी, रात उसको बहुत अकेला कर देती थी ऐसे में वो रात-रात भर लिखती, लगभग सुबह चार बजे के आसपास उसकी आँख लगती फिर आठ बजे उसकी कुक आकर उसे जगाती, और जल्दी-जल्दी कुछ खाकर वो कॉलेज निकलती।

लता अक्सर बोलती-“यार कुछ तो सुपर पावर मिली है तुझको, दिन-भर भागती है और रात-भर जागती है और फिर भी ओस में भीगे गुलाब की तरह खूबसूरत लगती है।”

तो मीमांसा ज़ोर से हँसती-“चलो कुछ तो दिया है ज़िन्दगी ने मुझको...खुद को शीशे में देखकर ही खुश हो जाती हूँ, सूखी नारंगी की तरह होती तो खुद से मिलने में भी डर लगता।”

एक शाम भारी बारिश में बिल्ली का बच्चा उसकी बालकनी में भीगा हुआ म्याऊँ-म्याऊँ कर रहा था, उसके अन्दर की ममता जाग उठी, उसको अपने पसन्दीदा नीले तौलिये

में एहतियात से लपेटकर अन्दर ले आयी। सोचा कि सुबह छोड़ दूँगी पर फिर वो कभी नहीं गया। लता के कहने पर बिल्ली का नाम 'सुहानी' रखा गया। सुरमई रंग की सुहानी और उसकी हरी-हरी आँखें जैसे मीमांसा के दिल में उतर गयी थीं। उसका जीवन सुहानी के इर्द-गिर्द घूमने लगा, कॉलेज से लौटते ही सुहानी उसकी गोद में आ बैठती, सुहानी के लिए वो एक गोल डलिया बाज़ार से लेकर आयी थी, जिसमें एक छोटा नर्म गद्दा बिछाया हुआ था, पर सुहानी डलिया में कम और उसके बिस्तर पर ज़्यादा सोती थी। सुहानी से वो ढेरों बातें करती और सुहानी गर्दन दायें-बायें करके ऐसे जताती जैसे वो सब समझ रही हो, वो ज़्यादा खुश रहने लगी थी, आँखों में एक चमक आ गयी थी। मीमांसा को अफ़सोस होता कि पहले क्यों किसी बिल्ली, तोते या कुत्ते को पालने के बारे नहीं सोचा, ख़ामख़ाँ ही इतनी रातें अकेलेपन के वजन से दबकर गुज़र गयीं।

लिखने से धीरे-धीरे उसका नाम होने लगा, पत्र-पत्रिकाओं में उसकी कहानियाँ छपने लगीं, पहली बार जब उसका नाम अख़बार में छपा तब उसने उसे फ़्रेम करवा लिया। पहली बार उसे अपने वजूद पर फ़ख़्र हुआ। अनजाने पाठकों के मेल और उपहारों से उसका मेल बॉक्स और घर भरने लगा। जीवन का अकेलापन, ख़ूबसूरत एकान्त में बदलने लगा था।

ऐसे में एक दिन गौतम का ई-मेल आया, उसने किसी वेबपोर्टल पर मीमांसा की लिखी कहानी पढ़ी थी और बहुत ख़ुश था। धीरे-धीरे वो दोनों चैट करने लगे। उसने बताया कि शिल्पा से तलाक़ के बाद वो सब छोड़कर गोवा में सेटल हो चुका है। उनका इकलौता बेटा ज्ञान अपनी माँ के साथ ही अमेरिका में रहता है। छुट्टियों में गौतम के पास आ जाता है और कभी गौतम उससे मिलने अमेरिका चला जाता है। शिल्पा अब भी उसकी दोस्त थी। मीमांसा को ऐसे रिश्ते समझ नहीं आते, अगर दोस्ती और मिलते रहने की गुंजाइश होती है तो लोग अलग ही क्यों होते हैं? गौतम की शादी के बाद वो गहरे अवसाद में आ गयी थी सिर्फ़ रोमा से ही अपने मन की बात शेयर करती थी, न जाने कितने रातें उसने रोमा के घर रो-रो के बिताई थीं। एक साल बाद रोमा की भी शादी हो गयी और वो अपने दर्द के साथ अकेली रह गयी थी।

गौतम लगभग उसे हर रोज़ मैसेज करने लगा था, उसे भी अच्छा लगता था। और फिर एक दिन उसने गौतम को बताया कि वो अपने पति विशेष से बारह साल पहले अलग हो चुकी है और तब से वो अकेली है।

उस दिन गौतम हिल गया था, "बारह साल!"

"तुमने एक बार भी मुझे नहीं बताया...क्यों...कैसे हुआ"

तब मीमांसा ने चिढ़कर कहा था-"क्यों बताती, क्या रिश्ता था हमारा, दोस्त भी तो नहीं थे तुम मेरे!"

उसके बाद हफ़्ते भर उनके बीच कोई बातचीत नहीं हुई। आठवें दिन सुबह-सुबह ही गौतम ने उसे फ़ोन करके गोवा आने को कहा। दीवाली करीब थी और गौतम बार-बार उसे

बुला रहा था। आखिर लता के उकसाने पर वो गोवा जाने को तैयार हो गयी, सुहानी को रखने की ज़िम्मेदारी लता ने ले ली। वैसे तो उसके मन में गौतम के लिए प्यार जैसा कुछ बचा नहीं था, पर एक जुड़ाव था जिसकी डोर उसके अतीत से जुड़ी थी। वो पूरी तरह कभी उससे कट नहीं पायी। इसलिए सोचने लगी कि एक बार मिल लेने में हर्ज़ ही क्या है! टिकट गौतम ने ही भेजे थे। वो अकेला था, उसे पता था कि मीमांसा उसे कितना प्रेम करती थी। जिस उम्र में वो मिले थे, उस उम्र में तो हर लड़की अच्छी लगती है, मीमांसा का उसके लिए गिफ्ट्स भेजना, लम्बे-लम्बे खत लिखना, मेल करना उसे अच्छा लगता था पर अमेरिका में जब उसकी मुलाक़ात शिल्पा से हुई तो सब बदल गया। वो दोनों पड़ोसी थे, वो अपने पिता के साथ एक भारतीय रेस्तराँ चलाती थी। गौतम अक्सर वहाँ डिनर करने चला जाता, शिल्पा ने उसको स्पेशल डिस्काउंट देने की पेशकश की। अनजान देश में वो उसे अपनी-सी लगती थी। दोस्ती फिर प्यार और बहुत जल्दी शिल्पा ने उसको शादी के लिए प्रपोज़ कर दिया। शिल्पा बोस्टन में ही पली-बढ़ी थी, कई ब्रेकअप होने के बाद उसे एक हिन्दुस्तानी लड़के की तलाश थी, वो अपने लिए एक परिवार चाहती थी। गौतम ने एक-दो बार मीमांसा से शिल्पा का ज़िक्र किया था, जिसको सुनकर मीमांसा सहम गयी थी। वो उसे बार-बार भारत आने को कहने लगी, गौतम भारत लौटा, मीमांसा के घर गया लेकिन अपनी शादी का कार्ड देने। बस यहीं से सब खत्म हो गया था।

सब्ज़ी काटते हुए मीमांसा एकटक खिड़की से बाहर देख रही थी, दूर नज़र आता समन्दर, नारियल के पेड़ों का घूँघट किये उससे गले मिलती सुनहरी रेत, सब कुछ कितना सुन्दर था। गौतम ने अपना घर बहुत सलीके से सजाया हुआ था। वो खुश होना चाहती थी, पर अन्दर-ही-अन्दर कोई घुटन थी।

प्याज भूनता हुआ गौतम उसको बाँहों में भरना चाहता था पर मीमांसा का ठण्डा और अनमनापन उसे रोक रहा था। खाना बनाते हुए दोनों के बीच में कोई बातचीत नहीं हुई पर दोनों को एक-दूसरे की मौजूदगी अच्छी लग रही थी। बरसों अकेला रहा इन्सान, दूसरे इन्सान की साँस से भी सुकून महसूस करता है। गौतम इस जमी हुई बर्फ़ को पिघलाना चाहता था, वहीं मीमांसा चैट करने में जितना सहज थी यहाँ उतना ही असहज महसूस कर रही थी।

“चलो समन्दर तक चलते हैं”, लंच के बाद वो अचानक बोल पड़ी।

समुद्र तट पर इक्का-दुक्का लोग थे। कुछ देर चुपचाप चलने के बाद गौतम बोला, “तुम उतनी ही मासूम और खूबसूरत हो जितनी पहले थीं, बल्कि अब और ज़्यादा हो गयी हो, तुम्हारे फेस पर एक अलग तरह की चमक और कॉन्फ़िडेंस है।”

“हाँ ज़िन्दगी ने बहुत कड़वाहट दी पर मैंने अपनी मिठास बचाये रखी, कम-से-कम चेहरे की मासूमियत तो”, वो ज़ोर से हँस दी।

कानों में बड़े-बड़े खूबसूरत झुमके, जिनके निचले हिस्से में खूबसूरत मोती लटक रहे थे, उसके घुँघराले बाल झुमकों में उलझ रहे थे। गौतम ने उसके झुमके से लिपटे बालों को निकालने की कोशिश की।

“मेरे एक फैन ने भेजे थे।”

“जलवे हैं राइटर साहिबा।”

गौतम ने उसका हाथ थाम लिया और उससे थोड़ा सटकर चलने लगा। मीमांसा ने उसके शरीर की तपिश महसूस की, ये स्पर्श उसे आज भी याद था। बीते इक्कीस सालों की दूरियाँ वो मिटा देना चाहती थी, पर ज़िन्दगी रिवाइंड कहाँ हो पाती है! पास होते हुए भी गौतम के लिए उसके मन में मीलों-सदियों के फ़ासले थे।

बीच पर चलते हुए मीमांसा की नज़र एक पुराने चर्च पर पड़ी, 1623 लिखा हुआ देख उसकी रुचि बढ़ गयी। उसे पुरानी और वीरान इमारतें बहुत आकर्षित करती थीं।

“वाओ, चर्च!”

“चार सौ साल से ज़्यादा पुराना है, खँडहर हो गया है कभी-कभी कोई कैंडल जलाने आ जाता है।”

“चलो देखते हैं”, मीमांसा ने उसका हाथ खींचा।

दोनों चर्च के अन्दर घुस गये, दीवारों पर दरारें थीं, दरारों से कुछ पौधे जीवन की तलाश में पनप आये थे। मदर मैरी की मूर्ति पर भी जाले लगे हुए थे, उनके ठीक सामने एक मोमबत्ती जल रही थी, मीमांसा जलती हुई मोमबत्ती की मदद से बाक़ी बुझी हुई मोमबत्तियों को सीधा करके जलाने लगी। गौतम को लग रहा था जैसे मीमांसा ही उसके जीवन में प्रेम की बुझ चुकी मोमबत्ती जला सकती है। वो उसे एक मासूम बच्ची की तरह लगती, जिसकी इच्छाएँ कम थीं और जिज्ञासाएँ बहुत बड़ी!

मोमबत्तियाँ जला चुकने के बाद वो एकटक मदर मैरी को देखने लगी, गौतम वहीं पास में रखी बेंच को साफ़ करके बैठ गया। फिर अचानक वो मुड़ी और गौतम के करीब आ गयी। उसकी आँखों में आँखें डालकर देखने लगी-

“तुम जानना चाहते थे न कि मेरा डिवोर्स क्यों हुआ।”

वो अचानक आये इस सवाल को समझ नहीं पाया।

“तुम्हारी वजह से।”

“मेरी वजह से..?” वो अकबका गया।

“पर शादी के बाद तो मेरा और तुम्हारा कोई कॉन्टेक्ट ही नहीं था।”

“क्या फ़िज़िकल कॉन्टेक्ट ही मैटर करता है? तुम्हारी शादी के बाद मैं टूट गयी थी, खुद को पढ़ाई में झोंक दिया। एमएससी के बाद पापा ने रिश्ता पसन्द किया, मैंने बिना कुछ सोचे ‘हाँ’ बोल दिया, मैं उस दर्द से छुटकारा पाना चाहती थी। विशेष देखने में बहुत सुन्दर था तुमसे कहीं ज़्यादा स्मार्ट और पैसेवाला।”

गौतम की आँखें मीमांसा के होंठों पर टिकी थीं, उनसे निकला एक-एक शब्द वो सुनने से पहले पढ़ लेना चाहता था। मीमांसा कुछ पल खामोश रही जैसे वो गौतम को सज़ा दे रही हो।

“ये बात आज तक मैंने किसी से नहीं बोली, अपनी किसी खास सहेली तक से नहीं, पर आज लगा कि तुमको बता दूँ।”

“आई एम लिसनिंग।”

“हम हनीमून पर बैकॉक गये थे, दिन-भर हम घूमते और रात में वो मुझे पर टूट पड़ता। मैं चाहकर भी उससे कनेक्ट नहीं हो पा रही थी। सेक्स का इतना क्रेज़ क्यों होता है, मुझे समझ नहीं आ रहा था। मुझे उसका छूना ही बुरा लगता था। जैसे मेरा रेप हो रहा हो, पर मैं कुछ नहीं बोलती। हम वापस लौटे तो मैं कुछ दिनों के लिए मायके आ गयी। मेरा वापस जाने का मन ही नहीं करता था। सब बोलते थे नयी शादी है, चेहरे पर कोई खुशी क्यों नहीं? कमी मेरे ही अन्दर थी, विशेष मेरा बहुत खयाल रखता था। मैंने सेक्स में इंटेस्ट जगाने के लिए कई किताबें पढ़ीं, वीडियोज़ देखे पर मुझे इन सब बातों से घिन आती थी। मेरे कई बार टालने के बाद विशेष मुझे लेने आ गया। वो मुझे पाने को बेताब था और मैं मन-ही-मन में मर रही थी। रोज़ रात का वही सिलसिला!”

मीमांसा की आँखें आँसुओं से डबडबा गयीं, गौतम ने उसका हाथ थामने की कोशिश की पर वो उठ खड़ी हुई और चर्च से बाहर निकल गयी, वो उसके पीछे गया। वो समझ रहा था कि मीमांसा के मन पर गहरा ज़ख़म है।

वो समन्दर के करीब जा पहुँची थी उसके पैरों को लहरें भिगो रही थीं, गौतम चुपचाप उसके पास जाकर खड़ा हो गया और उसके कन्धे पर हाथ रख दिया। मीमांसा की आँखों में टिके हुए आँसू लुढ़ककर उसके गालों पर आ गये। एक बार को उसका मन किया कि गौतम के गले लगकर फूट-फूटकर रो ले और अपने अन्दर जमे इस दर्द को समन्दर में बहा दे। पर वो झील की तरह ठहरी रही, वो नदी नहीं होना चाहती थी, जिसकी नियति समन्दर से मिलना होता है!

“मैंने बहुत सोचा...मैं तुमसे बहुत नाराज़ थी, बहुत नाराज़! तुम मुझे छोड़ गये थे, नफ़रत थी मेरे मन में, पर मन-ही-मन मैं तुम्हारे लिए तड़पती थी। एक दिन विशेष मुझे पार्टी में ले गया वहाँ उसने मुझे वाइन पिलायी। लाइफ़ में पहली बार मैंने वाइन पी थी, मुझे लगा मेरी बेचैनी में कुछ राहत मिल रही है तो अपने दर्द को कम करने के लिए मैंने दो-तीन गिलास और पी लिये, घर आने तक मैं हाई हो चुकी थी। विशेष मुझे प्यार कर रहा था और इस बार मैं उसका साथ दे रही थी। I was enjoying his every move, I was moaning, shouting, crying and he was super excited .

Suddenly he stopped and started kicking me, abusing me .

“But why ?”-गौतम तड़प उठा।

“क्योंकि मैं बार-बार तुम्हारा नाम ले रही थी...”, मीमांसा फट पड़ी।

गौतम उससे दूर छिटक गया।

“उसके बाद विशेष सारी रात तुम्हारे बारे में पूछता रहा...मेरा तुमसे क्या रिश्ता रहा? हम कितनी बार साथ सोये, हमने कैसे-कैसे सेक्स किया? वो गुस्से में पागल हो गया था और मैं कहती रही कि ऐसा कुछ नहीं था...”

मीमांसा ने गौतम के दोनों कन्धों पर हाथ रखकर उसको झिंझोड़ दिया।

“हमने तो कभी एक-दूसरे को किस तक नहीं किया था, तुमने कभी प्यार से मेरा हाथ भी नहीं थामा था, हम कभी गले तक नहीं लगे थे। मैंने बहुत क्रसमें खायीं, पर उसने मेरा विश्वास नहीं किया। वो बात-बात पर मुझे जलील करने लगा, मारपीट करता, ज़बरदस्ती सेक्स करता। मैं तंग आ गयी थी और एक दिन मैंने अपनी नस काट ली।”

गौतम की आँखों से आँसू बहने लगे वो काँपने लगा और वहीं रेत पर सिर पकड़कर बैठ गया।

“जब आँख खुली तब मैं हॉस्पिटल में थी, उसके बाद मैं विशेष से डिवोर्स के दिन मिली। मैं पागल थी तुम्हारे प्यार में, मुझे इलाज की ज़रूरत थी। पर मेरे दर्द को कोई नहीं समझ रहा था, मेरे घर में सब मुझसे नाराज़ थे, उनके ज़हर बुझे ताने मैं सुन नहीं पा रही थी। मैंने घर छोड़ दिया। मैं खुद को समेटना चाहती थी, जीना चाहती थी। उसके बाद बहुत लड़कों ने मेरे करीब आने की कोशिश की, सबको मेरा शरीर चाहिए था और मुझे कोई ऐसा चाहिए था जो मेरे मन को समझ सके मेरे मन को भर सके।”

मीमांसा ज़मीन पर लेट गयी, सूरज धीमे-धीमे ढल रहा था, समन्दर भी जैसे उसकी बातें सुनकर सहम गया था। अपने हाथ-पैरों को ढीला छोड़कर वो गहरी-गहरी साँसें भरने लगी जैसे अपने अन्दर के अँधेरों से बाहर आने की कोशिश में हो।

गौतम के मन में तूफ़ान मचा हुआ था, क्या उसकी गलती है? क्या मीमांसा ने जो भी सहा उसकी वजह से? क्या वो आज भी उसे प्यार करती है? पर उसकी हिम्मत ही नहीं हो रही थी कि उसको कुछ बोले या पूछे।

दोनों बिना बोले वहीं कुछ देर लेटे रहे। न जाने कितना कुछ चल रहा था दोनों के मन में। अँधेरा घिरने लगा था। गौतम उठ खड़ा हुआ-

“मुझे एक बार रेस्तराँ जाना होगा।”

मीमांसा निढाल-सी थी, उसने हाथ बढ़ाकर उसे उठाया और उसकी कमर को थाम लिया।

“आई वांट टू स्लीप”, वो बस इतना बोल सकी।

अगली सुबह गौतम ने उसे उठाया। वो कुछ हलका महसूस कर रही थी, कान के झुमके साइड टेबल पर रखे हुए थे। जिनके पास एक लाल गुलाब रखा था।

काँफ़ी का कप देते हुए गौतम उसके पास ही बैठ गया-“हाउ आर यू फ़ीलिंग नाउ?”

“बेटर”

उसकी आँखें सूजी हुई थीं पर मन बेहद हलका था। गौतम को एक ज़रूरी काम से पणजी जाना था तो वो भी उसके साथ चल दी, जब तक वो अपनी मीटिंग कर रहा था वो पास बने मॉल में शॉपिंग करती रही। उसके बाद दोनों ने लंच साथ ही किया था, फिर डोना पौला घूमते हुए दोनों शाम को घर लौट आये। दोनों के बीच कल को लेकर कोई बात नहीं हुई।

“कुछ देर रेस्ट कर लें, फिर रेस्तराँ चलते हैं।”

“गौतम...एक बात पूछूँ?”

“हाँ पूछो न!”

“तुम्हारा शिल्पा से डिवोर्स क्यों हुआ? तुमने तो लव मैरिज की थी।”

“यार...लव मैरिज शादी चलने की गारंटी नहीं होती। शुरू में हम बहुत खुश थे। तीन साल बाद बेटा हुआ, रेस्पॉन्सिबिलिटी बढ़ी, धीरे-धीरे हम अपने कामों में इतने बिज़ी रहने लगे कि हमारा रिश्ता साइडलाइन हो गया। दूरियाँ बढ़ती गयीं, रोमांस गायब हो गया। हम दोनों को ही एक-दूसरे से ज़्यादा अपने दोस्तों की कम्पनी अच्छी लगने लगी, ऐसा तभी होता है जब रिलेशनशिप में प्रॉब्लम हो। शायद कुछ ज़्यादा ही जल्दी की थी हमने शादी में। मेरे लिए वो नये देश में एक साथी थी और उसके लिए मैं एक ज़िम्मेदार इंडियन मैन। और एक दिन हमने डिसाइड किया कि अब अलग हो जाना चाहिए।”

“बहुत समझदार हो तुम, कितनी आसानी से तुम कारण जानते-समझते हो और आगे बढ़ जाते हो। बहुत कुछ सीखना होगा मुझे तुमसे।”

“हा हा...थोड़े-बहुत समझदार हुए हैं हम भी, ज़िन्दगी की ठोकरों से। एक घण्टा आराम करके फिर चलते हैं”, गौतम मुस्कराता हुआ अपने कमरे की तरफ़ बढ़ गया और मीमांसा कुछ देर वहीं ठहर गयी।

देर शाम जब गौतम ने उसका दरवाज़ा खटखटाया तो वो हमेशा की तरह साड़ी में लिपटी हुई नहीं थी, उसने ब्लैक कलर की ऑफ़ शोल्डर शॉर्ट ड्रेस पहनी हुई थी जो वो आज ही पणजी से खरीदकर लायी थी, बालों को उसने क्लिप कर के अपने बायें कन्धे पर ले लिया था। एक बार तो वो उसे देखता ही रह गया, पहली बार वो इस रूप में थी एकदम अलग और बेहद दिलकश नज़र आ रही थी। पैरों में गोल्डन हील्स थीं जिनको पहनकर चलने में वो बार-बार लड़खड़ा रही थी। गौतम उसका हाथ थामकर कार तक लाया फिर कुछ सोचकर वो अपनी बुलेट निकाल लाया। मीमांसा ने अपना पर्स बीच में रख लिया ताकि उनके बीच दूरी बनी रहे। तेज़ रफ़्तार, समन्दर में भीगी नमकीन हवा और रास्ते में आते स्पीड ब्रेकर, वो बार-बार गौतम के कन्धों को थाम लेती। बुलेट पर बैठी हुई वो खुद को

टीनएजर महसूस कर रही थी। दोनों के अन्दर एक तूफ़ान-सा उठने लगा था। अंजुना बीच पर गौतम का 'द डिवाइन शोर' नाम का रेस्तराँ था। वो रेस्तराँ के बाहर रेत में रखे झूले पर बैठ गयी। वो हमेशा से एक ऐसा झूला लेना चाहती थी। आसमान पर बिखरे हुए सितारे और पैरों में समन्दर वो जैसे एक ख़ूबसूरत सपने में थी। गौतम अन्दर चला गया था। रेस्तराँ में लाइव बैंड परफॉर्म कर रहा था, जिस पर कुछ जोड़े नाच रहे थे। कुछ देर बाद गौतम उसे अन्दर ले गया, जहाँ एक कॉर्नर की टेबल पर एक रेड वाइन की बोतल और दो गिलास रखे हुए थे। बीच में एक गुलाब के आकार की ख़ुशबूदार मोमबत्ती जल रही थी। उससे सटी दीवार पर 'परमानेंटली रिज़र्व्ड' लिखा हुआ था, जिसे देखकर वो हँस पड़ी।

"मुझे लगा तुम मज़ाक़ कर रहे हो, ये तो वाक़ई रिज़र्व्ड है!"

"हाँ तुम्हारे लिए।"

ये शब्द मीमांसा के दिल में उतर गये, वो कुछ नहीं बोली। उसे गौतम के मुँह से अपना नाम सुनना बहुत पसन्द था। गौतम ने एक कुर्सी खिसकाकर उसे बैठने का इशारा किया और ख़ुद सामने रखी कुर्सी पर बैठ गया। बिना कुछ कहे उसने वाइन दोनों गिलासों में डाल दी और एक गिलास मीमांसा की ओर बढ़ा दिया।

"टू अवर हैप्पीनेस एंड पीस...चियर्स!"

"चियर्स!"

दोनों चुपचाप वाइन की सिप लेते रहे, वेटर आकर कुछ स्टार्टर रख गया था। कुछ देर बाद गौतम ने उसे डांस करने को कहा, थोड़ी-बहुत न-नुकुर के बाद वो खड़ी हो गयी। उसने अपनी हील्स उतार दीं और नंगे पैर डांस फ्लोर पर गौतम के साथ थिरकने लगी। वो बहुत ख़ुश थी, वो सारी कड़वाहट, सारा दर्द भुला देना चाहती थी। वाइन का सुरूर उस पर छाया हुआ था। वो आज बेफ़िक्र थी, उसने जो भी सोचा था, सब हो रहा था बस तेईस साल लग गये। गौतम उसे बड़ी सावधानी से छू रहा था मानो कोई मिट्टी की गुड़िया हो। वो अपने अन्दर जगती हुई प्यास को महसूस कर रहा था, पर पहल करने से बच रहा था। मीमांसा ने ख़ुद को गौतम की बाँहों में छोड़ दिया, सालों बाद किसी पुरुष का स्पर्श और वो भी वो पुरुष, जो उसका पहला प्यार था। वो पिघल रही थी, उसको प्यार करना चाहती थी। तेज़ आवाज़, नशा और उस पर शरीर में धधकती कामना, मीमांसा को थकान-सी होने लगी। मीमांसा ने गौतम को घर चलने का इशारा किया। वो गौतम का सहारा लेकर बाहर आयी, गौतम ने उसके हील्स अपने हाथों में थाम रखे थे। वो बुलेट पर गौतम के पीछे बैठ गयी। इस बार उसने बीच में पर्स नहीं रखा, बल्कि कन्धे पर टाँग लिया। गौतम ने उसकी हील्स हैंडल पर लटका लीं। मीमांसा ने अपनी बाँहों में गौतम को जकड़ लिया। वो उसके स्पर्श से उन्मादित हो रहा था। मीमांसा की पलकें भारी हो रही थीं, उसने अपनी आँखें बन्द कर ली थीं, गौतम बार-बार उससे कहता-

"सो मत जाना, ठीक से बैठना।"

किसी तरह खुद पर क्राबू रखकर वो फार्महाउस तक पहुँचे। अन्दर पहुँचते ही मीमांसा ने अपना पर्स लापरवाही से सोफ़े पर फेंक दिया और खुद भी वहीं पसर गयी। गौतम धीरे-से उसके पास आया, मीमांसा ने उसे अपनी तरफ़ खींच लिया। गौतम ने अपने होंठ उसके होंठों पर लगा दिये। मीमांसा ने आखें बन्द कर लीं।

वो अपने अतीत में थी, जब वो सत्रह साल की थी और गौतम इक्कीस साल का। वो उसके बरेली वाले घर में चोरी से आकर उसे चूम रहा है, वो किसी के आ जाने के डर से कुछ घबरायी हुई है। वो भी गौतम को चूम रही है और उसे रोक भी रही है। गौतम का हाथ उसने अपने सीने पर महसूस किया, उसे अच्छा लग रहा है, गौतम ने उसकी ड्रेस की जिप खोल दी और अपनी शर्ट उतार दी, उसने गौतम की गन्ध में खुद को डूबता हुआ महसूस किया, वो आँखें बन्द किये उसके शरीर पर अपनी उँगलियाँ चला रही है। अचानक कमरे का दरवाज़ा खुला और विशेष अन्दर आ गया। उसकी आँखें अँगारों की तरह जल रही थीं, और उसके होंठों पर खून लगा हुआ था। और गौतम इन सबसे बेपरवाह उसकी जाँघों पर हाथ फिरा रहा है। अचानक मीमांसा ने उसको धक्का दे दिया और झटके से उठ खड़ी हुई। अपने कपड़े सँभालते हुए मीमांसा ने इधर-उधर देखा।

“व्हाट्स रॉन्ग? आर यू ऑलराइट?” गौतम अपनी शर्ट के बटन बन्द करने लगा।

मीमांसा का जी घबराने लगा, वो बाथरूम की तरफ़ भागी, उसको उलटी हो गयी। गौतम उसके पीछे-पीछे बाथरूम में पहुँचा और उसकी पीठ मलने लगा फिर उसने मीमांसा को पानी दिया।

“आई एम नॉट रेडी फॉर दिस...सॉरी आई कांट!”

“डोंट बी सॉरी स्वीटू, टेक योर टाइम।”

गौतम ने उसे गले से लगा लिया।

थोड़ी देर बाद वो नाइट सूट में थी, गौतम उसके लिए नीबू पानी बनाकर लाया था।

“आई ट्राइड बट, कोई कनेक्शन फील नहीं होता तुमसे। गौतम मैं कभी तुम्हारी प्रायोरिटी नहीं थी मैं हमेशा एक ऑप्शन रही।”

“ऐसा नहीं है बेबी। तुम कोई ऑप्शन नहीं थीं मेरे लिए। वक्रत के साथ रिश्ते और फ़ीलिंग्स बदलती हैं। मैंने तुमको हमेशा पसन्द किया, रिस्पेक्ट दिया, वरना आज ट्वेंटी थ्री इयर्स बाद भी क्या हम जुड़े होते?”

“तुम मुझे तेईस साल से जानते हो इसका मतलब ये नहीं कि तुम मुझे समझते भी हो...मेरे डर, मेरे दर्द महसूस करते हो..? मुझे पैदा करने वाले पेरेट्स ही मेरा दर्द नहीं समझ पाये...।”

गौतम उसके पैरों के पास आकर बैठ गया और उसके दोनों हाथ थाम लिए।

“समझता हूँ यार...तुम्हारी नफ़रत, नाराज़गी के ख़त्म होने का मैं इन्तज़ार करूँगा और मौक़ा दोगी समझने का, तो समझूँगा भी। पहले से बड़ा हो गया हूँ मीमांसा! पार्टनर न सही दोस्त मानकर जब भी याद करोगी मैं साथ खड़ा मिलूँगा। वक्रत और मन बदल जाता है, जिससे प्यार होता है नफ़रत भी हो जाती तो शायद कभी नफ़रत भी प्यार में बदलती होगी! अभी तुम नीबू पानी पियो और आराम से सो जाओ।”

गौतम ने उसके सिर को धीमे-से सहलाया और कमरे से बाहर निकल गया।

अगली सुबह मीमांसा जाने को तैयार थी।

“दीवाली तक तो रुक जातीं।”

“सुहानी अकेली है, मेरा मन नहीं लगता उसके बिना।”

गौतम की उदासी उसके चेहरे पर नज़र आ रही थी। मीमांसा टैक्सी की तरफ़ बढ़ गयी और गौतम अपनी जगह से हिला तक नहीं। ड्राइवर टैक्सी में सामान रख रहा था। उसने मुड़कर देखा और वापस आकर वो गौतम के गले लग गयी।

“कितना अजीब है, ये दिमाग़...जब मेरा दिल धड़कता था तब तुम मेरे नहीं थे, आज हम दोनों अकेले हैं और तुम मेरे साथ आना चाहते हो, तब मैं साथ नहीं होना चाहती। वक्रत निकल जाने पर सब बेमानी हो जाता है गौतम!”

“प्लीज़ रुक जाओ यार!” गौतम धीमे से फुसफुसाया।

मीमांसा उससे अलग हुई और टैक्सी की तरफ़ बढ़ गयी। फिर कुछ क़दम चलने के बाद उसने पीछे देखा...

“और हाँ गौतम, मुझे तुमसे नफ़रत नहीं है।”

गौतम उसको जाते हुए देखता रहा। एक भयानक अकेलेपन के अहसास ने उसे घेर लिया था।

“आई लव यू मीमांसा, प्लीज़ डोंट गो”, ये बात उसके होंठों पर आकर रुक गयी। अपने मन की गाँठ खोलकर, मीमांसा जा चुकी थी!

नटिनी

-रजनी मोरवाल

काली बदरी उस रोज़ फिर चढ़ रही थी, आँधी के आसार से दरवाज़े चरमराने लगे थे। झुकुड़ी उठकर दरवाज़े जोड़ लेती इतनी भी हिम्मत उसमें कहाँ बाक़ी थी, यादों का बवण्डर यूँ चल रहा था कि मौसम धुँधला गया था। जीवन के पके गाछ से टूटकर कई-कई सौ ज़र्द पत्ते भीतर उड़े चले आ रहे थे। दिन के चारों पहर बन्द पड़े रहने वाले यादों के रोशनदान खुलने लगे थे। टूटे-पुराने ख़्वाब झर-झरकर एक अरसे से मौन पड़े इस कमरे की राह सीधे मन तक पहुँचने लगे थे। उधर तन काँपा तो इधर उम्र घबरायी, लगा बेतहाशा दौड़ती धड़कनों से होता हुआ आज फिर एक साइलेंट अटैक गुज़रकर रहेगा।

कहीं दूर पपीहा पीहू-पीहू की टेर लगाता पगलाया जा रहा था। कठफोड़वा ठकाठक-ठकाठक करता उसके हृदय को छेनी-सा बींधे जा रहा था। रेशे उधड़ी मूँज की खाट पर घण्टों पीठ के बल सीधे पड़े-पड़े उसका शरीर अकड़ चुका था। मस्तिष्क की शिराओं में कभी बचपन कूदकर दौड़ रहा था तो कभी स्मृतियों से लदा यौवन अपने लजीले कन्धे झुकाकर गोल हुआ जा रहा था। इन दिनों उसका बस यही हाल है। जंग लगे सपने भला कभी बुढ़ाते हैं? वक्रत मुआ खिसकता चला जाता है पर सपनों की जवानी कम नहीं होती... बुढ़ाते तो शरीर हैं।

बीती शाम देर तक वह डूबता हुआ सूरज देखती रही थी, ढलती शाम का सूरज जब घाटियों से उतरता हुआ पुराने महल के परकोटे पर ठहरता है तो सारा महल यकायक जगमगा उठता है। एक अलौकिक प्रकाश जाने कहाँ से कौंधता है और सभी की आँखों को मिचमिचा देता है। ढलते दिन के साथ ही 'सनसेट' देखने लाखों की संख्या में सैलानी आकर महल के चारों ओर जुटने लगते हैं। झुकुड़ी को इन सबसे कोई मतलब नहीं, उसे तो बावड़ी के चारों कोनों में बने गुम्बदों की संगमरमर वाली नक्रकाशीदार गुमटी पर सूरज के आने का इन्तज़ार रहता है। जब-जब भी दाहिने हाथ वाले गुम्बद के कँगूरों पर सूरज आता है वो अपना दिल पकड़कर बैठ जाती है, सीने में जैसे धौंकनी चलने लगती है। इधर उसका जी उछलकर मुँह को आ जाता है तो उधर टूटे कँगूरे में से सूरज एक छलाँग मारता है और छपाक से पानी में गायब।

कँगूरे के पास धँसी पीपली अपनी बहती आँखों का पता देने के लिहाज़ से अपनी शाखों को ज़ोर-ज़ोर से हिलाने लगती है। झकुड़ी को समझ नहीं आता कि अपनी जड़ों से उजड़ी पीपली न जाने किस पक्षी की चोंच में दबी यहाँ तक आ पहुँची थी, जाने किस घरौंदे का सूखा तिनका बनी वहाँ जा पहुँची थी...या न जाने किसी अधखाये फल का बीज ही थी शायद, उसका कोई धणी ना धौरू बस सूखे रेगिस्तान की अतृप्त धरती पर रहम खाकर किसी रोज़ भूले-भटके ही सही काली बदली ने आँसू बरसाये होंगे और उन्हीं आँसुओं को सींच यह पीपली हरिया गयी होगी, बस तभी से गुम्बद के उस कँगूरे की दरार में जज़ब होकर रह गयी थी। अब वह दरार ही उसकी मातृभूमि बन गयी है और सूरज उसका एकमात्र रहनुमा, दिन-भर उसके स्वागत में झूमती रहती है। सूरज की एक क्षणांश भर की उपस्थिति उस पीपली को जीवनदान दे जाती है। वह हर शाम सूरज की विदाई में रोती है तो हर सुबह उसकी उपस्थिति पाकर खुशी से लहर-लहर जाती है।

उसके सामने वाली सँकरी गली में पनवाड़ी के निकट ही थड़ी की उकतायी छिटकी पड़ी छाया में पाबूजी भोपा अपने वाद्ययन्त्र लिए निरन्तर गुलेरी चबाते रहते हैं। उनके ज़रा नज़दीक ही घूँघट की ओट लिए ज्ञाना काकी अपनी बूढ़ी आवाज़ में गायकी के सुर साधकर पाबूजी के साथ संगत करती है। यूँ तो पाबूजी भोपा और ज्ञाना काकी का आपस में कोई रिश्ता नहीं था पर न जाने कब से वे दोनों इस सीलन भरी गली में बैठक जमाये हुए थे। गढ़-पहरा के किसी भी व्यक्ति ने न कभी उनसे पूछा था और न ही उन दोनों में से किसी ने यह राज़ खोलने की कभी कोशिश ही की थी। शायद कला का कोई रिश्ता नहीं होता। पाबूजी भोपा अपने 'रावण-हत्थे' पर कसे तारों में से बीच के 'रोड़ा एवं चढ़ाव' पर 'गज' रखकर जैसे ही तनिक दबाव बनाते हैं तो ठुमक के साथ 'मोरना' पर बँधे घुँघरुओं के गुच्छों में भी छमक इतरा जाती है। ज्ञाना काकी अपनी उम्रदराज आवाज़ में खँखारकर 'ओ जी केसरिया बालम आवो नी पधारो म्हारे देश' की लय में अपना 'माँड' छेड़ देती थी। इतने बरसों के रियाज़ से उनकी आवाज़ में ग़ज़ब का ठहराव पैठ गया है, मजाल है जो गली में गुज़रने वाले उन्हें अनसुना करके निकल जायें। घड़ी-भर को ही सही किन्तु कोई भी राहगीर उनके पास से ठिठके बिना गुज़र नहीं पाता था, बस इतनी-सी ही थी उन दोनों के पेट की परिधि भी।

गली-गाँव को पार करती हुई इस जुगलबन्दी की बेजोड़ स्वरलहरी जब परकोटे के निकट पहुँचती है तो सैलानियों के साथ-साथ पीपली के पत्तों में भी हरियल छरहरापन आ जाता है। उस वक़्त वह जड़ों को थामे उस पतली-सी दरार से भी भारी तक़रार करने पर उतारू हो जाती है। ऐसी ही ज़िद किसी दिन झकुड़ी ने भी की थी...अगर न भी करती तब भी हश्र तो उसका यही निश्चित था। विधाता ने उसके जन्म से पहले ही उसकी नियति जो लिख छोड़ी थी जब किसी घोर अँधियारी अमावस्या को उसे गढ़-पहरा के नटों की बस्ती में पैदा किया था।

वे पूरी की पूरी शामें थीं...शायद वे गहरी और मदहोश करने वाली शामें थीं। झकुड़ी की जवानी उन्माद पर थी। यौवन के नये-नये उगे फूलों का माधुर्य सबसे ज़्यादा अगर किसी को आकर्षित करता है तो वह उन्हीं फूलों को...इसीलिए शीशे में बार-बार अपनी उभरी छातियों को निहारती लड़कियों की देह लाज से यूँ ही तो दोहरी नहीं हुई जाती। दरअसल लाज से अधिक तो वे अपनी देह में हिचकोले खाते उस उफान से गदराई रहती हैं जो कीमिया बनकर उनके सीने को कसे जाता है। स्वयं पर ही आसक्ति होने लगती है, कोई दूजा तो उसके बहाव का कारक मात्र बनता है। “निगोड़ी जवानी फूटे तो भी बुरी और न फूटे तो और बुरी!” झकुड़ी अपनी चोली चाहे जितनी भी कसकर बाँध ले शाम तक मुई ढीली पड़ ही जाती है, कुछ सीने के उभारों से तो कुछ खेमू की करतूतों से। पानी जब उफान पर आता है तो बहाव का बहाना ढूँढ़ ही लेता है, ज्वार तो महज़ उलाहना देने के काम आता है। हर शाम मौक़ा देखकर झकुड़ी की जवानी भी एक पतली दरार में से परकोटे के भीतर सरककर खेमू की गोद में फिसल पड़ती थी, तन को तो जैसे किसी ऊपरी हवा ने जकड़ लिया था जो हमेशा बुद्धि की अवहेलना करने पर उतारू रहता था। झकुड़ी और खेमू या खेमू और झकुड़ी दोनों में से किसी एक की देह को खींच निकालना मुश्किल था। किसे डर था भूत-प्रेतों का? किसे आत्माओं की आवाज़ सुनाई देती थी? वहाँ तो बस प्रेम की सौंधी महक थी जो उनकी खुरचन बनकर काई सने फ़र्श पर बिखरी रहती थी। सीलन भरी काई ने महल व परकोटे को हरे रंग में सान रखा था। खेमू इन्हीं टूटी-फूटी दीवारों को फाँदकर झकुड़ी से मिलने आता था। झकुड़ी के काईदार कपड़ों को झड़कारता खेमू उसे छूने के आसान तरीक़े ढूँढ़ा करता था-

‘तू डोरी वाला पोलका पैरा कर झकुड़ी, अबकी दफ़ा मैं ही ला दूँगा शहर से, ऐसा कर एक दिन तू ही मेरे साथ शहर चली चल!’

“सिनेमा दिखाऊँगा, लौटते में तुझे रेशमी चुटीला भी खरीद दूँगा और कलाई भर-भरकर लाल-हरी चूड़ियाँ भी...ए झकुड़ी! शहर में एक से एक रंग-बिरंगी ब्रा-पेंटी मिलती है...देख एक जालीदार सेट मैं तेरे लिए भी लाया हूँ...ले पहनकर दिखा।”

“मैं पहनूँ और तू उतारे...धत् बदमाश कहीं का!”

“अरे तू पहन तो सही...निहार लेने दे रेशमी धागों में छिपी उस गुफा को जिसके मायाजाल में फँसकर ये दुनिया दीवानी है।” और गुफा के भीतर से बाहर आने के ग्यारह सेकेंड बाद खेमू कहता, चल...चल न भाग चलें।”

“धत्...ऐसे कैसे भाग चलूँ? माई का क्या होगा? और बापू...वो तो मेरे गम में मर ही जायेगा।” खेमू चिढ़ जाता था... “रहने दे तू, और तेरा बापू! क्या मैं नहीं जानता वह किस बात के इन्तज़ार में हैं? तू जवान हुई नहीं कि लगाया तुझे कारोबार में...उचक्का कहीं का! पिछली बार तीन महीने की जेल लगी थी न....? तू देख उसे, इस दफ़ा लम्बा जायेगा... आजकल पुलिस उसके पीछे है। नक़ली शराब बनाकर ढाबों पर रात काटने वाले ट्रक

डलेवरों को पहुँचता है...? और तेरी माँ उसे भी जानता हूँ...करमजली नटनी वही तो बिन्दोबस्त करती है डलेवरों की रातें रंगीन करने का।" झकुड़ी चिढ़ जाती थी, उसकी तुनकमिजाजी पर इसरार करता खेमू उसे बाँहों में भरकर मनाने की कोशिशें करता। उसकी मिन्नतें करता और आखिर में झकुड़ी उसके गले से आ लगती और बापू की पुकार पर जालीदार सेट के ऊपर झटपट लहंगा-चोली पहनकर भाग खड़ी होती। "अरी ...देख-देख कहीं बह न जाये तेरा रस", खेमू दौड़ती-भागती झकुड़ी को फिर चिढ़ा बैठता था।

उन दिनों घाटियों में सन्नाटा पसरने तक भी ये लिपटा-चिपटी बाज नहीं आती थी। खेमू उसकी जाति का नहीं था वह तो कंजर बिरादरी का था। वह बम्बई से आया था, जाने क्या करता था वहाँ पर...? बड़े गुण गाता था वह उस चमकीली मायानगरी के। ऐसे-ऐसे किस्से कि झकुड़ी की आँखें हैरानी से चौड़ी हुई जाती थीं।

खेमू ने गाँव में कदम रखते ही पनवाड़ी के नुक्कड़ वाले चौराहे पर करतब दिखाती झकुड़ी को देख लिया था और बस वह अपना दिल वहीं हार बैठा था। फिर कई रोज़ तक वह झकुड़ी का पीछा करता रहा। आखिरकार झकुड़ी उससे एकान्त में मिलने को राज़ी हो ही गयी थी। उसके बाद से तो यह लुकाछिपी का सिलसिला अनवरत चल पड़ा था।

सांझ ढलने के बाद गाँव का कोई भी व्यक्ति महल के इर्द-गिर्द तक नहीं फटकता था सिर्फ़ कोई बस्ती अगर थी तो महल से कुछ ही दूरी पर राजस्थान से पलायन करके आये नटों की एक बस्ती थी। पुराने लोग कहते हैं महल में किसी नट-नटिनी की आत्मा रहती है जो रात-भर दर्दिले गीत गाती है। लोगों ने रात के अँधेरे में अक्सर किसी युगल को गाते सुना है। इस इलाके में महल से लेकर गहरी खाई तक एक अधूरा गीत गूँजा करता है...।

कोई आवाज़ जो हिचकियों के बीच टुकड़ों-टुकड़ों में गूँजती है। झकुड़ी की माँ उसे सचेत करती कि-'महल के पास भी मत फटके कर।' उसके पुरखों ने भी बताया था कि कैसे बुन्देलखण्ड का एक बूढ़ा राजा अपने राज्य की एक नटिनी पर मर मिटा था। कई साल पहले बुन्देलखण्ड में एक बूढ़े राजा का शासन था और गढ़-पहरा उसकी राजधानी थी। उस प्रदेश में एक नट-नटिनी की जोड़ी अपने करतब दिखाने के लिए बड़ी प्रसिद्ध थी। नटिनी रस्सी पर चढ़कर करतब दिखाती और नट उसकी बाज़ीगरी पर तबले की थाप दिया करता था। इस जोड़ी की चर्चा जब राजा तक पहुँची तो उसने दोनों को महल में बुलवा भेजा।

माँ तो कहती है राजा कला पर नहीं बल्कि नटिनी की अदाओं पर मर मिटा था। नटनियाँ अपनी कलाकारी व अदाएँ दिखाकर अपना पेट पालती हैं पर कोई उन पर रीझ जाये तो उनका क्या क़सूर? धन्धे का नियम ही यही है, उन्हें अपनी अदाओं से राह चलते लोगों को भी ठिठका लेने का करम हासिल था...लोग रुककर उनकी नौटंकी देखेंगे नहीं तो आमदनी कैसे होगी? राजा का क़सूर कि उसका दिल नटिनी पर आ गया था। वह नट को धोखे से मारकर नटिनी को हासिल करना चाहता था और एक रोज़ उसने नटिनी के सामने

शर्त रखी कि यदि वह रस्सी पर चलकर क़िले से लगी खाई को पार कर जायेगी तो राजा पुरस्कार के रूप में उसके नट को आधा राज्य दे देगा। ऊँचे परकोटे से लेकर खाई के दूसरे सिरे तक एक रस्सी बाँधी गयी, बीच में गहरी व खतरनाक खाई थी। राजा का हुक्म था कि यदि वह इस करतब में हार गयी तो वह नट की जान ले लेगा। नटिनी मरती क्या न करती, नट की जान बचाने के एवज में उसने अपनी जान की बाज़ी लगा दी। उगते सूरज के इन्तज़ार में रात-भर नट-नटिनी का जोड़ा रुदन करता रहा। वह रात नट-नटिनी पर बड़ी भारी गुज़री थी। हर क्षण पास आती मौत ने उन दोनों की आत्मा को एकीकार कर दिया था। कहते हैं उसी रात के बाद से इस इलाक़े में एक अधूरा गीत गूँजा करता है... 'गयी रात पहर थोड़े हैं...।'

टोले में पीढ़ी-दर-पीढ़ी यही तो दोहराया जाता रहा है कि उस काली अँधेरी रात में बूढ़े राजा का पुत्र अपने पिता की हत्या करके उसके राज्य पर क़ब्ज़ा कर लेना चाहता था और राजा की अधेड़ हो चुकी बेटी अपने एकाकी जीवन से तंग आकर रात के अँधेरे में अपने किसी नौकर के साथ भाग जाना चाहती थी किन्तु उस रात नट-नटिनी के करुण गायन ने दोनों भाई-बहन का हृदय परिवर्तन कर दिया था। उन्होंने सोचा कि बूढ़ा राजा कितने दिन का है? उन दोनों ने अपने पिता को धोखा देने का विचार त्याग दिया था। इसलिए नट-नटिनी की जोड़ी को उनके टोले वाले आदर की नज़र से देखते हैं। जुबान के आगे जान की क्रीमत चुकाई थी उन दोनों ने।

रानी जान चुकी थी कि राजा उस नटिनी के यौवन पर आसक्त है और राजा की नीयत में आये इस खोट को रानी भली-भाँति बूझ रही थी। रजवाड़ों में ऐसे क्रिस्से कोई नये भी नहीं थे। रानी के पास भी इस सौतिया-डाह से निजात पाने के कई अचूक मन्त्र थे, उसने अपनी विश्वसनीय सेविका से कहकर रस्सी का एक सिरा कटवा दिया था। नटिनी खाई पार करने ही वाली थी कि तभी वह रस्सी समेत हवा में झूल गयी...बेचारा नट तबले की थाप दे-देकर सुबह तक गाता रहा था... 'गयी रात पहर थोड़े हैं...' भोर की पहली किरण के साथ ही नट के भी प्राण पखेरू उड़ चुके थे।

खेमू तो सूरज से भी बैर रखता है- "तू देख! उसी रोज़ के बाद इस इलाक़े का सूरज अजब किसिम का हो गया है, देखने वाले को अपने जाल में फँसा लेता है। झकुड़ी तू इस सूरज के डूबने पर बावली मत बनाकर, सैलानियों को देख, कैसे टकटकी लगाये बैठे रहते हैं।"

झकुड़ी सिसक उठती - "रहने दे खेमू, ये सूरज-चाँद तो अमर हैं और उतना ही सत्य है हमारी जाति से धोखा और सिर्फ़ धोखा, क्या हमारी बिरादरी की क्रिस्मत में सिर्फ़ धोखा ही लिखा है? ग़रीब लोगों को न गाँव में ठौर न सरकार से सहायता...रहने को घर नहीं, सोने को छप्पर नहींय ऊपर से समाज ने नौटंकी करने वालों का तमगा दे रखा है नाटक... नौटंकी...नट...लोगों को रहने का ठिकाना नहीं मिलता। सारे गाँव से परे सुनसान जंगल में

पड़े रहने वाले हम गरीब लोग भला किसके सगे होते हैं? ...फिर भी जब-तब पुलिस आ धमकती है। गाँव में कहीं भी चोरी-चकारी हो, पुलिस इसी टोले के मर्दों को पकड़कर ले जाती है बदले में घर की औरतों को रुपए-पैसों के साथ-साथ बहुत कुछ दाँव पर लगाना पड़ता है।”

झकुड़ी रोती तो खेमू उसे दिलासा देता, “तू चिन्ता न कर, तेरी क़दर यहाँ नहीं, तू मेरे साथ बम्बई चल! वहाँ सबके पेट भरने को धन्धा है फिर तू तो ठहरी कलाकार तुझे वहाँ भी अपनी कला का ही तो प्रदर्शन करना है। बम्बई में बहुत क़द्रदान मिलेंगे। तू खाना-कमाना और अपने परिवार के लिए भी रुपया भेज दिया करना...चले यहाँ से भाग चलें! तू चाहे तो बाद में अपने माँ-बापू को भी बुलवा लेना।” झकुड़ी कहती, “मैं अपने टोले से बिछुड़ने की कल्पना से भी घबराऊँ हूँ, नटों की शक्ति उनके टोले में रहने से है। अकेला जना न घर का न घाट का...नट अकेला न तो कारीगर और न ही अदाकार वह तो आम इन्सान हो जायेगा, नौटंकी क्या अकेले होवे है?”

उसके टोले में कई छुटंकियाँ अक्सर तुरपन उधड़ी ओछी-सी फ्राकों में भिंची अपनी बारी का इन्तज़ार कर रही होती हैं। दबे रंग और बुझे रूप की वजह से कुछ लड़कियाँ जो बची रह जाती हैं वे घर का चौका-चूल्हा सँभालती हैं या कच्ची दारू की भट्टी में सुलगती हैं। झकुड़ी की बड़ी बहनें देर रात गये घर लौटती हैं, कभी-कभी तो सुबह तक ही लौटती हैं। उनके मुँह से दारू के भभके उठते हैं तो शरीर से अजनबी पुरुषों द्वारा उतारा गया बासी आलस्य गँधाता रहता है। झकुड़ी जब से खेमू की संगत में आयी है तब से सब समझने लगी है कि उसकी बहनें कहाँ जाती हैं और क्या करती हैं? उसकी बहनें ही क्या उसके टोले की अधिकतर सभी औरतें इसी धन्धे में जुटी हैं। पेट्रोल पम्प के पास बने होटलों में रात गुज़ारते ट्रक ड्राइवरों की भीड़ यँ ही तो नहीं जुटा करती है। भरी दोपहर में पेट्रोल पम्प के पास घनी झाड़ियों में ट्रक ड्राइवरों, क्लीनरों और खलासियों के कच्चे-बनियानों के साथ-साथ कॉन्डोम की उतरनें भी पड़ी रहती हैं। उसने अपनी आँखों से देखा है सब।

झकुड़ी बीच के रंग-रूप की ठहरी, न सुन्दर न ही असुन्दर... बस बैठी-सी नाक और दो मोटे होंठ, शुक्र है कि सीने पे दो-दो किलो का बोझ है वर्ना...रूप-रंग के मामले में तो वह पीछे ही छूट गयी थी...एक खेमू ही था जो उसके मुलतानी मिट्टी-से सौंधेपन पर रीझा रहता, “तू नेपालन लगती है झकुड़ी बस ज़रा गोरापन मटिया गया है तेरा, तू कित्ता अच्छा गाती है, मैं तेरे को केसेट ला दूँगा फिर तू भी मस्त नाचना। माधुरी, शिल्पा और उर्मिला भी तेरे आगे छीकेंगी देखना।” उसकी लच्छेदार बातों में झकुड़ी लिपटवा हुई जाती, लिसलिसा जाती...रस्सेदार हुई जाती थी, इतनी कि वह खेमू...खेमू की टेर लगाती दुहरी होकर उसकी आगोश में गिर पड़ती। हर मुलाक़ात में झकुड़ी की छातियों के बीचोबीच बसे उस भूरे तिल पर सौ चुम्बन का वादा लिया था खेमू ने, कभी-कभार यहाँ-वहाँ दाँतों से नील उभर आता

था, “चल भग कटखने कहीं के, बटका भर लेता है मेरे मासूमों पर।” झकुड़ी उसे परे धकेल देती थी। “अरी...गँवार औरत इसे बटका नहीं शहरी भाषा में ‘लव-बाइट्स’ कहते हैं।” झकुड़ी बूझ नहीं पाती कि खेमू ये अंग्रेज़ी में बटके को क्या कहता है किन्तु बाद में इन्हीं घेरों को सहलाती हुई सिहरती और लजाती। वह खेमू की बात दोहराने का प्रयत्न करती... “लव बाइट्स मने बटका, बटका मने...धत्।”

एक रोज़ गढ़-पहरा के परकोटे के भीतर से खेमू-खेमू की यही टेर गूँज रही थी जब परकोटे की दीवारों से प्रतिध्वनित होती हुई बम्बई (अब के मुम्बई) के ग्रांट रोड स्टेशन से जाकर टकरा गयी थी। खेमू की आँखों से ऐसा भव्य बम्बई देखा था उसने कि आखिरकार झकुड़ी कमाठीपुरा की पेशेवर बस्ती में पहुँच ही गयी थी। उसके घूमर पर हज़ारों-हज़ार सिक्के इनकार उठते थे, वह भी अपने हुस्न और अदा पर रीझी रहती थी, नया-नवेला शौक उसे भी रास आने लगा था। इधर बरसों-बरस वह छोटे-बड़े सिक्के ही बीनती रही तो उधर खेमू गड़ियाँ गिनता रहा था। खेमू की अनुपस्थिति में झकुड़ी जब उसकी जेबें खँगालती तो नोटों पर पान के दाग-धब्बों के साथ-साथ उसकी बेवफ़ाई की लाली लगी धारियाँ भी दिखाई देने लगती थीं। कहते हैं...ब्याहता के सौ नखरे और रखैल के सवा सौ... पर झकुड़ी न तो ब्याहता हुई न ही रखैल, वह तो ज़माने की बेवा होकर रह गयी थी जिस पर सबका साझा हक़ था।

खेमू रुपये कमाने के सब तरीक़े जानता था। उसे पता था कि कमाठीपुरा का उसूल है...यहाँ दूध भरी छातियों की क्रीमत भी भारी मिलती है...पैर भारी था झकुड़ी का किन्तु खेमू इस हालत में भी झकुड़ी के लिए ग्राहक खोज लाता था। झकुड़ी कहती, “गलीज इन्सान...तेरी रीढ़ की हड्डी इस बाज़ार की सीलन से लिजलिजी हो चुकी है। तेरी रगों में इस बाज़ार का असर फैला हुआ है, इस गली के केंचुए भी तुझसे अधिक ईमानदार होंगे। लेकिन उसके बिफरने का खेमू की हरक़तों पर कोई असर नहीं पड़ता था। वह वाकिफ़ था कि उस गली में हर एक पड़ाव का सौदा होता है। उस ख्वाबगाह में सब कुछ बिकाऊ है... कच्ची कलियाँ समय से पहले पका दी जाती हैं। इस चमकदार दुनिया की काली रातों में पहली पहल माहवारी की नीलामी होती है, पेटवाली के पेट पर नोटों की गड्डी उछलती है तो कौमार्य की नथों पर पैसेवालों के हज़ारों-लाखों मोर नाचते हैं...इस बाज़ार में तो खोटा सिक्का भी चमकदार गिन्नी बनकर खनखनाता है फिर झकुड़ी तो गाना-बजाना भी जानती थी। ग्राहकों को बहलाव में देह के साथ-साथ रास-रंग भी फ़्री मिल जाता था, झकुड़ी हमेशा ग्राहकों से घिरी रहती थी और खेमू नोटों से।

“तू बदल गया है खेमू...यह तू मुझे कहाँ ले आया? तू तो कहता था...तू शादी करेगा मुझसे...एक नयी दुनिया दिखायेगा? यह दुनिया तो मेरे टोले की ही तरह है, वहाँ इज़्ज़त बिकती थी पर मेरा अपना घर था सिर पर छत तो थी यहाँ भी हर रोज़ इज़्ज़त तार-तार होती है पर कोई मेरा अपना नहीं है जो मेरे आँचल में टाँका भर दे, मेरे ज़ख्मों पर मलहम

रख दे...रुपयों की चकाचौंध में तेरा प्यार भी चूँधिया गया है रे खेमू...तेरा प्यार भी इस खोखे की सीलन भरी गुदड़ी जैसा हो गया है, हमेशा गँधाता रहता है बस...इस डिब्बे में मेरा दम घुटता है, यहाँ न तो सूरज की रोशनी आती है न चन्दा की छाया, ए...खेमू! मेरा तन-मन घायल हुआ जाता है... "ऐसे मौकों पर अमूमन खेमू की बड़बड़ाहट सख्त हो उठती थी, देख झकुड़ी, यहाँ से तेरा निकलना अब मुश्किल ही है, इस बाज़ार में सिर्फ़ आने के लिए दरवाज़े खुलते हैं और वापसी होती है तो सिर्फ़ लाश की। बड़ी आयी सूरजपुत्री, तू क्या समझती है तेरा बाप तुझे बख़्श देता? मैं तो तेरे ही भले की सोचकर तुझे यहाँ लाया था, कुछ कमा लेंगे तो घर-गिरेस्थी चोखी जम जायेगी।" झकुड़ी की रुलाई उस काली कोठरी से टकराकर वापस लौट आती, उसे पता चल चुका था वह इस कालिख में धँसती जा रही है जहाँ आँखों देखे उजाले की कोई किरण नहीं दिखती बस जिधर तक नज़र घुमाती है स्याह अन्धकार ही अन्धकार पसरा पड़ा रहता है...।

शाम होते ही गली में रौनक के साथ छोटी-बड़ी बच्चियाँ सड़कों पर धकेल दी जातीं और उनकी माँएँ इत्र की आड़ में अपने बदन से पसीने की गन्ध छुपाकर अपने हलकान हो रहे ब्लाउज़ों में नोट ठूँसा करती। झकुड़ी भी न जाने किसके अंश को कोख में पनाह दे चुकी थी। वह साल-भर के भीतर ही एक अनचाही लड़की की माँ बन चुकी थी।

अपने साथ हुई धोखेबाज़ी को कोसती हुई झकुड़ी बिसूरती थी... रोती थी, औरत जन्म की बेबसी पर धिक्कार उठती थी, अपनी कोख पर मुक्के मारने लगती, "तूने क्यूँ पैदा की एक और औरत-जात इस नरक में सड़ने के लिए...मैं गुनहगार हो गयी, अन्ततः मैं अपने पुरखों की बनायी रीति-रिवाजों का हिस्सा हो गयी...।"

खेमू के साथ प्यार की दुनिया बसाने के ख़्वाब देखती झकुड़ी चाहे-अनचाहे ही सही किन्तु उसी नरककुण्ड में आ गिरी थी जिसकी आग में उसके टोले की सभी औरतें तमाम उम्र सुलगती हैं और उसी में तड़पते-तड़पते एक रोज़ दम तोड़ देती हैं। झकुड़ी यूँ सड़-सड़कर मरना नहीं चाहती थी। उसकी रूह काँप उठती थी...जवानी ढलने के बाद यहाँ की औरतों का क्या हश्र होता था उसे पता है...झकुड़ी के पास वाली खोली में रहने वाली बंगालिन बुढ़िया रोज़ रात उसी के नाम की गुहारें लगाती है, "झकुड़ी...बेटी मेरे ज़ख़्मों पर 'सोफ़रामाइसिन' लगा दे, एक रोज़ तुझे भी कोई दूसरा मलहम लगा देगा बेटी।"

हर सुबह ऐसी कोई सौ बूढ़ी औरतों को टेम्पो में भरकर शहर के चौराहों, मन्दिर-मस्जिदों, गुरुद्वारों और गिरिजाघरों के बाहर पटक दिया जाता है। उनको मिलने वाली भीख पर ज़िन्दा उस बस्ती के दलालों की आलीशान कोठियाँ रोशन होती हैं, उन्हीं की बदौलत चमड़ी के सौदागरों की दुनिया में झूठ-फ़रेब और धोखाधड़ी का राज चलता है... पुराने सड़े-गले ज़ख़्मों को किसी भी मौसम की धूप नहीं सूखा पाती...दरअसल तो उन्हें सूखने ही नहीं दिया जाता...एसिड डाल-डालकर उन्हें समय-समय पर हरिया दिया जाता

है, हाथ-पैर मरोड़कर लाचार बना दिया जाता है। जवानी तो जवानी उस नंगे बाज़ार में इज़्ज़त उघड़ी औरतों का बुढ़ापा भी सरेआम बिकता है।

झकुड़ी उस बंगालिन बुढ़िया के रिसते हुए बदबूदार घावों को अपनी बातों से सहला आती थी, उसके रिसते घावों पर मीठे शब्दों का फाहा लगा आती थी किन्तु मन-ही-मन वह सिहर उठती थी, “कितने घाव सेकूँ...? यह भर भी गया तो कोई दूसरा उग आयेगा... आज तेरा तो कल मेरा पक जायेगा अम्मा...” झकुड़ी वितृष्णा से भर उठती थी... “जब इज़्ज़त चली जावे तो इण पेट रे खातर ही ई नश्वर शरीर लुटे है, जगत जियाँ गूँगो ढोल है अर औरत चाम री पूड़ी...दौन्यू बाजू से पिटे अर पिटती जाये है।”

अपने बचे-खुचे समय में अकेली पड़ी-पड़ी झकुड़ी अक्सर उस कोठरी की छत को घूरती रहती...ये पलस्तर भी मेरी चमड़ी की तरह यहाँ-वहाँ से उधड़ रहा है और ये दीवारें मेरी आत्मा की तरह बदरंग हो चुकी हैं... “चाहे लाख जतन करूँ इण दीवारों ऊपर सनिमा रा पोस्टर चपेकने री पण दीवारों रा भद्दापन छुपाये कोणी छुपे, म्हारी आत्मा रो मैल एकलो म्हारो ही करियो करायो कोणी...इण माये पुरखाँ रो छोड्यो बासी मैल भी भरयो पढ़यो है, जिणे म्हारी जसि औरताँ ढोवे हैं।”

खेमू तो बस नाम का ही अपना रहा...छी:...वह उठकर थूकने चल देती है। उसे नफ़रत अकेले खेमू से ही क्यों? उसके टोले के सारे मर्द भी तो इसी दलाली पर जीते हैं। झकुड़ी कसैली हो उठती है...वह सबसे नफ़रत करती है। इस बार वह मुँह में आये थूक को गले में ही गटक लेती है, उसे नफ़रत है...अपने आप से भी। उसे पता है कमाठीपुरा के अन्दर की दुनिया यदि नरक है तो बाहर की दुनिया नरककुण्ड, जान का जोखिम दोनों ही ओर है। उस चंगुल से निकलना आसान नहीं फिर भी वह येन-केन प्रकारेण वहाँ से निकासी के द्वार तलाशने लगी थी।

एक रोज़ खेमू की शराब में नींद की दवा मिलाकर झकुड़ी सुबह-सवेरे मुँह लपेटे उस बंगालिन बुढ़िया की जगह ग्रांट रोड जाने वाले टेम्पो में बैठ गयी थी, शाम होते-होते तो वह बहुत दूर निकल चुकी थी...झकुड़ी ने मरी बच्ची को जन्म दिया था, वह अपनी नवजात बच्ची को उसी काल-कोठरी में दफ़ना आयी थी। कमाठीपुरा के ऐसे जाने कितने ही खेमू उस कत्थई-लाल ज़मीन के भीतर दफ़न हज़ारों नन्हे कपालों को जाने-अनजाने में अपने क्रदमों तले रौंदते हुए हर रोज़ गुज़र जाते होंगे।

खेमू ने उसे ढूँढ़ने की कोशिश तो ज़रूर की होगी, पर उसके भीतर भी नटों का लहू बहता था, नाटक करने में माहिर थी झकुड़ी। वह तरह-तरह के स्वाँग रचाती हुई अपना पेट पालने लगी थी...वह गाँव-गाँव घूमकर नट-नटिनी की प्रसिद्ध कथा बाँचती फिरती थी...महल में गूँजने वाला वही अधूरा पड़ा गीत अब उसके होंठों पर सुर बनके गूँजता। वह रो-रोकर गाती फिरती, ‘हुई रात पहर थोड़े हैं...’ झकुड़ी जब-जब रोती है तो लोगों को उसके आँसू इतने सच्चे लगते हैं जैसे उनकी स्वयं की आँखें बह रही हों। तभी से छिपते-छिपाते

झकुड़ी गाँव-गाँव, शहर-शहर होती हुई अन्ततः फिर वहीं आ पहुँची थी जहाँ से उसने कभी मायानगरी की ओर रुख किया था।

डूबी उसाँसें भरती झकुड़ी खाट पर पड़ी-पड़ी हाथ-पैरों की उँगलियाँ चटकाने लगती है, इसके सिवाय वह और कर भी क्या सकती थी? उसे नाचने-गाने की आदत थी सो छूट गयी। कारोबार उसकी ढलती उम्र का मोहताज बन जाता या उसके हाथ-पैर मरोड़कर उसे भिखारिन बना दिया जाता इससे पहले ही वह उस भयावह दुनिया से भाग निकली थी। एसिड के ज़ख्मों से वह तन को तो बचा लायी थी किन्तु रासायनिक जलन से भी भयंकर पीड़ा उसका मन भोग रहा था। शरीर की धमनियाँ रह-रहकर असहनीय द्रव्य प्रवाहित करती थीं। झकुड़ी लौट आयी थी वापस वहीं...जहाँ उसका कहने मात्र को भी अब कोई नहीं बचा था। सिवाय उस बेटी के जिसके बाप का नाम भी झकुड़ी को पता नहीं था।

भूखी-प्यासी झकुड़ी खाट पर पड़ी-पड़ी यही सोचती रहती है, 'क्या झकुड़ी यूँ ही मर जायेगी? क्या उसका कोई नामलेवा भी नहीं होगा?' काली बदरी अब तक बरसकर निचुड़ चुकी थी, हवा में ठण्डक उतरने लगी थी। उस दिन तड़के से ही झकुड़ी खाट पर पड़ी थी...उसने अपनी गुदड़ी गले तक ओढ़ ली थी। गली में सूनापन दौड़ रहा था उस पर इस बेदर्द मौसम की मार...वह सिसक उठी, "देह ने ऊबी कर भी लेऊँ पण जीव री साँकल कियाँ जोडूँ?"

आजकल उसका मन बहुत मचलता है कि महल तक हो आये, वह महल के पास बनी बावड़ी के संगमरमर की सफ़ेद पवित्रता को छूना चाहती है, उसे महसूस करना चाहती है पर मन-ही-मन डरती है कि कहीं उसके छूने से संगमरमर की सफ़ेद उज्ज्वलता मैली न हो जाये, सो मन मसोसे चुपचाप पड़ी रहती है। गुम्बद की दायीं तरफ़ वाली गुमटी के नक्काशीदार कँगूरों को छूता हुआ सूरज देखने की लालसा जब-तब उसकी पलकों में छलक उठती है। क्या बावड़ी के पानी में सूरज अब भी छपाके मारकर डूबता होगा? वह डूबता सूरज देखना चाहती है। "क्या जाने सूरज के इन्तज़ार में उस दरार में समायी पीपली अब भी यूँ ही झूमती हो? ज्ञाना काकी और पाबूजी भोपा तो सिधार गये अब। पनवाड़ी के नुक्कड़ से सटी पाबूजी की पथार पर उनके हिस्से का 'रावण-हत्था' अब कोई और बजाता है। ज्ञाना काकी की जगह अब झकुड़ी माँड गाने लगी है...वही अधूरा गीत जो अब उसने पूरा कर लिया है- 'हुई रात पहर थोड़े हैं, धोखे ने दिल तोड़े हैं...।'

कुछ रोज़ पूर्व नटों के एक टोले ने उस गाँव के बाहर डेरा डाला था। हर शाम कई छोटी-छोटी लड़कियाँ खेलते-खेलते झकुड़ी के पास आ जुटती थीं। उन्हीं लड़कियों के गुट में से एक लड़की इन दिनों झकुड़ी के सुर में सुर मिलाकर माँड गाने लगी है। उसका रंग मुल्तानी मिट्टी के रंग से कुछ कम मटियाया-सा है, रूप हालाँकि कुछ बुझा-सा था पर उसकी कुर्ती पर देह का कसाव अभी से ख़ूब फबता है। एक रोज़ झकुड़ी ने उससे पूछा था, "माँड सीखेगी?" वह हाँ कहती हुई झकुड़ी के इर्द-गिर्द खेलने लगी थी।

आय विल कॉल यू!

-डॉ. रूपा सिंह

न गुले-नगम हूँ, न परद-ए-साज़
मैं हूँ अपनी शिकस्त की आवाज़।

जैसे ही मोबाइल का डाटा ऑन किया, खटाखट कई मैसेज दस्तक देते चले आये। इतनी तेज़ी से सबकी खबरें स्क्रीन पर चमक रही थीं, मानो कई बेचैनियाँ अपने को व्यक्त करने के लिए विद्युत-कौंध सी तड़फड़ा रही हों। स्थिर होते ही व्हाट्सएप पर उक्त शे'र के साथ जिस फ्रेंचकटनुमा दाढ़ी वाले सुदर्शन युवक पर नज़रें ठहरतीं, उसके मैसेज ने मुझे बेतरतीब कर दिया-

“रौ में है रखो उम्र, कहाँ देखिए थमे।

न हाथ बाग़ पर है न पैर रकाब में।”

“दिल से शुक्रिया! आपके फ़ोन से मेरा काम हो गया। राधिका को मेरा प्यार। आइ विल कॉल यू...इफ़ यू विश!”

खून पीते मच्छर को जैसे हम झपटकर मारते हैं, कुछ उसी अन्दाज़ में झपटकर मैंने मोबाइल ऑफ़ किया। आँखें बन्दकर सोचा-राधिका को बताऊँ या नहीं? कुछ दिनों पहले की ही तो बात थी, आपस में कोई परदेदारी न थी। पता नहीं, सबकी ज़िन्दगी में ऐसे पल और क्रिस्से आते हैं जो न किसी को बताये जा सकते हैं न बाँटे? हमारे बीच भी ऐसा ही कुछ होने लगा था। ज़िन्दगी रेल-सी गुज़र रही थी और हम पुल की तरह थराथरा रहे थे।

वह जून का महीना था। गर्म लू के थपेड़ों और कड़कती धूप से हॉस्टल का कमरा ऐसा तपा हुआ जंगल हो जाता था जिसकी खिड़कियों को घेरे पीले अमलतास पूरे कमरे को सुरमई रंग से दहकाये रखते। एक दिन दौड़ती, हाँफती वह आयी और मेरी गोद में गुलमोहर-सी ढह गयी-

“सुन, एक काम था।”

“हम्म, क्या? बोल?”

“करेगी...?”

“हाँ, बोल न?”

इतने लोगों से जान-पहचान है तेरे रोहित की, एक फ़ोन करवा सकती है?

“फ़ोन? कहाँ, किसे? क्या हुआ, बता तो...”

बताने की बजाय उसने अपना सिर करवट लेकर तकिये में छुपा लिया।

“अरे, अरे! हुआ क्या है, बता तो...”

“किसी का पैसा रुका हुआ है। बॉस गुण्डई कर रहा है, मिनिस्ट्री से एक फ़ोन जायेगा, गरीब का पैसा वापस मिल जायेगा।”

“धत्! कोई बात है यह? नम्बर दे हो जायेगा...” कहते-कहते जो उसकी झुकी ठोढ़ी उठा रतनारी आँखों में झाँका तो दंग रह गयी। एक कोई और भी था वहाँ जिससे मेरी पहचान न थी।

राधिका और मैं एक ही जगह से यहाँ आये थे। पड़ोसी थे हम। साथ बड़े हुए। संयोग था कि ग्रेजुएशन के बाद दोनों को दिल्ली के विख्यात विश्वविद्यालय में साथ ही दाखिला मिला। साथ होने का फ़ायदा यह हुआ कि घर से बाहर इतनी दूर पढ़ने आने की अनुमति मिल गयी। दोनों घरों में असहमति के बादल तब छँटे जब मेरे मंगेतर ने आश्वासन दिया कि वह गुड़गाँव में नौकरी करते हम दोनों की देखभाल भी करेगा और राधिका अपने आई.ए.एस. बनने के सपने को कोचिंग ज्वाइन कर आराम से पूरा कर सकेगी। बेबे को मनाना बड़ा मुश्किल काम था। उसे तो हमारे आगे पढ़ने पर ही एतराज़ था। बहरहाल घर की इज़ज़त निभाने के वायदे और नसीहतों के बक्से भरकर हम रवाना हो पाये।

हम दोनों को एक ही हॉस्टल एलॉट हुआ। कमरे अलग थे। राधिका ऊपरी मंज़िल पर मैं नीचे ग्राउंड पर। राधिका की रूममेट नाज़िया दिल्ली की ही रहने वाली थी इसलिए वह हॉस्टल में कम ही रुकती। मेरी रूममेट का नाम वन्दना था। उसकी नयी शादी हुई थी। भरमाँग सिन्दूर और मैचिंग चूड़ियों से सजी-धजी वह मुझे अजीब लगती। कई बार बिना मुझसे पूछे वह मेरी टीशर्ट और जींस पहनकर घूमने निकल जाती। एक बार तो मैंने सख्ती से मना ही कर दिया। मेरी आपत्ति का एक विशेष कारण था जिससे मैं बहुत सहज नहीं रह पाती थी। घर से पहली बार दूर मैं अजीब खाली-खाली थी और वह जाने कैसे बहुत भरी-भरी सी लगती। कहीं बाहर से आती तो उसे किसी कोने या दुराव की ज़रूरत भी नहीं होती, बेहिचक वह अपने कपड़े बदलने लगती। यह अजीब था कि जैसे ही उसके कपड़े कमरे में फैलते एक तीखी हरियल महक मेरा दम घोटने लगती। यहाँ तक कि धो लेने के बाद भी कपड़े उसी महक से महकते रहते। यह महक न जाने उसके वजूद से आती थी या मेरे ही किसी अदृश्य तहखाने की होती या कोई और, जो उनमें भरी रहती, कपड़ों के उतरते ही सरसराहट की तरह पूरे कमरे में तेज़ी से फैलने लगती। कच्ची मेहँदी और पसीने से मिली-जुली यह तेज़ाबी गन्ध मुझे असह्य थी। मैं कसमसा उठती।

मेरी मँगनी हो चुकी थी। महीने के पहले रविवार को रोहित हमसे मिलने आते। उनका रूम-पार्टनर परवेज़ भी कभी-कभी साथ होते जो बी.टेक के बाद आई.ए.एस. की तैयारी कर रहा था। जब वह आता मैं, रोहित, राधिका और परवेज़ बाहर लंच के लिए जाते, खूब

बार्ते करते, कभी सिनेमा भी देख आते, राधिका और परवेज़ की ख़ूब नोक-झांका चलती। भाषा की समस्या से लेकर लव-जिहाद तक की घटनाओं पर तीखी बहसें होतीं। कई बार राधिका ही हलकी पड़ती लेकिन तुरन्त फिर चिढ़कर चिढ़ाती-तुम तो हो ही आतंकवादी! हँसते-खेलते परवेज़ का चेहरा एकदम स्याह पड़ जाता लेकिन तुरन्त सँभलकर अपनी जुबान में ठिठोली घोलते जब वह कहता-‘क्या कभी किसी मुसलमान ने कोई नुकसान पहुँचाया है आपको? या केवल नेताओं के कहने पर? मनुष्य में जाति-धर्म के आधार पर ऐसी नफ़रत न पालिए हुज़ूर।’ तो खिलखिलाकर हँसती, अँगूठा चिढ़ाती राधिका खट्-खट् अन्दर हॉस्टल में चली जाती और दूर तक उसकी पीठ देखता परवेज़ सिगरेट सुलगाता ढाबे की ओर बढ़ जाता।

मैं और रोहित, शाम गहराने तक वहीं नीम अँधेरे में साथ बैठे रहते। यह साथ बैठना धीरे-धीरे कब हाथ पकड़कर अपने को भूल दूसरे को महसूसना हो गया-पता ही न चला। बेबे की दी तमाम नसीहतों को पीछे धकेलते हुए मादक रक्काब नयी चाहतों के साथ कब मेरे कलेजे में धाड़-धाड़ बजने लगा और मैं शर्म से कैसे, कब लाल होने लगी, मुझे खबर तक न हुई। ऐसे में राधिका जो तंग करने वाले प्रश्न पूछती है, उन्हें पूछ लूँ क्या? वह तो फिर छेड़ेगी-‘कोई बात हुई? नया कुछ घटा?’ लेकिन यह सब कोई पूछने की बात है? मैं क्या कोई भी कैसे जान सकता है यह बात?

हृदय के तार भी मानो रोहित से जुड़े हैं। मेरी उद्विग्नता को तत्काल रोहित ने महसूस किया और पूछा, “क्या बात है, क्यों परेशान लग रही हो? बताओ, कोई बात है तो?” मैं नज़रें चुराने लगी और बेवजह जिस ओर देखने लगी, पीछा करती रोहित की नज़रों ने भी उधर देखा-नाज़िया किसी गाड़ी से उतरी थी, अपना झोला समेटते, अन्दर चेहरा कर, किसी से विदा ले और डगमगाते क़दमों से अन्दर हॉस्टल की ओर बढ़ गयी। उसकी ऐसी हरकतों से ही मैं शायद हतप्रभ हूँ, उसने ऐसा अनुमान करते ही कहा, “यह कोई नयी बात नहीं। परेशान न हो। बड़े शहरों में आकर, देखा-देखी अपना दिमाग़ इस्तेमाल न करने से आज़ादी उच्छृंखलता में बदल जाती है। ध्यान से रहना यहाँ...” वह कुछ और भी कहता तब तक मेरे दिल ने सुकून की एक अँगड़ाई ली कि आज नाज़िया जा रही है अपने रूम में तो राधिका वहीं बिजी रहेगी। उसके ऊटपटाँग प्रश्नों से आज मुझे निजात मिली। एकदम हलकी हो आयी मैं। सहजता से रोहित की बाँहों पर अपना सिर टिका दिया। किसी गिरह के खुलने की उन्मुक्तता को उसने भी महसूस आ और...मुझे कसके लपेटते हुए अपना चेहरा मुझ पर झुका लिया। आह...।

आह...दबकर मर न जाऊँ इस सुख से। देह का एक-एक कोना उमग आया। आन्तरिक ऊष्मा भाप बनकर मेरे अस्तित्व को पिघलाने लगी। होश खोती मैं उसके सीने में बछिया-सी सिर रगड़ रही थी। प्यार की भीगी छुअन और सीने से आती मदमाती गन्ध किसी अन्धे कुएँ में मुझे धकेलती कि नज़रों में बेबे कौंध गयीं-ग़लत! ग़लत! ग़लत! फिर

कैसी तो अचकचाती, आधी सीढ़ियाँ फलाँगती मैं दौड़ी चली आयी। साँसों के दुरुस्त होते ही राधिका याद आयी-“क्या ग़लत है इसमें? कुछ नहीं! यही तो प्यार है। यही तो नयी घटना है। प्यार में थोड़ा बिन्दास होना है।” ‘बिन्दास?’ इस शब्द से मेरी आँखें चमक उठीं।

राधिका बहुत आगे की सोचने वाली लड़की है। आई.ए.एस. की तैयारी कर रही है। कोचिंग में ग्रुप-डिस्कशन करती है। नये-नये डिज़ाइन के कपड़े भी पहनने लगी है। नाज़िया का साथ उसे और भी तेज़ी से बदल रहा है। हम सब भी तो तेज़ी से बदल रहे हैं। जब से मोबाइल के वाई-फाई कनेक्शन हॉस्टल को मिलने लगे हैं, सभी लड़कियाँ बदल रही हैं। अब पास के कमरों में शोर नहीं सुनाई पड़ता। टी.वी. देखते समय चैनल्स को लेकर तकरार नहीं होती। हालाँकि ढाबों की शामें अभी भी गुलज़ार होतीं। पढ़ाई, राजनीति, किताबें, धरना, जुलूस की बातें होतीं लेकिन रात होते ही मोबाइल सबका जीवन बन जाता। डिनर के बाद होने वाले साहित्यिक, राजनीतिक, सामयिक व्याख्यानों में सबकी मौजूदगी कम होने के साथ-साथ लोकल और ग्लोबल मुद्दों पर चीखने-चिल्लाने वाले भी अब कम बचे थे। इस प्रकार की अनेक गतिविधियों से कटकर कई तरह के दिव्य ज्ञानों से जो परिचय बढ़ रहा था, वह बिन्दास था। यह एक नयी तरह की ललक थी। जितना इसे बरतो, उतनी ही बढ़ती थी। राधिका ऐसे दिव्य ज्ञानों का इस्तेमाल मुझ पर खूब करती। रोहित के पतले-दुबलेपन का मज़ाक़ उड़ा लेती। उतना तो ठीक था लेकिन वह नाज़िया के साथ इतनी बिन्दास होती जा रही थी, इस बात पर मुझे अजीब गुस्सा आता। मुझसे कहती-

“सुन! पहले से ही देख ले, चख ले। जो सन्तुष्ट नहीं कर पाया तो फिर तू कुछ नहीं कर सकती, फँस गयी तो फँस गयी। गयी तेरी भैंस पानी में...।”

अर्थ समझकर मैं दंग रह जाती। अवाक् कर देने वाली बात। हम यह बात कैसे जान सकते हैं? कभी-कभी डर भी जाती। सच तो नहीं है उसकी बात? दुनिया को वह चौकन्नेपन के साथ पढ़ सकती है। मैं अपने तर्क ढूँढ़-ढूँढ़कर लाती-ऐसे तो हमारे यहाँ इतनी शादियाँ हुई? इतने हहराकर सबके बच्चे हुए?

जब मैं ऐसा कहती तो वह ही-ही, ठी-ठी कर खूब हँसती। मुझसे कहती, बच्चे होने से यह मतलब थोड़े ही है।”

“मतलब?”

“मतलब, कि बच्चे तो हो ही जाते हैं!”

“बच्चे कैसे होंगे, यदि कोई कमी होगी तो?”

“ओफ़ो...। तुम डफ़र हो एकदम। कभी कुछ नहीं समझोगी, जाओ भुगतना।”

भुगतने तो मैं लगी थी। एक डर बैठ गया था मन में। उसकी बात नुकीली कटार की तरह छाती में धँसी रहती। पैनी और खतरनाक चुभन मानो दड़बे की मुर्गी बिन मरे छटपटाये। कैसे कोई लड़की जान सकती है यह बात? जब तक दो-चार को बरतो नहीं

कैसे पता कि कौन सन्तुष्टि दे सकता, कौन नहीं? यहाँ तो एक ही मिल जाये ठीक-ठाक, नाप-तौल, जाति-बिरादरी में सन्तुलित, फिर तो अर्थी ही बाहर निकलती है। ऊपर से एक दिव्य ज्ञान और कि रंग-रूप, आकार-प्रकार से ज़्यादा मतलब नहीं। तो सिर्फ़ बातें? जो बातों से फुसला ले? जहाँ हृदय नहीं वहाँ कोई भी समर्पण भला कैसे सम्भव है? मुझे मेरे भगवान याद आ जाते। हे भगवान! जैसे अन्य सभी हिन्दुस्तानी औरतों की रक्षा करता है ऐसे ही से, मेरी भी अरज तुम्हें ही। उधर टी.वी. के विज्ञापनों ने अलग दिमाग़ खराब कर रखा था। एचआईवी टेस्ट करवाओ अपने मंगेतर का...कैसे मुमकिन है? क्या बोलें? कैसे बोलें ये बातें, हम मर जायें, तब भी न बोल पायेंगे। कैसे नये-नये संकट सामने खड़े थे।

प्रत्यक्ष में मैं कहती, “अरे सब हो जाता है। ठीक ही होगा सब।” तमककर कहती वह-“हाँ, हाँ, सब ठीक ही होता है, हम लोगों के लिए। गुलामी करने हमें जाना है। विदा हम होते हैं। घर बदल जाता है। खाना बनाने की बग़ैर तनख्वाह नौकरी मिलती है। बच्चे हमें जनने हैं। दर्द हमें होता है इंजॉय कौन करता है? हम तो जी, इस्तेमाल होने वाली शै ठहरे। हम तो नहीं करते किसी को इस्तेमाल? लेकिन इंजॉय कर सकें, इसके लिए भी हमारे हाड़-मांस पर प्रतिबन्ध? हमारी भी इच्छाएँ हैं...हमारा भी तो मन हो सकता है न?”

“अरे, इसमें इनकार कहाँ है? इसीलिए तो शादी करेंगे न? बेशर्मी पर थोड़े उतर आयेंगे...तुम्हारी नाज़िया की तरह?” धीमे से मेरे मुँह से निकल ही गया।

बेशर्मी? यह बेशर्मी है? तू क्या जानती है उसके बारे में! उसके घरवाले कितने पुराने घिसे हुए लोग हैं? पढ़ना-वढ़ना तो दूर वे उसे जीते-जी दोजख की आग में धकेलना चाहते हैं, किसी तलाक़शुदा बूढ़े से निकाह तय करके। लेकिन देखना वह भाग जायेगी। पैसे जमा कर रही है। पासपोर्ट बनवा लिया है।

“भाग जायेगी? किधर जायेगी?” हैरानी से मेरा मुँह खुला रह गया।

“मुँह तो बन्द कर आंटी,” मसखरे अन्दाज़ में उसने कहा-देख! आ, इधर देख। अलमारी का दरवाज़ा खोल हाथों में उसके कपड़े निकाल-निकालकर उसने बिस्तर पर डालने शुरू किये-लाल लेसदार ब्रा, फ़ैशनेबल मैचिंग पैंटीज़, रेशमी पारदर्शी नाइटी, साथ ही निकाला नीचे से एक मुड़ा-मुड़ाया बास मारता काला बुर्का।

“देख, देख और देख...” कहकर उसने अपने हाथों में दबायी हरी छोटी बोटल दिखायी।

“बाप रे! यह क्या है? दारू? वह पीती भी है?”

“तो क्या हुआ? ज़िन्दगी के नये अन्दाज़ से भरी आवाज़ ने जवाब दिया, उसकी लाइफ़ है, तो जैसे चाहे, जिये। कितनी बड़ी बात कि कुछ छिपाती नहीं। कोई गिल्ट नहीं। एकदम बिन्दास है।” उसकी अलमारी से सुख़ नेलपॉलिश निकाल अपने लम्बे नाखूनों को खून की तरह लाल करती राधिका ने कहा, “जो है, सो है। अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिए खुद मेहनत करनी पड़ती है। खुद कर्ता बनना पड़ता है मेरी बन्नो।”

मेरी आँखों में कूतूहल की लहक थी-“उसके बाद? आगे क्या होगा?” उसने कहा, “अच्छा ही होगा। ज़्यादा आगे का सोचना भी क्या? कल के बारे में सोचने से ज़रूरी आज को देखना नहीं है क्या? जिस पर हमारा पूरा समाज टिका हुआ है। जब अपने निर्णय हों तो सब अच्छा होगा। तभी तेरे को कहती हूँ-बिन्दास बन। खुद को जी। रोहित से प्यार है तो प्यार कर। बराबरी पर जी। जी-हुजूरी वाला नहीं, कभी तू भी आगे बढ़ सकती है। पहल कर सकती है। लेकिन नहीं। तू तो मिट्टी का लांदा...। तुझे कभी मिलवाऊँगी प्रशान्त से। देखना तू, ज़िन्दगी कितनी खूबसूरत है। कितने रंग है उसके...अनूठा आनन्द...। एक्साइटिंग...।” राधिका की बातें मुझे बहा ले जातीं। आनन्द और कामुकता अलग बातें हैं मैं जानती थी। बेफ़िक्र और बेपरवाह मैं नहीं थी लेकिन अब बिन्दास हो जाना चाहती थी। प्यार को ठोस रूप में अनुभव करना चाहती थी। रोहित से मिल आने के बाद गिल्ट को सीढ़ियों पर ही छोड़ चली और एक नशे में इतराती बिस्तर पर आ गिरी। प्यार ने एक नये रूप में मुझे छुआ था। लगा कोई और भी है जो तन-मन में संग आ लगा है। मीठे झोंकों में ही थी कि किसी ने दरवाज़ा खटखटाया। राधिका थी। यहीं सोऊँगी। नाज़िया दो बार उल्टियाँ कर चुकी है। बदबू है उधर। कभी रो रही है, कभी हँस रही है। मुझे यहीं सोना है।

मैंने सोयी पड़ी वन्दना की ओर देखा। जाँघों में तकिया दबाये, वक्षों से आँचल ढलकाये वह गहरी नींद सो रही थी। हम दोनों ने आहिस्ते से बिस्तर को उठाकर उसके बिस्तर से सटाया और सो गये। इतनी गर्मी में ठीक पंखे के नीचे सोने का सुख था या मेरे मन में बसा कोई घना सुख? मेरी पिण्डलियों पर वजन पड़ा तो अच्छा लगा। ढुलककर कोई शरीर पर आ गया तो अच्छा लगा। एक गीली प्यास ने मेरे गालों को छुआ तो अच्छा लगा। बन्धन थे कि कसते जा रहे थे। एक हरियल महक, कच्ची मेहँदी की कसोरी गन्ध मेरे गले को रूद्ध करती जा रही थी कि मैं कमसमायी। रेंगते हाथों को धक्का दे चीखती हुई मैं उठ बैठी। तड़पकर देखा। वन्दना की आँखों में दो विषधर फुत्कार रहे थे। ज्वाला से सहम गयी। राधिका भी उठ बैठी थी। वन्दना यह देख करवट ले ऐसे सोयी, मानो कुछ हुआ ही न हो। फिर मुझे नींद नहीं आयी। पूरी रात साँपों के गुत्थमगुत्था जैसे डरावने सपने मुझे जगाते रहे।

दूसरी रात डिनर के बाद मैं राधिका के पास थी, ऊपर कमरे में। उसने एकदम कहा, “शी नीड्स सेक्स!”

“सेक्स?”

“आज ही क्लास में फ्रैंकफर्ट के दार्शनिकों के बारे में जाना। उत्तर आधुनिकतावाद, संरचनावाद, मिशेल फूको, हिस्ट्री ऑफ़ सेक्सुअलिटी सेक्स के बारे में खास तरह के ज्ञान का विश्लेषण...वह क्या चीज़ रही जिसने हमें सेक्स को एक ऐसी चीज़ के रूप में देखना सिखाया जो छिपाने योग्य है?”

“पता नहीं क्या है यह सब-कामुकता का विलायती तर्कशास्त्र?” मुँह से निकला-“मुझे तो नफ़रत हो गयी है उससे। कितनी गिरी हुई लड़की है।”

“क्यों? इसमें क्या है?” उसका जवाब आया-“वह मैरिड है। उसे चाहिए होगा। लेकिन देख, एक बात तो है। वह निष्क्रिय और निष्प्राण नहीं है। यानी, स्त्री होकर भी वह अपनी इच्छा रखती है। डिमांड तो करती है।” राधिका शुरू हो गयी। अब वह खिलखिलाकर हँसती जाये और अपने दिव्य ज्ञान से मुझे आलोड़ित करती जाये-“मेन बात यही होती है। प्रेम-प्यार, शादी-ब्याह सब फोर प्ले हैं। इसी का तो सारा खेल है लेकिन इन्जॉय करने की बाज़ी पुरुष के हाथ रहती है। तेरे को समझाती हूँ तो समझती नहीं। स्त्री को भी सक्रिय और सजग रहना होता है। यह भी सबके बस का नहीं। मेल चाहिए होता है बराबरी का।”

“यही तो...यही तो मानती हूँ। पहले मन मिले, फिर अन्य भाव जैसे हृदय, परिवार। फिर सम्बन्ध बने...। शादी हो।” मैंने छूटते ही कहा।

“ओफ़ो! तू दूसरा चैनल पकड़ लेती है। कितना भयानक नैतिक दबाव है हम लोगों पर ये। जानती है, हमारे भारत में इसे इतना पतनशील और अनैतिक नहीं मानते थे यह सब विक्टोरियाई नैतिकता के दबाव हैं।” रमन सर की भाषा? यह उन्हीं की भाषा बोल रही है। मुझे रमन सर याद आये। राजकमल चौधरी, कृष्ण बलदेव वैद, कृष्णा सोबती के पात्रों की चर्चा करते हुए कहा था उन्होंने हमारे यहाँ नैतिक तन्त्रों के इतिहास की जाँच-पड़ताल फिर से होनी चाहिए। तेरी बातों के बाद तो मुझे और ज़्यादा लगता है कि हमारे यहाँ नैतिक तन्त्रों के इतिहास की जाँच-पड़ताल कितनी ज़रूरी है। रुक तुझे रंजीत से मिलवाती हूँ।”

“वह कौन है? कहाँ से आयेगा? ओह मेरे परमात्मा, और क्या-क्या खेल दिखायेगा तू? कैसे आयेगा वह? विज़िटर्स-टाइम तो है नहीं?”

“अरे, देखती जा...एक आँख दबाती राधिका ने कहा-व्हाट्सएप पे आयेगा। तू देख, क्या मस्त इन्सान है? क्या होती है ज़िन्दगी और क्या होते हैं ज़िन्दगी के मज़े? देखेगी? रुक...सुर्ख धारदार नाखूनों ने मोबाइल का बटन दबाया-खट्।”

“ओह, कवर-पेपर पर भी वह? अच्छा, तो इतनी नज़दीकियाँ बढ़ गयी हैं? वैसे पट्टा है शानदार। दबंग शेर की तरह।” जुल्फें और फ्रेंचकट दाढ़ी इतनी नुकीली जिनसे मेरे उस कोटर की दीवारें छिलने लगीं जिनमें रोहित शहंशाह सलीम की तरह मुस्कुराता रहता। रोहित का ध्यान आते ही उसकी आवाज़ कानों में पड़ी-आँखें देखो। रोहित ने हमेशा कहा था-दिल्ली में इतना घबराने की भी ज़रूरत नहीं। यदि किसी की बातों पर शक लगे, सीधे उसकी आँखों में देखो। देखा, तो सब 'बैन' था। काले-चश्मे पर सुनहरे अक्षर चमक रहे थे-'रे बैन।' अपनी कत्थई आँखों से उसे परख ही रही थी कि राधिका ने कुहनी मारी-“ऐसी-ऐसी बातें करता है कि बस पूछ मत। अभी तक तो हम मिले नहीं। फेसबुक पर फ्रैंड है। उस दिन बोला था न तेरे को, इसी के पैसों के लिए तो बोला था। बॉस बड़ा

चूपड़ है उसका। उसे अकेला समझ रखा है। पैसे दबाके रख लेगा उसके? एक फ़ोन जो जायेगा, ठीक हो जायेगा सब।”

“ओह! तो यह बात है। इतने कम दिनों में इतना आगे बढ़ गयी है यह लड़की?” सच था कि इन कुछ महीनों में हमारी 18-20 सालों की बिनानी सीमेंट वाली सोच को महानगरीय प्रभाव वाले चूहे महीन दाँतों से कुतर रहे थे। रोज़ एक दीवार बनती फिर गिर जाती। क्या बचा रह जाने वाला था-यह एकदम अनिश्चित था।

मैंने पूछा, “नाम क्या है?”

“बताया तो था-प्रशान्त मेंहदीरता।”

आश्चर्य ही। जिस पतीली का वह चावल था, उसकी देग हमारे चूल्हों पर चढ़ायी जा सकती थी। राधिका बोल रही थी-मलेशिया गया हुआ है। अगले महीने आयेगा। उसी से शादी करनी है मुझे। ऐसी हॉट बातें करता है, मैं नहीं रुक सकती। तू भी मेरे लिए पैरवी कर देना। देखना, तेरे से पहले बच्चा भी जन लूँगी। एक चमकीली जानलेवा चमक उसकी आँखों से गुज़रकर पूरे वजूद में भर गयी जिसके नीचे मैंने स्पष्ट देखा, आई.ए.एस. बनने का सपना धराशायी पड़ा अपनी चूल्हे गिन रहा था। पत्नी और माँ बनना अब भी कितनी लालायित कर देने वाली महिमामयी पोस्ट है। कई मेधावी सपनों को पल-भर में बुहार कर हाशिये पर धकेलने की मारक क्षमता से लैस। अचानक इन संस्था-तन्त्रों के इतिहास की जाँच-पड़ताल एकदम ज़रूरी लगने लगी।

दरियादिली से मेरी बाँहों पर सिर रखते हुए उसने कहा, “ऐसी-ऐसी बातें करता है रे..., पूरा बदन तपकर दहकता कुण्ड हो जाता है। मिलवाती हूँ तेरे को, सुनना सब...” खट् एक मिसकॉल दिया गया। हम दोनों एकदम तैयार। सब सुन लेने को मैं ख़ूब तत्पर। सारी इन्द्रियाँ मानो कान बन गयी हों। दोनों बिस्तरों को सटा लिया गया। मैंने राधिका को देखा तो दंग रह गयी। सिरहाने के बल औंधी लेटी वह जल में हिलोरें मारती मागुर मछली लग रही थी। फ़ोन घनघनाया, “हैलो! कैसी हो जानेमन?” स्पीकर से सधी, नफ़ासती मुलायम आवाज़ उभरी। राधिका की दोनों आँखों ने मुस्कराकर मुझे देखा। उत्तर में देर होते ही एक बेचैनी कमरे में तिर आयी-“बोलतीं क्यों नहीं? बोलो कुछ। तुम्हें तो पता है। तुम्हारी प्यारी आवाज़ मेरी रगों को कैसे तड़का देती है? व्हाट्सऐप पर आओ न। देखना है तुम्हें...”

“नहीं, आज नहीं। ऐसे ही बातें करो,” राधिका कुनमुनायी। वह शायद मेरी उपस्थिति से संकुचित थी या शायद आगे होने वाली बातचीत के ब्योरों से वाकिफ़ थी जिसमें उत्तेजना बढ़ती जाती है और तन्द्रा गुम होती जाती है। फ़ोन पर आवाज़ आयी-“ठीक है। लेकिन मैं तुम्हारे करीब आना चाहता हूँ। बहुत करीब। इतना कि तुम्हारे घने बाल मेरी सीने पर लहरा जायें। तुम्हारा चेहरा मेरी बाजुओं में...उफ़ तुम्हारी गर्दन कितनी सुडौल है और कितनी सुन्दर, प्यारी, रस से भरी...। चूम रहा हूँ तुम्हारे घने बालों को...चूम रहा हूँ आँखों को...तुम फिसल रही हो, महक रही हो...कितनी गुदाज, पी जाऊँगा यह सारी महक...

खुशबू...सारे रस...ओहSS।" फुँफकारती-सी आवाज़ गूँजे जा रही थी। पूछ रही थी-"खूब प्यार करोगी न तुम, बोलो न तुम, ऐसा ही प्यार करोगी न तुम भी।"

"हम्म..."सच कैसा तो नशा छाने लगा। आँखें खुद-ब-खुद बन्द होने लगीं। होश खोने लगे थे हम। आधा होश खोती राधिका, आधा होश खोती मैं। हम दोनों ही आये-सेम-टू-सेम। खूब पास-पास। मुझ लगा रोहित है। वह ऐसे ही तो पूछता था और मैं ऐसे ही कुनमुनायी आवाज़ में कहती थी, सिर रगड़ती हुई-हम्म...हं...हाँ...बहुत। एक तापमान ने पूरे कमरे को तड़का दिया था। अपनी ही साँसें वजनी होकर हमारी छाती पर आ चढ़ी थीं। हाथ स्वयं अपने शरीर पर फिसल रहे थे। सुडौल शरीर इतना चिकना तो न था। राधिका अकड़ी जा रही थी। शरीर में हलचल नहीं। केवल पैर एक-दूसरे पर रगड़ खाते...। मेरी साँसें धौंकनी बन आयीं। सीत्कारती आवाज़ों से कमरा सनसना रहा था। परिचित कमरा अनजाने बियाबान जंगल में तब्दील हो चुका था। खिड़कियों से अमलतास नहीं, पीली लपटों की झड़क बाहर निकल रही थी। फ़ोन से आवाज़ नहीं कई बिच्छु लपलपाते डंक लिए चले आ रहे थे। दो लड़कियों की चाहत का ज़र्रा-ज़र्रा पिघल रहा था। शरीर बाम्बी में फँस गये सर्प की तरह पछाड़ें खा रहा था कि लपलपाती कौंध झुलसाने को हुई-दर्द... ओह...ले लो...सारा दर्द मेरा...लो...कालिया नाग मानो फन पटक रहा है। केंचुली फँस गयी है। थरथराहट बढ़ती जा रही है। फुत्कार अपनी अन्तिम छोर पर कि चर्च...गुप्त तहखाने की चाबी खोल...किसी ने छिपे भयभीत पखेरू को अपने हाथों कुचल देना चाहा। आह...! अकड़ती जा रही राधिका ने एकदम से पलटी खायी। शर्ट के बटन चरमरा उठे। वह मुझसे ऐसे आन लिपटी कि बदन में खरोँचे उग आयें।

वही सपना था। वही डरावना सपना। साँपों के गुत्थमगुत्था वाला। वही महक थी। कच्ची मेहँदी की पत्तियों वाली हरियल महक। मैं एकदम चीख पड़ी-"स्टॉप इट। बन्द करो यह सब।" सिरहाने रखा जल भरा ताँबे का लोटा धप्प से ज़मीन पर आ बिखरा। कमरा एकदम स्तब्ध। फ़ोन साइलेंट। दो सिहरती भीगी लड़कियाँ। छन्न-छन्न नाच रहा था खाली लोटा।

आज दिन धुँधलके से भरा था। मेघ तो थे। लेकिन वर्षा न थी और न खुली हवा। डूबता सूरज शर्मिन्दा-सा अपनी अन्तिम किरणें लिए मेरे कमरे में आया तो उतरे मुँह वाली राधिका को भी साथ लिए आया। वह कुछ कहना चाहती थी लेकिन अपने दबे-ढँके अंगों के बगावती तेवर से मैं स्वयं जुगुप्सा और वितृष्णा से बिलबिला रही थी, सो असाधारण चुप्पी ठान ली। रोहित की नज़रें एक्स-रे थीं। उसने बार-बार पूछा और सारी बातें जान लीं। उसकी आँखों में चिन्ता की लकीरें दौड़ गयीं। ठहरकर उसने कहा, 'राधिका को बोलो, वह बच्चे ऐसे लोगों से। तुम लोग नहीं जानते महानगरों में कैसे कुण्ठित लोग भरे हुए हैं।' मेरे सामने सिगरेट पीने से परहेज़ करने वाला परवेज़ न जाने क्या सोचता हुआ एक के बाद एक कई सिगरेटें सुलगाता जा रहा था। चिन्ता और घृणा मुझे भी हुई थी लेकिन राधिका

का स्पष्ट उत्तर था-“अरे यार, बिन्दास बन। यह कोई पाप थोड़े ही है। किसे इच्छा नहीं होती इस प्लेज़र की? हमारे भारत में इस आनन्द पर ग्रन्थ के ग्रन्थ लिखे गये हैं। यह आदिम और नैचुरल भाव है। अच्छा और पवित्र दिखने के चक्कर में इसे केवल दबाया नहीं गया बल्कि अश्लील, अनैतिक तोहमते भी लगायी गयीं तू सोच न हम कैसे इवॉल्व हो गये थे? इन्जॉय तो कर ही रहे थे न हम भी? और फिर जो दूर से ऐसी हॉट फ़ीलिंग्स देता है तो सोच रियल में कितना हॉट होगा? एक ज़हरीली चमक उसकी आँखों में थी जिसे अब मैं थोड़ा-थोड़ा पहचानती थी। जैसे सुख के क्षण होते हैं वैसे ही बड़े हो जाने के भी। हमारे बीच एक ऐसा पेड़ उग आया था जिसके चिर-परिचित घोंसले से मैं जीवन और दुनिया का स्वाद लेना चाहती थी और वह अनजान डगर पर अपने पंख फैला बिन्दास उड़ जाना चाहती थी। हमारा बचपन उसी पेड़ के किसी कोटर तले दबकर रह गया था।

शाम की ललछौंही में वही राधिका सिसकियाँ भरती हुई, रोती हुई मेरी गोदी में आन गिरी तो मैं थोड़ा डरी। उसके बालों में फँसी गुलमोहर की पंखुड़ियाँ टूट-टूटकर बिखर रही थीं। जाने कहाँ गायब थी सुबह से। अभी शाम 5 बजे लौटी है। बेबे बनकर कई बार समझाया था, ‘मिलने जा लेकिन सँभलकर। यही बन्दा शादी से मुकर जायेगा, कि पहले से सोयी, खेली, खायी लड़कियों का क्या भरोसा? कहने को उत्तरआधुनिक युग। स्त्रियों के लिए अब तक आधुनिक तक न हुआ यह पाषाण युग।’ स्त्री की इज़्जत को अभी तक परिवार की मर्यादा, गरिमा से जोड़ता है। राधिका है तो उसी पुराने अँगने की पौध लेकिन नयी शिक्षा ने दिमाग़ खराब कर दिया है। हवा में झूमने और बिखर जाने के अन्तर को शायद भूल चुकी है यह लड़की। मलेशिया से उसके लौटने की खबर सुनते ही बेकल होकर सज-सँवरकर उसका यूँ उड़नछू होना, बीती शाम को लौटना, इस तरह रोते जाना? क्या समझूँ मैं? कुछ ऐसा तो नहीं हो गया जो अभी नहीं होना था? उसकी ठोढ़ी प्यार से उठाते हुए पूछा, “क्या हुआ? हो गया क्या सब कुछ? खेल खत्म?”

“खेल? हाँ खेल ही तो था! खेल खत्म!” रोती राधिका गोद से एकदम उठ बैठी-“कुछ नहीं हुआ। कुछ भी नहीं हुआ। और खेल खत्म हो गया।”

“क्या मतलब?”

उसने अपने दोनों हाथों को उलटते-पलटते हुए कहा, “कुछ हुआ ही नहीं।”

इस आवाज़ में ऐसी सर्दी थी कि मैं लरज गयी-“रो क्यों रही है फिर?”

“रो कहाँ रही हूँ”-उसने तुर्शी से भरकर जवाब दिया।

मैं उसे गौर से देखती रही। नीली पनीली आँखें, गुलाबी गाल, पीली पेशानी लेकिन गुलाब-से पिंक होंठ आज स्याह। मन में कैसी तो ममता जगी।

अचानक, जैसे पिछली कोई बात अब जाकर समझ आयी हो, राधिका ठठाकर हँसती खिड़की पर जा खड़ी हुई। दिन-भर के ताप से बोझिल सूरज को हाथ हिलाकर मानो सुकून से विदा किया और मेरी तरफ़ मुड़ी-‘तेरे वादे पर जिये हम तो यह जान, झूठ जाना

कि खुशी से मर न जाते, गर ऐतबार होता...' पसन्दीदा पंक्तियाँ सुनते ही समझ गयी, चोट तगड़ी लगी है लेकिन मरहम का इन्तज़ाम भी हो रहा है साथ-साथ। उसने बोलना शुरू किया। ऑफ़िस में बड़ी गर्मजोशी से मिला वह, ऐसे जैसे सबके सामने ही गले से लिपटा लेगा। दिल धाड़-धाड़ बज रहा था। बाहर ले गया फिर। हमने साथ खाना खाया। खूब सारी बातें कीं। घर की। परिवार की। तुम्हें मालूम है, वह पंजाबी नहीं, मारवाड़ी है। प्रशान्त मन्धाना। उसका परिवार कलकत्ते में बस गया था। सारा बिज़नेस ठप्प हो गया तो मार्केटिंग एडवर्टाइज़मेंट के लिए काम करने वह दिल्ली आ गया। लंच के बाद हम कॉफ़ी लिए पार्क में आ बैठे। अन्ततः मैंने पूछा-‘तुम्हारा घर कहाँ है? कहाँ रहते हो?’ उसने कहा-‘घर? पटपड़गंज के दड़बेनुमा कमरे में हम तीन लड़के रहते हैं। सिर्फ़ रात को सोने जाते हैं वहाँ। अपना-अपना बिस्तर ही हमारा अपना कमरा है। सारे दिन दिल्ली की सड़कों पर या तो काम ढूँढ़ते या काम बदलते। मैंने उसकी तरफ़ देखा और पूछा, ‘लेकिन, फिर तुम शादी कैसे करोगे? मुझे कहाँ रखोगे?’ शादी? उसे मानो ततैये ने डंक मारा हो-यार, मैं शादी कैसे कर सकता हूँ? सोच भी नहीं सकता इस ऐयाशी के बारे में। हाँ, शादी ऐयाशी ही है मेरे जैसे लाखों टेम्परेरी नौकरी वालों के लिए यहाँ। आज काम है तो महीनों बेरोज़गार। आज के किये की भी तनख्वाह मिलेगी या कोई चूपड़ा बॉस उसे निगल जायेगा? धक्के देकर कब बाहर कर देगा-मालूम नहीं। शादी करने का मतलब पॉकेट में कुछ तो माल हो। एक ही कमरे का सही अपना ठिकाना तो हो। सच कहता हूँ यदि मेरे फँसे रुपये मिल जाते तो मैंने निश्चित ही एक कमरा ले लिया होता और फिर तुम्हें वहाँ ‘कॉफ़ी’ पिलाता। शरारती आँखों को यूँ मटकाकर उसने पार्क में ही मेरे होंठों को जबरन चूम लिया और उसी बिन्दास अन्दाज़ से कहा-‘हमें तो जी, केवल फ़ोन कॉल्स की छूट है।’

‘क्या? फ़ोन कॉल्स की छूट? मतलब?’

‘मतलब यह मेरी जाने जिगर कि, हम जहाँ-जहाँ काम करते हैं वहाँ विज्ञापन के लिए फ़ोन के ही अधिकतम प्रयोग होते हैं। फ़ोन-बिल कम्पनी चुकाती है। कम्पनी हमें चूसती है हम उन्हें। खोखले हो चुके हैं हम। चाहें भी तो कुछ नहीं कर सकते, सिवा फ़ोन कॉल्स के। सो, रात-भर नींद न आने तक, दो-तीन बार यह कर सकते हैं, करते हैं।’

मुझे अवाक्, टुकुर-टुकुर देखते उसने कहा-इसमें बुरा क्या है? दिन-भर थकता हूँ। रात को किसी के साथ ऐसी बातें करके रिलीव हो जाता हूँ। क्या कर सकते हैं हम और? पार्क के एकान्त का फ़ायदा उठाते हुए उसने दोबारा मुझे खींचा। एकदम धक्का देती हुई मैं उठ खड़ी हुई। नीच हँसने लगा। होंठों को गोल-गोल घुमा बोलने लगा-

‘जानेमन! तुम बहुत भोली हो, बहुत प्यारी भी। आई इन्जॉइड ए लॉट। मैं तुम्हें ज़रूर फ़ोन करता रहूँगा और अपनी उस फ्रेंड से भी पूछना, जो उसे मज़ा आया तो उसे भी। इन्जॉय योअर लाइफ़। ऐश करो।’

दौड़ के निकल जाना चाहती थी। घृणा और दुख से एक-एक क़दम भारी हो रहा था। दिल का तार-तार दुख रहा था। वह कह रहा था- 'मैं सच में तुम्हें प्यार करता हूँ लेकिन और कुछ नहीं कर सकता सिवाय फ़ोन के...आय विल कॉल यू', गिजगिजाती आवाज़ उसकी दूर तक मेरे साथ आती गयी...पता नहीं रो रहा था या हँस रहा था...कह रहा था रुक जाओ...बात सुनो। सच में सोचती हो मेरे लिए तो...एक मौक़ा दो। कुछ करूँगा...रुक जाओ।

उलटे पैरों लौटी राधिका सिसकियों से काँप रही थी। मुझसे लिपटकर उसने कहा- मुझसे ग़लती हुई है। मुझे यों भरोसा करके अकेले नहीं जाना चाहिए था। एक करुण वेदना से घिर आयी थी मैं, जो इसके प्रति भी थी शायद उसके प्रति भी। राधिका को मैंने अपनी बाँहों में समेट लिया। नया समय है तो नयी परिस्थितियाँ आयेंगी ही सामने। तू कहती थी न हमें पड़ताल करनी है...अपने इतिहास की भी, वर्तमान की भी। हमारे समय का मनुष्य देख कितना कुचल दिया गया है। हम कहते हैं, हम स्त्रियाँ...यहाँ पुरुष भी कितना लाचार, शोषित है। लेकिन इच्छाएँ जीवित हैं...तो बदलेगा। सब बदलेगा।

दरवाज़ा खट् से खुला। वन्दना दाखिल हुई। हम दोनों को यूँ लिपटा देख दरवाज़े पर ही स्थिर हो गयी। उस रात से ही मेरी नफ़रत झेल रही वन्दना के लिए भी वही मानवीय करुणा उपजी। हम तीनों कुछ देर एक-दूसरे के गले से लगे रहे। बाद में, मैंने रोहित को प्रशान्त का नम्बर दे दिया था। वन्दना का कज़िन है, पैसे फँसे हुए हैं। हो सके तो मदद कर दो।

आज वही प्रत्युत्तर दिवस था। व्हाट्सएप पर उस फ्रेंचकटनुमा दाढ़ी वाले युवक का मैसेज था-

'रौ में है रख्शे उम्र, कहाँ देखिए थमे
न हाथ बाग़ पर है न पैर रक़ब में'

दिल से शुक्रिया! आपके फ़ोन से मेरा काम हो गया। यहाँ का हिसाब-किताब पूरा करके कलकत्ता वापस जा रहा हूँ। बाबूजी के बिज़नेस को फिर से देखूँगा। राधिका को मेरा प्यार। आय विल कॉल यू...इफ़ यू विश।'

मैंने तीन काम किये। इस नम्बर को ब्लॉक-लिस्ट में डाला। परवेज़ की समझदारी से पढ़ाई के ट्रैक पर वापस लौटी राधिका को कुछ नहीं बताया और रोहित को थैंक्स का मैसेज फॉरवर्ड किया। फिर खट् की आवाज़। जी धड़का। रोहित का जवाब था स्माइली के साथ-'इट्स ऑलराइट बेबी। आय विल कॉल यू...!'

प्यार का रंग पानी

-अनु सिंह चौधरी

उसने गूगल सर्च में फिर वही एक नाम डाल दिया था-स्वाति प्रकाश।

इंटरनेट की ताकत पर बहुत भरोसा है उसे। इसी इंटरनेट से उसने अपनी दुनिया की तमाम ज़रूरतें पूरी की हैं। अपने घर के लिए आटा, दाल, चावल, सब्ज़ी, फल और फर्नीचर खरीदने के अलावा अपना एक कामयाब बिज़नेस खड़ा कर लिया है। अपने लिए एक कामयाब पति भी इसी इंटरनेट के दम पर मिला था उसे। और अब जब ज़िन्दगी अपने ढर्रे पर चल निकली है और जीतने के लिए कोई जंग बाक़ी नहीं रही तो अब इसी इंटरनेट पर वही एक नाम तलाशती रहती है वो। क्या कहे कि उस नाम से कैसा रिश्ता है उसका? सबसे खास सहेली है, या सबसे बड़ी दुश्मन-उसकी नेमेसिस? स्वाति से ये क्या निस्बत है, उसे आज तक ये बात समझ न आयी। मोम आग से पिघलता क्यों है, ये बात न मोम को समझ में आयेगी न आग को।

वैसे इंटरनेट की भी अपनी सीमाएँ हैं। ये न हर तरह की इन्सानी खोज या ज़रूरत पूरी कर सकता है और न सबको सबसे जोड़ ही सकता है। जैसे फ्री पोर्न देखकर थोड़े न मिट जायेगी जिस्मानी भूख! कुछ ज़रूरतें अब भी इन्सानी हैं और शायद इसलिए अब भी किसी दैवी पहल की मोहताज़ हैं।

इसलिए गूगल सर्च पर स्वाति प्रकाश जैसा कॉमन नाम भी उसे उस इन्सान तक नहीं पहुँचा पाता जिसे वह आज भी खोज रही है। सब उसकी तरह कामयाब तो होते नहीं कि एक सर्च में पूरी ज़िन्दगी का कारोबार, सालों पुराने इंटरव्यू और आर्टिकल्स के रूप में दुनिया के सामने आ ही जाये। अगर स्वाति प्रकाश ने अपने लिए गुमनामी ही चुन रखी हो तो कहाँ से ढूँढ़कर लायेगी श्यामली उसको? वो भी आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस के दम पर? इन्सानों के पास उम्मीदों के कई खिलते-झड़ते मौसम होते हैं। इंटरनेट के पास ऊब और उदासियों के नीरस अन्तहीन जाल के अलावा कुछ नहीं होता।

फिर भी जाने क्यों पिछले कुछ दिनों से हर रोज़ सुबह पॉट पर बैठे-बैठे यही पहला काम करती है वह-अपने फ़ोन पर स्वाति प्रकाश के सैकड़ों नामों में बस एक चेहरा ढूँढ़ती रहती है। लेकिन किसी स्वाति में उसे उस स्वाति के होने का यक़ीन नहीं मिलता, जो उसे लम्हे-भर ढाह-भरी खुशी का सन्तोष दे। हर गूगल सर्च का नतीजा साँस को और भारी

करता रहता है। सिक्स डिग्री ऑफ़ सेपरेशन से जुड़ी इस दुनिया में स्वाति ने खुद तक पहुँचने का कोई रास्ता ही उसके लिए नहीं छोड़ा।

क्या स्वाति ने भी कभी इतनी ही बेचैनी में उसका पता खोजा होगा? कैसा लगता होगा स्वाति को, जब नेशनल टीवी पर किसी बड़े आईपीओ के खुलने, या किसी चुनावी नतीजे के बाद सेंसेक्स के उतार-चढ़ाव को समझने, या पीएम की किसी खास विदेश यात्रा पर कॉरपोरेट वर्ल्ड की ओर से प्रतिक्रिया देते हुए देखती होगी उसे?

लेकिन श्यामली को कभी ये बात मालूम ही नहीं चल पायेगी क्योंकि स्वाति मिलती ही नहीं उसे इंटरनेट पर। लिंकडइन से लेकर ट्विटर और फेसबुक से लेकर उसकी निजी वेबसाइट पर आने वाले तमाम वाहवाही के सन्देशों में एक वही नाम नहीं होता जिसके शिकवे सुनने के लिए इक्कीस सालों बाद भी श्यामली का इन्तज़ार बाक़ी है।

‘आखिर गर्यीं कहाँ तुम स्वाति? ऐसी कौन-सी दुनिया आबाद किये हुए हो कि वर्चुअल दुनिया में होने की कोई वजह नहीं मिली तुम्हें? इंटरनेट तुम्हारे नाम के आगे ही क्यों हार जाता है, मेरी तरह?’

ऐसे निराधार सवालों का कोई हल नहीं होता। बाथरूम के बाहर की दुनिया में उसके लिए कई सारे काम बाक़ी हैं। घर, बाहर, दफ़्तर, लॉन, ड्राइंगरूम, रूफ़ टॉप-सब जगह का शेड्यूल मुकर्रर, सब जगह की मीटिंग्स तय। एक बेडरूम उसका अपना है, और एक बाथरूम, जहाँ किसी को आने की इजाज़त नहीं। दुनिया के सभी भौतिक सुख उसकी किस्मत में हैं। मन के भीतर का सन्नाटा बेडरूम के भीतर बचाये रखना ज़रूरत है उसकी।

स्वाति प्रकाश का नाम है बस, जो सन्नाटे को चीरता हुआ अन्धड़-सा बजता रहता है उसके भीतर। कहाँ ढूँढ़े वो स्वाति को? क्या कहेगी जब मिलेगी उससे? हैलो स्वाति, मैं श्यामली। ये कहेगी उससे कि माफ़ कर दो मुझको। अपना सच तुम पर थोपना नहीं चाहिए था मुझको। क्या कहेगी उससे कि तुम-सी सहेली, तुम-सी महबूब इतने सालों में ढूँढ़ने पर भी नहीं मिली? ये कहेगी कि जिससे सबसे ज़्यादा प्यार होता है, सबसे ज़्यादा नाराज़गी भी उसी से होती है? सबसे ज़्यादा इन्सान जिसको खोजता फिरता है, भागता भी उसी से है?

ये भी तो मुमकिन है कि स्वाति मिले भी तो श्यामली अपनी बात उससे कह ही न पाये। ये भी तो मुमकिन है कि स्वाति उसकी बात सुने ही न। ये भी तो मुमकिन है कि स्वाति की आँखों में उसके लिए एक ऐसा अजनबीपन आज भी बाक़ी हो जो उसे जीते जी और मार जाये। फिर भी स्वाति को ढूँढ़ने की, उससे मिलने की तमन्ना बढ़ाये जाती है श्यामली।

वैसे विश-लिस्ट की हर ख्वाहिश पूरी ही हो और गूगल सर्च हर खोज पूरी कर ही दे तो फिर चिन्ताओं की गाँठें और अधूरी तमन्नाओं के दुख हरने वाले ईश्वर की याद ही क्यों

आयेगी इन्सानों को? इसलिए रोमिल-श्यामली का पति-उसे दिल्ली से खींचकर सीधे बालाजी की चौखट पर तिरुपति ले आया एक रोज़।

इन सारे भौतिक सुखों के बीच की एक कमी जितनी रोमिल को खलती है, उतनी श्यामली को नहीं खलती। श्यामली उन दकियानूसी विचारों में यक्रीन नहीं करती जिनके मुताबिक़ औरत के मुक़म्मल होने की इकलौती शर्त गर्भ में, गोद में आ गया बच्चा होता है। श्यामली उस आज़ाद खयाल की है जहाँ किसी भी इन्सान का मुक़म्मल होना उसके अपने ही वजूद के टुकड़े-टुकड़े बिखरे हुए जटिल जिग-साँ पज़ल का सिमटकर सॉल्व हो जाने जैसा होता है। इस पज़ल को सॉल्व करने में तो ख़ैर एक उम्र लग जाती है। फिर भी अपनी-अपनी सम्पूर्णता की तलाश में दोनों पति-पत्नी झूठ जीते जाते हैं, और अपने ही वजूद के कई अहम हिस्सों को नकारते जाते हैं।

श्यामली स्वाति प्रकाश को गूगल पर इसलिए ढूँढ़ती फिरती है क्योंकि उसे यक्रीन है कि इक्कीस साल पहले जिस सहेली को छोड़ आयी थी वह हमेशा के लिए, एक वही है जो उसके वजूद का वो आखिरी जिग-साँ ढूँढ़ने में उसकी मदद कर पायेगी जो उसे कहीं और नहीं मिलता।

बालाजी हल नहीं हैं, स्वाति हल है।

और जिन चमत्कारों पर श्यामली को यक्रीन नहीं, वैसा ही एक अविश्वसनीय चमत्कार दिखाकर बालाजी ने श्यामली का ज़िन्दगी भर का विश्वास हासिल कर लिया था उस दिन। रोमिल की ज़िद थी कि मन्दिर के दरवाज़े पर जाकर पैसे या रसूख की ताक़त से दिव्य दर्शन के टिकट नहीं ख़रीदे जायेंगे, चाहे इन्तज़ार दो दिन का ही क्यों न हो। श्यामली ने बिना किसी विरोध के रोमिल की ये एक और बात मान ली। दिल्ली से दूर तिरुपति के एक सरकारी गेस्ट हाउस में बिना किसी डेडलाइन या अगले प्रोजेक्ट की पिचिंग की चिन्ता के ये वीकेंड उसे रास आ रहा था। अजीब बात थी कि इस बार रोमिल के पास भी ख़ूब सारा वक़्त था। शायद बच्चे की मन्नत माँगते-माँगते बेबीमेकिंग की प्रक्रिया भी यहीं पूरा करने की चाहत में!

तिरुपति पहुँचकर, बल्कि घर से निकलने के बाद से ही, श्यामली ने फ़ैसलों की सारी कमान रोमिल के हाथ बाख़ुशी दे दी। रोमिल ने ही ये गेस्ट हाउस फ़ाइनल किया, और दर्शन का वक़्त भी रोमिल के हिसाब से ही तय किया गया-सुबह पौने पाँच बजे। श्यामली तो बस दर्शन से पहले की उस शाम देवस्थानम की गलियाँ नापने यूँ ही निकल पड़ी थी अकेली।

शाम से सम्मोहक कोई वक़्त नहीं होता। दर्द और प्यार में डूबी हुई, ख्वाहिशों के रंग लिए, पता नहीं किस बेकस इन्तज़ार का बोझ अपने सिर उठाये चली आती हैं शामें। शाम

का बेबसी और बेचैनी से क्या रिश्ता है, ये ठीक-ठीक कोई शायर, कोई सुखनवर समझा नहीं सका आज तक।

कोइंसिडेस, इत्तिफ़ाक़, संयोग-ये भी अक्सर गोधूलि की इस बेला में ही क्यों होते हैं, इस पर भी तो कोई रिसर्च नहीं हुआ आज तक।

संयोग था या बालाजी का चमत्कार, श्यामली को स्वाति प्रकाश वहीं मिली थी-एक दुकान की ड्योढ़ी पर खड़ी, हाथ में प्लास्टिक का एक थैला लिए, एक अजनबी से तेलुगु में मोल-तोल करती हुई!

कहते हैं कि हम सबके कम-से-कम सात हमशक्ल इस दुनिया में कहीं-न-कहीं होते हैं। श्यामली ने भी उस औरत को स्वाति का हमशक्ल मान लिया, इसलिए उसे टोकने की ज़रूरत नहीं समझी उसने। वैसे भी सामने खड़ी इस औरत की कमर की परिधि उस स्वाति से कम-से-कम पाँच गुना ज़्यादा थी जिसे श्यामली ने इक्कीस साल पहले देखा था।

लेकिन श्यामली को देखकर स्वाति की उस हमशक्ल औरत की ठिठकी हुई आँखें और होंठों पर आकर ठहर गये बोल एक लम्हे में ही उसके परिचय की पोल खोल गये।

“तुम श्यामली नहीं हो सकतीं,” स्वाति ने कहा नहीं था, बस ऐलान कर दिया था।

“स्वाति?” श्यामली की साँसें अचानक धौंकनी-सी हो गयी थीं, लेकिन फिर भी उसने पूछ लिया था।

स्वाति ने कहा कुछ नहीं, बस आगे बढ़कर श्यामली का दायाँ गाल चूम लिया और उसे ज़ोर से बाँहों में भींच लिया। जिस स्वाति को वर्चुअल वर्ल्ड में इतने सालों से ढूँढ़ रही थी श्यामली, उससे इस तरह मिलेगी कभी वो, ये तो अपने सबसे वाहियात खयाल में भी नहीं सोचा था उसने।

अगले कुछ घण्टे मिनटों में गुज़रे थे और इक्कीस सालों का फ़ासला फ़रों-सा नाज़ुक निकला था जिसे स्वाति ने एक फूँक में उड़ा डाला था। ज़िन्दगी की रिहाइश में सिर्फ़ वही गलियाँ, सड़कें, घर, सामान, लोग दिखाई देते हैं जो उस एक पल में सामने होते हैं। तवज्जो न दो तो स्मृतियों की भूलालैया में खोये हुए लम्हों की कोई क़ीमत नहीं होती। श्यामली तो बेवजह स्मृतियों की भूलभुलैया में इतने सालों से भटक रही थी। और एक स्वाति थी जिसने सिर्फ़ उसी एक लम्हे को अपना सर्वस्व बनाये रखा था, जो वर्तमान था-अभी का, इसी वक़्त का।

स्वाति के दक्षिण भारतीय पति और श्वेत-श्याम बच्चों में भी जो था, इसी लम्हे का था-सारे दुख-सुख, सारे अवसाद इसी लम्हे के धवल पैरहन में! स्वाति खुश थी, इतनी खुश कि उसकी चहक उसके पति और बच्चों को शर्मिन्दा कर रही थी। इतना शर्मिन्दा कर रही थी कि उन्होंने स्वाति को श्यामली के साथ अकेले छोड़ दिया, और किसी-न-किसी बहाने से घर से चले गये।

“तुमने ये ज़िन्दगी क्यों चुन ली स्वाति?” फिल्टर कॉफ़ी का आखिरी सिप लेते हुए श्यामली बड़ी मुश्किल से ये पूछ पाने की हिम्मत जुटा पायी थी। उसकी नज़रें स्वाति पर थीं। तिरुपति के बाज़ार के ठीक पीछे के एक घने मोहल्ले में बनी एक धर्मशाला की बेरंग कुर्सी पर साउथ कॉटन साड़ी, मंगलसूत्र और सोने के कंगन, बुन्दों और अँगूठियों से लदी चहुँओर से अपने गृहस्थ जीवन से सन्तुष्ट एक गोल-मटोल दक्षिण भारतीय महिला में तब्दील हो गयी ये स्वाति वो स्वाति तो बिल्कुल नहीं थी जिसे श्यामली जानती थी। आँखों का रंग और उनकी चमक और शख्सियत में वही सहजता न रहती तो श्यामली कभी इस औरत को स्वाति नहीं मानती।

“तुमने जो ज़िन्दगी चुनी उससे खुश हो?” स्वाति के प्रतिप्रश्न से श्यामली हड़बड़ा गयी थी।

ये दोनों सवाल जितने बेमानी थे, उन पर बहस उतनी ही निरर्थक।

श्यामली अपने क्लास की टॉपर थी। टेनिसन और टैगोर उसके हमजुबाँ थे। अपनी सधी हुई लेकिन अल्हड़ आवाज़ में जब वो फ़ैज़ गाती तो सुनने वालों की रगों में झुरझुरी दौड़ जाती। कॉलेज ऑडिटोरियम में खड़ी होकर जब वो कॉम्प्रिहेंसिव न्यूक्लियर टेस्ट बैन ट्रीटी के पक्ष में बहस करती तो विपक्ष की टीम खामोश हो जाया करती थी। श्यामली के पास ऊपर चढ़ते चले जाने के अलावा और कोई रास्ता नहीं था। वह इस दुनिया में तालियों की गड़गड़ाहट और ट्रॉफ़ियाँ बटोरने ही आयी थी।

और स्वाति? स्वाति अपने आप अपनी सबसे करीबी सहेली की परछाई बनती चली गयी। कॉलेज में और कॉलेज के बाहर श्यामली को चाहने वाले बहुत थे। उसके आसपास की भीड़ स्वाति को श्यामली के नाम से जानती-पहचानती थी। स्वाति समझती थी, लेकिन परवाह न करती। उस नाज़ुक उम्र में रोज़मर्रा की बहुत मामूली चीज़े खास होती हैं, और ज़िन्दगी की बड़ी बातों पर खास ध्यान नहीं दिया जाता। सहेली की आँखों की चमक, उसके साथ गुज़ारा हुआ वक़्त, उसके लिए चुराये गये लम्हे करियर की चिन्ताओं से कहीं बड़े होते हैं उस उम्र में। और वैसे भी स्वाति की शख्सियत में ईर्ष्या जैसी कोई भावना रही ही नहीं कभी। इसलिए श्यामली और स्वाति में कभी किसी बात पर तकरार हुई ही नहीं, उनकी बेहद बंगाली और बेहद दक्षिण भारतीय परवरिश की समानताओं-विषमताओं के बावजूद। हॉस्टल में दोनों की दोस्ती की दाद दी जाती थी। दोनों रूममेट नहीं थीं, सोलमेट बनती जा रही थीं।

और उसी नाज़ुक उम्र की खुमारी में श्यामली ने किसी एक कमज़ोर लेकिन खुशनुमा लम्हे में अपनी सबसे अज़ीज़ दोस्त स्वाति पर एक नये तरीके से हक़ जता दिया था।

इतवार का दिन था। सर्दियों की नाज़ुक धूप उनके हॉस्टल की खिड़की से उतरकर शहद की तरह श्यामली के बिस्तर पर छलक पड़ी थी। धूप का कोना पकड़ते-पकड़ते स्वाति अपने बिस्तर से उठकर श्यामली के बिस्तर पर आ गयी थी। दीवार की ओट में बैठी

स्वाति बार-बार अपने पैरों को धूप में सेंकने के लिए फैलाती, और बार-बार उसका अँगूठा अधलेटी श्यामली की गर्दन को छू जाता। पता नहीं कब श्यामली ने एक झटके में उठकर स्वाति को अपनी ओर खींच लिया और कब अपनी आगोश में भींच लिया। इस औचक प्रेम-प्रदर्शन की वजह न श्यामली को याद थी, न ही ये याद था कि उस लम्हे उसे हुआ क्या था।

श्यामली इतने पर भी नहीं रुकी। उसने स्वाति के होंठों के पोरों पर अपने होंठों के साथ-साथ अपनी चाहत का इज़हार रख दिया था। उस लम्हे श्यामली स्वाति को कसकर अपनी बाँहों में भींच लेना चाहती थी, उसे इस तरह छूना चाहती थी जैसे उसने अभी तक किसी को नहीं छुआ था। श्यामली के भीतर स्वाति के लिए पता नहीं कैसी लहरें अपने उफान पर थीं। जितनी तेज़ी से ये लहरें चढ़ीं, उसी तेज़ी से वापस असलियत के दरिया में जाकर समा भी गयीं।

स्वाति ने श्यामली को धक्का देकर परे धकेल दिया।

उसी रोज़ स्वाति ने अपना कमरा बदल लिया। पूछा तक नहीं श्यामली से कि वो बोसा था क्या, और इतना अन्तरंग क्यों था। कैसा लम्हा था वो कि श्यामली इतनी कमज़ोर पड़ गयी? क्या श्यामली की लीनिंग वाकई सामान्य नहीं थी?

उस दिन के बाद से श्यामली स्वाति के लिए अछूत हो गयी। उसने न कोई सफ़ाई सुनी, न किसी से कहा कुछ कभी। जिस स्वाति और श्यामली की दोस्ती कस्तूरी की गन्ध की तरह उनके साथ-साथ चलती, उसी टूटी हुई दोस्ती की दुर्गन्ध उन दोनों के भीतर पसरती चली गयी और धीरे-धीरे बाक़ी लड़कियों में इस बात को लेकर खुसर-फुसर भी बन्द हो गयी। कभी मेस, लाइब्रेरी या ऑडिटोरियम में आमना-सामना हो भी जाता तो यूँ देखती थी स्वाति श्यामली के आर-पार जैसे काँच की किसी खिड़की से बाहर की दुनिया देख रही हो। और स्वाति की ये बेरुखी, उदासीन नज़रें श्यामली को काँच के नुकीले टुकड़ों की तरह चुभती थीं। ग्रेजुएशन खत्म होने तक दोनों ने कभी एक-दूसरे से कोई बात नहीं की। न श्यामली सफ़ाई दे पायी, न स्वाति ने कुछ समझने का इरादा रखा।

उस रोज़ श्यामली को क्या हुआ था, ये साफ़ शब्दों में बता पाना मुश्किल था। उसके मन में स्वाति के लिए एक खास क्रिस्म की कशिश बढ़ती चली गयी थी, जिसकी कोई निश्चित शक्ल या मंज़िल न थी। जिसे हॉस्टल में लड़कियाँ 'होमोसेक्सुएलिटी' या 'लेस्बियनिज़्म' का नाम दिया करती थीं, श्यामली के लिए ये उसका पहला और आखिरी तजुर्बा रहा।

और उसके बाद ज़िन्दगी के हर मोड़ पर जुबाँ पर बदलते स्वाद की तरह श्यामली बॉयफ्रेंड्स बदलने लगी। अमेरिका पढ़ने गयी तो, लन्दन में काम करती रही तो, मुम्बई लौटी तो और फिर दिल्ली को अपना ठिकाना बना लिया तो-हर बार एक नया साथी, एक नये जिस्म को सिरे से पहचानने की नयी ख्वाहिश। रोमिल उसकी ज़िन्दगी का आखिरी

पड़ाव था तो सही, लेकिन मोहब्बत से ज़्यादा अड़तीस साल की उम्र में ठहर जाने की मजबूरी की वजह से।

“तुमने शादी की, श्यामली?” स्वाति ने पूछा।

“की नहीं, बस हो गयी। रोमिल ही लेकर आया है मुझे यहाँ। श्यामली ने जवाब तो दे दिया, लेकिन स्वाति से अपने पति की मुलाक़ात कराने की कोई उत्सुकता ज़ाहिर नहीं की।

स्वाति फिर भी कह बैठी, “मिला तो दो मुझे उनसे। देखूँ तो कि जिसने तुम्हें बाँधा, वो स्नेह का धागा आख़िर दिखता कैसा है।”

श्यामली हँस दी। उसकी बेतरतीब यादों में कई सारे चेहरे घूम गये। कहना चाहती थी कि सवाल जिस्म का होता ही नहीं, बात तो मन की होती है। रिश्तों के धागे जब न मन को बाँधें और न जिस्म को तो फिर उनका होना न होना ही क्या। और फिर ये जिस्म भी अजीब शै है। किसी अजनबी की रत्ती-भर छुअन से सोने-सा निखर जाता है और किसी अपने के छूते ही मिट्टी का ढेला बन जाता है। लेकिन उसकी बात हलक में ही अटककर रह गयी।

“प्यार का रंग पानी-सा होता है श्यामली। उतना ही साफ़ कि उसमें झाँको तो अपनी परछाईं दिखे। जो रंग घोलो, बस उसी रंग का हो जाये,” स्वाति ने कहा और श्यामली उसकी गर्दन, कान, नाक और कलाइयों में दमकते सोने को देखती रही।

“तेरे प्यार का रंग सोना है, नहीं?” श्यामली ने स्वाति को चिढ़ा दिया तो स्वाति ने कहा, “और तेरे प्यार का रंग स्वरोस्की।”

लेकिन प्यार तो वाक़ई दोनों का पानी ही था-एक का गहरे नीले-हरे समन्दर के रंग से होकर गुज़रता हुआ, तो दूसरे का स्मृतियों से हामिला काले बादलों से रह-रहकर बरसता हुआ।

स्वाति दर्शन कर चुकी थी और उसी रात अपने पति और बच्चों के साथ हैदराबाद वापस लौट रही थी। श्यामली का तिरुपति में आज पहला ही दिन था।

दोनों की दुनिया के फ़ासले बड़े थे, इतने बड़े कि स्वाति की सहजता और माफ़ी माँगने की श्यामली की मंशा के बावजूद इन दूरियों को पाटना मुश्किल था। रोमिल और स्वाति के पति ने एक-दूसरे को हाथ मिलाकर औपचारिक-सा हैलोनूमा अलविदा कहा और बच्चों ने श्यामली मौसी को नमस्ते करते हुए उनसे जल्दी हैदराबाद आने का वायदा लेने की औपचारिकता पूरी की। लेकिन स्वाति ने वो कर दिया जिसकी न उम्मीद थी श्यामली को, और न चाहत। जाते-जाते श्यामली के गाल पर एक निश्छल-सा बोसा रख गयी थी स्वाति-उसके बायें गाल पर, ठीक उसके होंठों के कोरों से एक इंच ऊपर।

स्वाति की बस निकल गयी और श्यामली उम्मीदवार भक्तों और दर्शनार्थियों की भीड़ में पीछे छूट गयी-रोमिल के साथ।

जल नहीं चढ़ाते बालाजी को, वरना आज श्यामली ज़रूर उस जल में स्वाति के प्यार का रंग घोलकर देखती कि आखिर उस प्यार का हासिल क्या निकलता है जिसे कोई नाम भी दे पाना मुश्किल है। लेकिन वो पानी श्यामली की आँखों से बरसकर उसकी अपनी ही लम्बी-सुडौल गर्दन में कहीं जा समाया था।

अब स्वाति प्रकाश को कभी नहीं ढूँढ़ेगी श्यामली।

नवरात्र पूजा

-दुष्यन्त

दिन उगे ज़्यादा समय नहीं हुआ है पर गाँव की दिनचर्या तो मुँह अँधेरे ही शुरू हो जाती है। काकी गोबर लीप रही थी, नवरात्र शुरू होने पर हर साल काकी का पहला काम यही होता है, एक दिन पहले से नवरात्र की सारी तैयारी, चार घरों से अगले दिन के लिए गोबर माँगने से शुरू होती है। पूरे परिवार के लोग काकी की इस आदत और प्रक्रिया से परिचित हैं और उन्हें यह भी मालूम है कि इस वक़्त काकी को छेड़ना या टोकना बस मधुमक्खी के छत्ते में हाथ देना ही है।

काकी की उम्र तक्ररीबन पैंतीस साल है, बड़ी बेटी राधकी ब्याहने की उम्र की हो चुकी है, वो इस वक़्त घर पर नहीं है, बेटा श्यामूड़ा आठवीं पास करके अब खेत जाने लगा है, इस समय तक ऊँट गाड़ी लेकर जा चुका है, छोटी बेटी भूरकी पाँचवीं में है।

“माऊ! आज मैं स्कूल नहीं जाऊँगी,” भूरकी बोली।

“क्यों नहीं जायेगी, रोज़ क्या बीमारी पड़ जाती है तुझे, कोई-न-कोई बहाना चाहिए राँड को स्कूल न जाने का”, काकी ने गोबर लीपते-लीपते आँखें तरेरते हुए कहा।

“पेट दुख रहा है माऊ”, भूरकी रुआँसी होती हुई कहने लगी।

“दुख है पेट (दुख रहा है पेट)! बहानेबाज, उल्टो-सीधो खा लियो होसी की (उल्टा-सीधा खा लिया होगा कुछ), सौँफ़ की फाकी ले ले और स्कूल भाग जा नहीं तो दो ढूँगी कान के नीचे”, काकी का जवाब था।

भूरकी एक कोने में बैठी रोती रही।

काकी बड़बड़ाती रही।

“त्यौँहार खराब करणो है अण तो (त्योहार खराब करना है इसको तो), दीसै कोनी घर लीपूँ (दिखता नहीं घर लीप रही हूँ), कित्ते काम करने हैं, इंगो बाप तो घर कानीं देखै कोनी (इसका बाप तो घर की सुध लेता नहीं), तीज-त्यौँहार सब एक से हैं उसके लिए।” कहते हुए घर लीपने की प्रक्रिया को जल्दी से निपटाने के लिए जल्दी-जल्दी हाथ चलाने लगी।

घर लीपकर माँडणे माँडने के लिए तैयारी करती काकी मन में माता को सिंवर रही थी। तभी राधकी तपड़-तपड़ करते क़दमों से घर में दाखिल हुई, काकी को लगा धरम के काम में विघन डाल रही है, तपड़-तपड़ ने उसका ध्यान भंग कर दिया था।

“राधकी, इधर आ”

“हाँ, माऊ!”

“कहाँ डो-डो करती फिर रही थी”

“खेल रही थी।”

“खेल रही थी! महीने के दिन शुरू नहीं हुए क्या आज भी? कल तेरे को अजवायन का सीरा खिलाया था, उसका भी असर नहीं हुआ क्या? सात दिन हो गये न ऊपर!”

“हाँ माऊ, आज ई कोनी होयो (आज भी नहीं हुआ), बढ़िया है नीं तो जे नीं होयो तो। (बढ़िया है न, नहीं हुआ तो)” मुँह बनाते हुए उसने उस पीड़ा और आफ़त के न होने की खुशी को ज़ाहिर किया।

“राँड, बढ़िया क्या सिर है, मुझे तो रमाण (समस्या) हो गयी लगती है, बता, साची बता?”

“क्या बताऊँ, माऊ?”

“तू कोनी बतावै (तू नहीं बतायेगी), चल डाक्टरनी के पास, माँडणे माँड लिए, हाथ धोकर आती हूँ।” कहकर उठ गयी काकी और पलिंडे की ओर के पास पड़ी बाल्टी में से लोटा भरकर उठाया और हाथ धोने लगी। माँडणे के कुछ रंग लोटे पर अंकित हो गये। हाथ धोकर गीले हाथों से ही फटाफट राधकी की चोटी पकड़ी-

“चल, राधकी, तेरी बीमारी का इलाज करवाती हूँ पहले तो, पहले तू ही माता मेरी, नोरात (नवरात्र) तो बाद में पूजूँगी चाल।”

तेज़ क़दमों से चलकर गाँव के प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र तक पहुँची-माँ-बेटी। लगभग खाली-सा ही भभके मार रहा था स्वास्थ्य केन्द्र।

बाहर दक्षिण भारतीय-सी दिखने वाली नर्स बैठी थी बरामदे में, माँ-बेटी को देखकर उसका चेहरा ऐसे बना था जैसे उसके आराम में खलल डाल दी हो किसी ने, या जैसे वो अभी-अभी आकर बैठी हो और काम का मूड बना ही नहीं हो, उसने अपनी टेबल पर रखे टेबल जितने ही बड़े रजिस्टर में नाम लिखने के लिए कहा-“नाम बोलो पेशेंट का, तुमको दिखाना है या तुमको?” एक नज़र फटाफट दोनों माँ-बेटी को देखते हुए पूछा।

“राधा, इसको दिखाणा है,” काकी ने कहा।

“इसकी उम्र, बाप का नाम?”

“17 साल, हीरालाल।”

“जाओ, डॉक्टर मैम अन्दर बैठी हैं, फ्री हैं”, कहते हुए नर्स ने कहते हुए एक पर्ची थमा दी।”

उसको बिना कुछ कहे काकी अन्दर के कमरे में दाखिल हो गयी।

“नमस्ते डाक्टरनी जी”, काकी ने घुसते ही कहा।

“हाँ कैसे आयीं माँ-बेटी, क्या तकलीफ़ है?”

“डाक्टरनी जी, छोरी का महीना नहीं आया, सात दिन ऊपर हो गये, मुझे तो फिकर हो रही है।”

“हूँह, चार-पाँच दिन तो लेट हो ही जाता है।”

“नहीं, मेडम जी, सात दिन हो गये, आज आठवाँ दिन है, अब तक कोई हॉ न नहीं है।”

“देखती हूँ, चल लड़की”, डॉक्टर ने राधकी को उठकर दूसरे कमरे में चलने का इशारा किया।

लेडी डॉक्टर ने यूरिन से प्रेग्नेंसी टेस्ट के बाद लौटते हुए कहा-

“लड़की पेट से है”

“क्या!” जैसे ज़मीन खिसक गयी काकी के पाँव के नीचे से।

“हाँ!”

“डॉक्टरनी जी, ग़रीब की कुंवारी बेटी पेट से! मर जाऊँगी मैं जीते जी, किसी को मुँह भी कैसे दिखाऊँगी, ढंग से चैक तो करो न मैडम जी।”

“हाँ, कर लिया, मैं किसी को नहीं बताऊँगी, बेफिकर रहो।”

काकी ने अजीब-सी निगाह से राधकी की ओर देखा और तेज़ क़दमों से घर की ओर चल दी, यह कहते हुए-

“चल, घर फटाफट!”

500 मीटर की दूरी मानो कुछ ही पलों में तय कर ली दोनों ने, बिना कुछ बोले। यह किसी तूफ़ान से पहले की शान्ति-सी थी शायद। लगता हुआ चैत्र का महीना, धूप सिर चढ़ आयी थी, गर्मी ऐसी की जेठ को भी भुला दे। भूरकी स्कूल जा चुकी थी। घर में बस दो जीव-माँ और बेटी। घर पहुँचते ही काकी के सब्र का रुका हुआ बाँध जैसे एक झटके से टूट गया-

“मरी कोनी तू राँड मूँडो कालो करा दियो। (मरी नहीं तू राँड, काला मुँह करवा दिया), म्हारो बी आपगै सागै (मेरा भी अपने साथ), तेरै बाप नै के जवाब देस्युँ (तेरे बाप को क्या जवाब दूँगी)?”

राधकी चुप थी।

“कींगो है तेरै पेट मं (किसका है ये तेरे पेट में)!”

राधकी फिर चुप।

“बोल तो जा मरज्याणी!”

राधकी से कुछ बोलते न बना वो हिचकिचा रही थी। वो बड़ी तेज़ी से दायें-बायें तो कभी ज़मीन की ओर देखने लगी।

काकी ने उसे पकड़कर दोनों हाथों से खींचना शुरू कर दिया और साथ-साथ खुद रोना भी।

“अब बता नहीं तो ज्यान से मार दूँगी।”

“विजय”, राधकी ने कहा

“कौन विजय!” काकी ने उसी तीव्रता से रोते हुए पूछा।

“गाँव के चौधरी का बेटा, मुझसे ब्याह करना चाहता है।”

“ब्याव करेगा तेरे से, भूल जा।”

“नहीं माऊ, प्यार करता है मेरे से बहोत।”

“प्यार, ब्याह, बावली है छोरी तू जाबक ही, छोटी जात की छोरी से ब्याव करेगा, गाँव के चौधरी का बेटा, मुँह देखा है अपना, जा बट्टल में पानी डालकर देखके आ?” उसका मुँह पकड़कर गुस्से में धक्का दे दिया। काकी अभी भी रोये जा रही थी, धक्का खाकर राधकी फिर काकी के सामने आ खड़ी हुई-

“साची कह रही हूँ, माऊ, उसने कहा है वो ब्याव करेगा मुझसे”, राधकी रोने लगी थी अब तक।

“तेरी उमर जानती है! मेरी उमर पता है! तेरे से ज़्यादा जानती हूँ, इस दुनिया को।”

“नहीं माऊ, वो ऐसा नहीं है”, राधकी उसी तरह सुबकते-सुबकते बोली।

कुछ देर दोनों के बीच सन्नाटा पसर गया।

काकी रोने लगी। राधकी भी रोने लगी, माँ को रोता देखकर। काकी ने आगे बढ़कर राधकी को बाँहों में भर लिया और माँ-बेटी सुबक-सुबककर रोती रहीं।

काकी का सिर दुखने लगा, राधा से बोली-“जा राँड एक गिलास पाणी दे।”

और राधा ने पलींडे से स्टील के गिलास में पानी ला के दिया, काकी ने अपने कुड़तिए की जेब से एक गाँठ निकाली, खोली, एक पैरासिटामोल की टिकड़ी ली, आँख लग गयी।

राधा भी चुप-सी पास बैठी रही।

थोड़ी देर बाद राधा चुपके से खड़ी हुई और घर से चल दी।

गर्मी की दोपहर थी, लगभग सारा गाँव सो रहा था, केवल दो लोग जाग रहे थे, एक लड़का, एक लड़की। कुछ बच्चे गाँव के पुराने पीपल पर कुरांडंडा खेल रहे थे। उस दोपहर लड़के के घर कोई नहीं था, माँ एक दिन के लिए अपने भाई से मिलने गयी थी और पिता सुबह से खेत में ही थे। बोल के गये थे, बीजान्त का काम ज़्यादा है, शाम को ही लौटेंगे। नहरी इलाक़े की उनींदी-सी दोपहर पसीने से भर गयी थी, कूलर चल रहा था, फिर भी। लड़के ने कहा, मेरा तो पहली बार था, डर भी था, एक्साइटमेंट भी। लड़की ने कहा कि लगा तो नहीं कि पहला है, खैर, मान लेती हूँ। मेरा जो मानो, मान लो।

लड़की को लगा था कि उसके जिस्म का पोर-पोर दुख रहा है, पर पहली बार दर्द-दर्द ही नहीं था सिर्फ, उसे लग रहा था कि उसकी देह खि ल-सी गयी है। एक नयी छुअन उसके जीवन में दाखिल हुई थी और उसके पूरे शरीर में तरंग बनकर फैल गयी थी, एक लहर जिसने उसे अपने वजूद और देह के नये अर्थ दे दिये थे-अनजाने, अभोगे अर्थ, खूबसूरत अर्थ, ज़िन्दगी के नये मायने, रंगनिरपेक्ष जीवन के कई साल गुज़ारने के बाद कई रंग जैसे एक साथ उसने महसूस किये थे, कुदरत ने उसे कलर पैलेट आज ही उपहार में दी हो जैसे। इतने क़रीबी और नये स्पर्श से उसकी नाक ने जो नया अनुभव किया, उसकी तीव्रता और सघनता उसे देर तक लुभाती रही।

लड़की उठ के गुसलखाने की तरफ़ बढ़ी तो लगा जैसे पाँव हैं ही नहीं, लड़के ने भी लड़खड़ाते हुए उठकर लड़की का हाथ पकड़ा। लड़की गले लग गयी। लड़के ने चूम लिया। अब लड़की को लग रहा था कि वह बिना पाँव आसमान में चल रही है। उसे अपने कन्धों पर सुनहरी पंख उगे हुए महसूस हो रहे थे, सैकड़ों रंग-बिरंगी तितलियाँ उसके साथ उड़ रही हैं, एक बेहद खूबसूरत इन्द्रधनुष उसके कानों को छू रहा है।

राधकी को बादलों पर भरी वह उड़ान कभी नहीं भूलती।

ठीक पौने घण्टे बाद आयी तो राधा वो थी ही नहीं, जो पहले थी।

काकी ने पूछा, “अब कठै मरगी ही राँड (कहाँ मर गयी थी)”

राधा बोली-“बींगो हिसाब तो मुका दियो। (उसका हिसाब तो निपटा दिया।)”

“अब के करियाई तू?” काकी ने आँखें फाड़ के पूछा। आँखों की गोलाई और विस्तार देखने लायक था।

“बीनै पूछयो मेरहूँ ब्या कर सी के। जे हाँ बोले तो चाल मेरै सांगै अबी माउ कनै। (उससे पूछा कि मुझसे शादी करेगा, अगर हाँ तो अभी चल मेरी माँ के पास मेरे साथ।)”

“फेर (फिर)”?

“घाउंघुच्ची खाण लाग ग्यो, कनै दाती पड़ी, घाल दी, पेट मं सालै गै। बठै ई प्राण निसरग्या। (पास में दाती पडी थी, पेट में डाल दी, वहीं प्राण निकल गये साले के।)”

काकी ने लम्बी साँस ली, राधा चुप हो गयी।

शाम हुई तो दरवाज़े पर एक जीप के रुकने की आवाज़ से माँ-बेटी दोनों चौंकीं।

राधकी ने कहा, “माँ पुलिस!”

माँ ने राधकी से कहा, “मैं देखती हूँ, तू अन्दर जा।”

काकी दरवाज़े की ओर लपकी।

ओपन हुड की जीप थी, सफ़ेद कुर्ते-पाजामे में लम्बा, पतला-सा एक आदमी ड्राइवर सीट से उतरा, साफ़ा झाड़ते हुए, मुँह की धूल पोंछते हुए।

“राम-राम जी, मैं विजय का बाप हूँ जी। मण्डी गया था, सुबह। निकलते टाइम विजय कह रहा था कि पापा मुझे राधा से ब्याव करणा है। मैं जल्दी में बिना कुछ कहे, अनसुना करके चला गया कि शाम को बात करेंगे। अब रास्ते में आपका घर पड़ा तो सोचा कि दोनों टाबर राजी हैं, आपसे और राधा के बापू से बात करके ही विजय से खुशखबरी के साथ ही बात कर लूँ।” मुस्कराकर घनी मूँछों पर हाथ फेरते हुए आदमी ने कहा।

राधकी दरवाज़े की ओट से चिपककर सुन रही थी।

विजय के पिता की बात सुनकर माँ और बेटी दोनों की ही देह सुन्न हो गयी।

